राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
जे. के. बंसल R.A.S.
(निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर)

ग्रन्थांक 193

पण्डित मधुसूदन ओझा की सारस्वत साधना
भाग 2

सम्पादक
डॉ. फतहसिंह
डॉ. गोविन्दराम चरौरा

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1999

प्रथमावृत्ति – 500 मूल्य : रु. 110.00

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
जे. के. बंसल R.A.S.
[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थांक 193

पण्डित मधुसूदन ओझा की सारस्वत साधना
भाग-२

सम्पादक
डॉ. फ़तहसिंह
डॉ. गोविन्दराम चरौरा

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1999

मूल्य - 110.00

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित
सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थानप्रदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्टग्रन्थावली

सम्पादन मण्डल
डॉ. फतहसिंह
डॉ. गोविन्दराम चरौरा

ग्रन्थाङ्क 193

पण्डित मधुसूदन ओझा की सारस्वत साधना
भाग—२

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

© प्रकाशक

प्रथमावृत्ति—500

मूल्य - 110.00

अनुक्रमणिका

निदेशक

विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा वेदों में विज्ञानवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। यद्यपि उन्होंने कोई स्वतन्त्र भाष्य नहीं लिखा फिर भी ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध परिभाषाओं के तात्पर्य को स्पष्ट करने हेतु उन्होंने जो सामग्री जुटा कर ग्रन्थों की रचना की वह भावी वेदभाष्य के लिए अत्यन्त उपादेय है। उनके द्वारा रचित 200 से अधिक ग्रन्थों एवं उनकी सारस्वत साधना को दृष्टिगत रखते हुये सन् 1989-90 व 1990-91 में दो राष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन जोधपुर मुख्यालय में किया गया था। उक्त संगोष्ठियों में पठित आलेखों का प्रकाशन दो भागों में किया गया है।

पण्डित मधुसूदन ओझा की सारस्वत साधना शीर्षकान्तर्गत प्रकाशित प्रथम खण्ड में पं. ओझा के जीवन एवम् वेदविज्ञानवाद पर आलेखों की प्रस्तुति है।

प्रस्तुत द्वितीय खण्डान्तर्गत ओझाप्रणीत अत्रिख्याति, वर्णसमीक्षा, पितृसमीक्षा, इन्द्रविजय, अहोरात्रवाद, संशयतदुच्छेदवाद, एवम् सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानम् जैसी दुरुह रचनाओं पर स्वतन्त्र एवं शोधपरक चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

विभाग की यह योजना थी कि पं. ओझा की दुर्लभ हुई प्रकाशित एवं अप्रकाशित रचनाओं को इन चिन्तनपरक लेखों के साथ पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित करें। चूंकि मूल ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य को सम्पन्न करने हेतु जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय में राज्य सरकार ने पं. मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ को विशेष रूप से स्थापित किया है। अतएव मूल ग्रन्थों के मुद्रण के विचार को त्याग कर उनसे संबंधित इन चिन्तनपरक लेखों को प्रकाशित कर ही हमें सन्तोष करना पड़ रहा है।

जे. के. बंसल
निदेशक

पण्डित मधुसूदन ओझा की सारस्वत साधना

सम्पादकीय

इस लेख संग्रह में जिस महान् विभूति की सारस्वत साधना को उजागर किया गया है वे प्रातः स्मरणीय पं. मधुसूदन ओझाजी वैदिक विद्वानों के लिए विशेष रूप से वन्दनीय हैं। यद्यपि उन्होंने कोई ग्रन्थ वेद भाष्य नाम से नहीं लिखा; परन्तु उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध परिभाषाओं के तात्पर्य को उद्घाटित करने के लिए वेदमंत्रों से जो प्रचुर सामग्री जुटाई वह भावी वेदभाष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वास्तव में शताब्दियों से वेद विज्ञान का जो भण्डार सर्वथा उपेक्षित पड़ा था उसकी ओर ध्यान दिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य ओझाजी ने किया। इस दृष्टि से उनका कार्य अद्भुत और अद्वितीय है।

वेद विज्ञान — ओझा जी जिस वेद विज्ञान की चर्चा अपने ग्रन्थों में करते हैं उसको सुनने का सर्वप्रथम सौभाग्य मुझे 1933-34 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राप्त हुआ। इस समय मैं B.A. का छात्र था। अतः काशी के पण्डितों की एक विशाल सभा को सम्बोधित करते हुए ओझाजी महाराज ने जो विद्वतापूर्ण भाषण संस्कृत में दिया उसको पूरी तरह समझने में मैं असमर्थ था। फिर भी उनके भाषण का विषय विज्ञानविद्युत मुझे अभी तक याद है, क्योंकि उसी विषय पर बाद में उनका एक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ जिसकी समीक्षा इस लेख संग्रह में श्री भल्लूराम खीचड़ ने अपने लेख में प्रस्तुत की है। ओझा महोदय की कुल मिलाकर 228 कृतियाँ बताई जाती हैं, जिन्हें प्रायः विषय की दृष्टि से ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, पुराण समीक्षा और वेदाङ्ग-समीक्षा में विभक्त किया जाता है। विज्ञान-विद्युत की मीमांसा को निर्विशेष ब्रह्म, परात्पर, पुरुष एवं पुर में विभक्त करके एक ही ब्राह्मी शक्ति की चतुर्धा अभिव्यक्ति का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी सन्दर्भ में सदसद्वाद, अहोरात्रवाद आदि दशवादों की चर्चा वेद वाङ्मय में यत्र तत्र प्राप्त होती है। ओझाजी ने इन वादों पर अलग-अलग भी ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु इन सबका समावेश करके कई ग्रन्थों में इन वादों के विवादों का समाधान भी प्रस्तुत किया है।

इस प्रसंग में उनका एक ग्रन्थ संशयतदुच्छेदवाद प्रमुख है। इसकी समीक्षा प्रस्तुत लेख संग्रह में डेक्कन कॉलेज पूना के डॉ. हुकमचन्द पटियाल ने अपने लेख में की है। संशयतदुच्छेदवाद में पंडित मधुसूदन जी ने ब्रह्मविज्ञान सम्बन्धी संशयों का उच्छेदन करने के लिए ग्रन्थ को दश भागों में विभक्त करके उन्हें दस उपनिषदों के रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही प्रत्येक उपनिषद् को, विषय के दृष्टिभेद से, दो-दो नाम दिये हैं। जैसे कि प्रथम को मूलोपनिषद् कहकर उसका अपरनाम ब्रह्मकर्मोपनिषद् यह संकेत देने के लिए दिया है कि समस्त नामरूपात्मक सृष्टि वस्तुतः ब्राह्मी शक्ति का कर्म है, जिसकी 'समाधि' अन्ततोगत्वा निर्विशेष ब्रह्म में होती रहती है। ब्रह्म-विज्ञान का यही मूल

विषय है। इसीलिए इसी को मूलोपनिषद् भी कहा गया है। इसी द्विनामा उपनिषद् के द्वारा मिथ्योपनिषद् अपरनाम सर्वसत्योपनिषद् के इस निष्कर्ष को भी दिशा मिल गई कि दृष्टिभेद से प्रचलित 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के बीच दिखाई पड़ने वाले विवाद को संवाद में परिणत किया जा सकता है। इसी तरह, कृष्णोपनिषद् अपरनाम त्रिसत्योपनिषद् में जहां एक ओर, शुक्ल एवं कृष्ण की द्वैताभासी एकात्मता दर्शाई गई है वहीं सत् चित् तथा आनन्द में आभासित त्रैत को सच्चिदानन्दघन के एकात्मभाव में भी प्रतिष्ठित दिखाया गया है।

वैदिक परिभाषाओं का महत्त्व — इसी प्रकार, सामञ्जस्यवादी शैली का प्रयोग करके ओझाजी ने, न केवल उक्त ग्रन्थ की स्वकल्पित उपनिषद् नामों के द्वारा, अपितु अन्यत्र भी वेद का जो विज्ञान उद्घाटित किया है उसका मुख्य आधार वे वैदिक परिभाषाएं हैं जो उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों में ढूंढ निकाली हैं। इन परिभाषाओं से अनभिज्ञ विद्वान् प्राय: उनकी आलोचना करते हुए उन पर मनमानी व्याख्या करने का आरोप लगाते हैं। इस विषय में ओझाजी ने स्वयं अपने ब्रह्मसिद्धान्त नामक ग्रन्थ में लिखा है "इस ग्रन्थ में जो परिभाषाएँ बताई गई हैं और तदनुसार जो सिद्धान्त दिखाये गये हैं उन्हें जो लोग ध्यानपूर्वक जान लेंगे उन्हें वेद मंत्रों का तात्त्विक अर्थ स्वयं भाषित हो जायेगा। ये सभी परिभाषाएँ मेरे द्वारा गढी हुई नहीं हैं अपितु ब्राह्मण ग्रन्थों से गहरे मनोयोग के साथ खोजी गई हैं।" (ब्र.सि. 1-17-19)। इन परिभाषाओं को वेदवाङ्मय में किन्हीं प्रतीकों से भी जोड़ा गया था, परन्तु कालान्तर में इस तथ्य को भुला दिये जाने से पारिभाषिक अर्थ भी न केवल विस्मृत हुआ अपितु उस कारण से प्रतीकों के अर्थ का भी अनर्थ होता रहा। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त कृष्णोपनिषद् अपरनाम त्रिसत्योपनिषद् के कृष्ण शब्द को लेते हैं जिसे 'त्रिसत्य' का समानार्थक सा बता दिया गया है। इसका मूल ब्राह्मण ग्रन्थों में है। वहां श्वेत और कृष्ण एक ही सूर्य के दो पक्ष (मैत्रायणी संहिता 3/13/2) माने गये हैं,परन्तु श्वेत कृष्ण के द्वन्द्वातीत सूर्य ब्रह्म को 'कृष्णाजिन' नाम दिया गया है - ब्रह्म कृष्णाजिनम् (तैत्ति. सं. 5/1/10/5) और इस द्वन्द्वातीत कृष्णाजिन को 'सुकृतस्य योनि:' (मा.श. 6/4/2/6) में कहा गया अथवा उसे ही अग्नि का 'स्वलोक' (मा.श 6/4/2/6) और बभ्रुवर्ण कहकर (तै.स. 5/4/4/4) ब्रह्म स्वरूप माना गया है। इस प्रकार श्वेत, कृष्ण तथा बभ्रुवर्ण पूर्वोक्त सत्,चित्, आनन्द के समान त्रिसत्य कृष्ण हो गये हैं। और इन्हीं तीनों ने कृष्णाजिन को भी वेदत्रयी का प्रतीक बना दिया है - यानि शुक्लानि तानि साम्नां, यानि कृष्णानि तानि ऋचां, यानि बभ्रूणि हरीणि तानि यजुषां (जैमि.ब्रा.2/66)। इसका परिणाम यह हुआ कि जब वेदत्रयी को यज्ञ (मा.श. 1/1/4/3) माना गया, तो कृष्णाजिन का भी यज्ञ के साथ समीकरण हो गया (तै.सं. 5/1/4/2)। जब 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' की घोषणा हुई और उसके अनुसार श्रेष्ठतम आचरण ही यज्ञ हो गया, तो यज्ञ को कृष्णाजिन ही नहीं, अपितु कृष्णमृग भी (मा.श. 3/2/1/14) कहा जाने लगा और उस कृष्णमृग को जिस पृथ्वी पर विचरण करता हुआ बताया गया उसका प्रतीक वस्तुत: मनुष्य व्यक्तित्व बन गया जहाँ धर्म उस कृष्णमृग का अनुचर माना गया है। — स कृष्णमृगोऽभवत्. . . . .तमनुधर्मश्चचार (लुप्तब्राह्मणोद्धार 113)।

परिभाषाओं की दुरूह खोज

ब्राह्मण ग्रंथों के इन समीकरणों का स्रोत वेद-मंत्रों में खोजना कितना कठिन है उसकी एक झलक ऋ. 1.140 में देख सकते हैं। इस सूक्त का प्रारंभ वेदि स्थित आंतरिक यज्ञाग्नि के उल्लेख से होता है जिसका आच्छादन 'मन्मन' नामक अंतर्मुखी एवं बहिर्मुखी मानसिक चेतना-प्रवाह से होता है। इस द्विविध चेतना-प्रवाह के संबन्ध से ही मंत्र 2 में यज्ञ को 'द्विजन्मा' कहा गया और उसे जन्म देने वाले उक्त द्विविध चेतना-प्रवाह को दो जिह्वाओं के रूप में कल्पित किया गया और इस प्रकार जन्मने वाले यज्ञ रूप वत्स के संबन्ध से चेतनारूप अग्नि को उसका संवत्सर (वत्स से युक्त) पिता माना गया है। इसी संदर्भ में, ब्राह्मण-ग्रन्थ अग्नि को संवत्सर कहते हैं — अग्निः संवत्सरः तां. 17.13.17;तै. 1.4.10.1)। यही संवत्सर अग्नि मनुष्य देह के पञ्चभूतात्मक प्राणों के साथ उत्सर्पण और अवसर्पण करता है — अयं संवत्सरः सर्वेषां भूतानाम् प्राणैरप प्रसर्पति उत्सर्पति च (तै आ. 1.14.8) आंतरिक अव्यक्त चेतना प्रवाह रूप अग्नि की पूर्वोक्त दो जिह्वायें इसी दृष्टि से मानी गई हैं। मंत्र 3 में उक्त अग्नि को कृष्ण नाम देकर उसकी दोनों जिह्वाओं (चेतना-प्रवाहों) को 'कृष्णपुत्रौ' कहकर यज्ञ रूप पुत्र के 'मातरौ' रूप में कल्पित किया गया। मंत्र 4 में कृष्ण नामक अग्नि उक्त द्विविध 'असमना' चेतना प्रवाहों को अनेकशः विभक्त शीघ्रगामी किरणों को कृष्णसीतासः कहा गया है जो सभी उस अव्यक्त पुरुष रूप मनु के लिये सक्रिय हैं जो 'मानव' (मनु का व्यक्त स्वरूप) ग्रहण करने का इच्छुक है। मनु का यह मानव स्वरूप ही पूर्वोक्त अव्यक्त कृष्णाग्नि को 'कृष्णं अभ्वम्' रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ अव्यक्त कृष्ण (आभु) को 'कृष्ण अभ्व' रूप देने वाले जिन 'कृष्णसीतासः' का उल्लेख है उनकी पृष्ठ-भूमि में कृषि कर्म पर आधारित एक सुनियोजित रूपक खड़ा है जिसे हम ऋग्वेद और अथर्ववेद के सूक्तों में सुविकसित होता हुआ पाते हैं। वहाँ कृषि कर्म करने वालों के लिये 'कवयः, धीराः जैसे निघण्टु के 'मेधानामानि' में पठित नाम प्रयुक्त हुये हैं (अ.वे. 3.17) और कृषि से उपजने वाली 'मधुमान् उर्मि' न केवल औषधियों को अपितु आपः 'द्यावः' पृथिवी और अंतरिक्ष को भी मधुमान बना सकती है (ऋ. 4.57,2-3) तथा वही मधुश्च्युतं घृतम्' के समान 'पयः' देने वाली गाय के रूप में कल्पित हुई है। ऋ. 4.57 की उक्त मधुमान् ऊर्मि निस्संदेह वही रहस्यमयी 'मधुमान ऊर्मि' है जो अगले सूक्त (ऋ. 54.58) में 'हृद्य-समुद्र' से उठने वाली (वही, 5-6) तथा मनसा पूयमानाः सरिताओं के रूप में प्रकट होती है जिनके मध्यवर्ती 'हिरण्ययो वेतसः' को मनुष्य का अन्तस्तम हिरण्मय कोश माना जा सकता है। इस संदर्भ में, जिस उत्तरोत्तर दुही जा सकने वाली पयस्वती सीता का उल्लेख है (ऋ. 4.57.7) उसको इसी अन्तस्तम स्तर की चेतना मानना पड़ेगा, क्योंकि उस 'सुभगा' सीता से प्रार्थना की जाती है कि वही 'अर्वाची' हो जाय (वही, 6) क्योंकि तभी उसे यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म) में धारण करना संभव हो सकता है। इसी दृष्टि से कृष्णमृग रूप में कल्पित यज्ञाग्नि की जिह्वाओं (लपटों) को पूर्वोक्त 'कृष्णसीतासः' नाम दिया जा सकता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये "कृष्णसीतासः" उस द्वन्द्वातीत आन्तरिक कृष्णाग्नि से उद्‌भूत होने वाली वे लपटें हैं जो व्यक्त स्तर पर प्रकट होती हैं। अतएव उपर्युक्त अव्यक्त कृष्णाग्नि को उस अव्यक्त कृष्ण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है जिसका निर्वचन महाभारत में इस प्रकार किया गया है — कृषिर्भूवाचको शब्दः नश्च निवृत्तिवाचकः। तदनुसार यह अव्यक्त कृष्ण मानव चेतना के उस आन्तरिक स्तर का बोधक है जहाँ पूर्वोक्त उत्कर्षणापकर्षणात्मक कृषि कर्म का निवारण हो जाता है। इसके विपरीत अथर्ववेद 10.5 में वर्णित जिष्णुयोग के प्रसंग में कृषि की जो भूमिका वर्णित है वह विशेषतः महत्वपूर्ण है। महाभारत में कृषि को जब भू वाचक बताया गया तो इससे अस्ति-भवति अथवा उत्कर्षण और अपकर्षण रूप द्वन्द्वात्मक कर्म की विशिष्टता वाला कृषिकर्म अभिप्रेत है। अथर्ववेद में इसी कृषि शब्द को, एक अद्‌भुत, "सपत्नहाविष्णुक्रम से जोड़ने के लिए, एक ही मन्त्र में तीन बार उल्लिखित किया गया है, मन्त्र इस प्रकार है —

विष्णोः क्रमोऽसिसपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः।
कृषिमनु विक्रमेऽहम् कृष्यास्तं निर्जगामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥

यह मन्त्र जिस अथर्ववेदीय सूक्त से उद्धृत है उसके सम्पूर्ण (50) मन्त्रों में जिष्णु योग के विविध आयामों का वर्णन है। इस योग के उत्तरोत्तर विकास का नाम, विष्णुक्रम है। उपर्युक्त मन्त्र में इस विष्णुक्रम को जब 'कृषिसंशित' कहा गया तो उससे वही पूर्वोक्त उत्कर्षणापकर्षणात्मक कृषि अभिप्रेत है जिसे प्राणन तथा अपानन क्रिया कहा जा सकता है जो प्राणायाम का मुख्य अंग है। उपर्युक्त मन्त्र में साधक ऋषि "विक्रमण" करके समस्त कृषि कर्म (कृष्याः) से ही अपने शत्रु को इस सीमा तक बाहर निकाल देना चाहता है कि उसे प्राण ही छोड़ दें। सन्दर्भ को देखते हुए, यहाँ द्विविधकर्षण प्रक्रिया युक्त प्राणायाम को ही कृषि तथा उस पर आधारित विष्णुक्रम को उस कृषि से संशित (तीक्ष्णीकृत) योगाभ्यास के रूप में स्वीकार करना होगा। इसी के परिणामस्वरूप साधक के अन्नमय कोष को भी तेजस्वी हो जाने के कारण अन्नतेजाः कहा जा सकता है। इसी कृषि के आश्रय से वह जो विक्रमण करता है उसके द्वारा सम्पूर्ण कृषिकर्म (कृष्याः) उस अहंकार रूप शत्रु को निष्कासित किया जा सकता है "जिससे हम द्वेष करते हैं तथा जो हमसे द्वेष करता है।" पुराणों में जिस बलि को विष्णु भगवान् (वामनावतार में) पाताल भेज देते हैं वह यही हमारा अहंकार है। इस अहंकार के अस्तित्व में रहने से हमारा विष्णु नामक परमात्मतत्व 'वामन' बना रहता है, परन्तु उक्त कृषि साधना रूप योगाभ्यास द्वारा अन्ततोगत्वा वही विराट् रूप धारण करके जो विक्रमण करता है उससे वह त्रिलोकी को लांघकर विराट् हो जाता है, फलतः अहंकार रूप बलि का निष्कासन हो जाता है। विष्णु का त्रिलोकातीत परम धाम में स्थित होना ही उस कृष्ण की परिकल्पना को जन्म देता है जिसका निर्वचन महाभारत के पूर्वोक्त उद्धरण में दिया गया है।

भ्रान्तियों का कारण

यह केवल एक उदाहरण है जो संकेतित करता है कि ओझा जी द्वारा उद्घाटित वैदिक परिभाषाओं का आश्रय लेकर किस प्रकार 'इतिहासपुराण' में उनके उपबृंहण को समझा जा सकता है। परन्तु, इस शैली को अपनाने के लिये हमें कुछ पूर्वाग्रहों को त्यागना पड़ेगा। इन पूर्वाग्रहों में से कुछ के मूल में तो हमारी वह अंग्रेजियत-प्रधान मानसिक दासता है जिसे हम स्वतन्त्र भारत में भी नहीं छोड़ पाये हैं। तदनुसार, हम वेद-वाङ्मय को अंग्रेजी अनुवाद के अनुसार समझने के अभ्यस्त हैं। दूसरे प्रकार के दुराग्रह वे हैं जो, मूल वेदार्थ परम्परा के लुप्त होने से, वैदिक परिभाषाओं को उनके अभिधेयार्थ में ही समझने की प्रथा के कारण उत्पन्न हुए हैं। उदाहरण के लिये, इसी लेख संग्रह में प्रस्तुत उस आलोचना को लेते हैं जो 'प्राणाः वै ऋषयः' के आधार पर ऋषियों को प्राण मानने के लिये ओझा जी की विद्वत्ता पर अंगुली उठती है। विद्वान् आलोचक के अनुसार, प्राण शब्द तो श्वास (Breath) का वाचक है; अतः यह ऋषि शब्द का वाचक कैसे हो सकता है? "प्राणाः वै ऋषयः" के विषय में, उनका कहना है कि यह तो अर्थवाद मात्र है; इसके आधार पर प्राणों को ऋषि कैसे माना जा सकता है। यह आलोचना पूर्वोक्त दोनों प्रकार के दुराग्रहों के मूल पर आश्रित है। अंग्रेजी में प्राण शब्द का अनुवाद श्वासवाचक ब्रथ (Breath) ही होता है। इस तरह के अनुवाद का मुख्य कारण यह है कि स्वयं हम अपने देश में भी वैदिक परिभाषाओं के उस मर्म को विस्मृत कर चुके हैं जिसे ब्राह्मणग्रन्थ 'इति परोक्षेण परोक्षप्रिया हि देवाः' कहकर प्रकट करते थे। इसका तात्पर्य है कि वैदिक परिभाषाओं का जो अर्थ अभिप्रेत है वह उनके प्रत्यक्ष अभिधेयार्थ द्वारा उद्घाटित नहीं हो सकता, क्योंकि वह उनमें परोक्षरूपेण निहित रहता है। मूलतः इसी अभिव्यञ्जना-प्रणाली को 'अर्थवाद' कहा जाता था। यही प्रतीकवाद भी है, परन्तु कालान्तर में अर्थवाद का तात्पर्य हो गया झूठी प्रशंसा का मिथ्यावाद।

उक्त आलोचक महोदय के समान ही हमारे कट्टरपंथी साधुसंत, कथावाचक अथवा उनके अंधभक्त भी कुछ ऐसा ही मानते हैं। उनके सामने यदि किसी वैदिक या पौराणिक प्रतीकवाद की व्याख्या की जाय, तो उनकी आपत्ति होती है कि "हमारे इतिहास को नष्ट किया जा रहा है।" उदाहरणार्थ, 'गजवदन गणेश' की प्रतिमा को ले लीजिये। वेद में, 'गणानां त्वा गणपति हवामहे' (ऋ. 2.23.2; य. 2.10) कहकर जिस ब्रह्मण देव की उपासना की गई है वही वस्तुतः गणपति अथवा गणेश के रूप में प्रसिद्ध हो गया। वेद में जिन मरुतों के गण प्रसिद्ध हैं वे वस्तुतः हमारे वे वैद्युत किरणें हैं जिन्हें 'मरुतः रश्मयः' (तां. ब्रा. 24.12.6) कहकर याद किया जाता है। ये किरणों के रूप में हमारे भीतरी प्राण हैं; इसीलिये 'प्राणाः वै मरुतः स्वावयः' (ऐ.ब्रा. 3.16) तथा 'प्राणाः रश्मयः (तै. ब्रा. 3.2.5.2) जैसी उक्तियां ब्राह्मण ग्रंथों में मिलती हैं। सामान्यतः इन रश्मियों के गण हमारे भीतर बिखरे हुए रहते हैं, परन्तु समाधि में योग-समाधि की अवस्था में ये सभी रश्मियाँ पुञ्जीभूत होकर एक

सूर्य (ब्रह्म) की अनेक किरणें अथवा हिरण्यपाणिं सविता के अनेक हाथों के रूप में कल्पित होती हैं। ब्रह्म को जब अग्नि (माश. 8.5.112) या विद्युत अग्नि (माश. 14.7.81) के रूप में कल्पित किया गया, तो उक्त मरुत: रश्मय: को उसके 'हस्त मानते हुये अग्नि ब्रह्म को 'हस्ती' (ऋ.4.16.14) कहना सार्थक हो गया। इसी दृष्टि से उक्त गणपति रूप ब्रह्म को 'गजवदन' (हस्तिमुख) कहने का मार्ग खुल गया। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त प्रकार से अन्तर्यामी ब्रह्म के जो विविध काव्यात्मक वर्णन मिलते है उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में कलाकारों ने गणपति को वह रूप दिया जो आज तक हम उनकी प्रतिमा में देखते हैं। 'एकं सत् विप्रा: बहुधा वदन्ति' अथवा 'एकोऽग्नि: बहुधा समिद्ध:' जैसी अनेक उक्तियाँ इस का प्रमाण हैं कि एक ही परब्रह्म को वैदिक ऋषि कवियों ने काव्यात्मक भाषा में अनेक रूप दिये हैं।

निरर्थक आलोचना

वेद-वाङ्मय की उपर्युक्त शैली के परिप्रेक्ष्य में ओझाजी के पूर्वोक्त आलोचक की आपत्ति में भी कोई दम नहीं कि महर्षि कुलवैभवम् में ऋषि शब्द को प्राण-बोधक मानते हुए उसके तीन अन्य अर्थ भी कैसे संभव हैं। वेद की काव्यशैली में एक ही तत्त्व को दृष्टि-भेद और स्तर-भेद से भिन्न-भिन्न रूप देना एक साधारण बात है। इसी कारण हमारी परंपरा में विष्णु, शिव और देवी के सहस्र नामों का पाठ आज तक हो रहा है। ऐसी स्थिति में, उक्त विद्वान् ने ओझा जी की शैली को 'अद्वितीय' बताते हुये जिन अशोभनीय शब्दों का प्रयोग किया है उनकी अवांछनीयता उन्हें स्वयं स्पष्ट हो जाती यदि वे ओझा जी के ग्रंथों में प्राप्त उनकी अनेक बार दुहराई गयी उक्ति पर ध्यान देते कि "मैंने अपने ग्रंथों में कोई नई बात नहीं कही, अपितु वेदवाङ्मय के तथ्यों को ही मनोयोग पूर्वक समझकर प्रस्तुत किया है।" इसका अभिप्राय है कि ओझाजी ने तो हमें वेद-विज्ञान को समझने के लिये अथाह परंपरागत साहित्य में से यत्नपूर्वक खोजकर कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। यदि उसमें हमें कोई असंगतियाँ प्रतीत होती हों, तो अब यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम ओझा जी के चरण-चिह्नों पर चलते हुए आगे गहराई में जायें और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। उदाहरण के लिये, अत्रि ऋषि के विषय में उस मीमांसा को लेते हैं जो हमें 'महर्षिकुलवैभवम्' के अतिरिक्त एक अन्य ग्रन्थ 'अत्रि ख्याति' में प्राप्त होती है। अत्रि-ख्याति की समीक्षा प्रस्तुत लेख-संग्रह के एक लेख में भी की गई है। वेद-वाङ्मय में, अत्रि प्राण (ऐ.आ. 5.2.2.1) और साथ ही उसे वाक् (मा.श. 4.5.2.6) रूप में भी याद किया गया है। ऐसी स्थिति में यदि ओझा जी ने इन दोनों को एक ही तत्त्व के दो पक्ष मानते हुए, उनमें अत्रि-अनुसूया नामक ऐतिहासिक ऋषि-दम्पती का आधार माना हो तो इसमें अनहोनी या असंगति क्या है?

इन्द्र-विजय — 'महर्षि-कुल-वैभवम्' और 'अत्रि-ख्याति' से भी अधिक 'इन्द्र विजय' के बन्ध में उक्त सम[illegible] उपजती है। इसकी एक सुन्दर समीक्षा पं. कलानाथ शास्त्री ने अपने लेख में

की है । पं. शास्त्री ने उस समस्या को भी उठाया है जिससे मैं अभी तक बचता रहा हूँ । प्रश्न है कि वेद अनादि व अपौरुषेय हैं, तो उनमें इतिहास की संगति कैसे बिठाई जाए । इसमें सन्देह नहीं कि ओझा जी ने इस समस्या को बड़ी चतुराई से सुलझाया है । उन्होंने ठीक ही वेद नामक विज्ञान या विद्या को अनादि और अपौरुषेय मानकर उसका वर्णन करने वाले वेद नामक ग्रन्थों को ऋषिकृत् माना है । इसलिए, वेद-मन्त्रों में देवासुर संग्राम के अन्तर्गत वर्णित वृत्र और शम्बरादि के वध को ऐतिहासिक घटना मानना युक्तिसंगत हो सकता है । यही बात वामदेव, वसिष्ठ, अगस्त्य, विश्वामित्र और शुनः शेप जैसे ऋषियों के सम्बन्ध में प्राप्त मन्त्रगत संकेतों के विषय में भी कही जा सकती है । परन्तु जिन सन्दर्भों में इन संकेतों का उल्लेख है उनकी परीक्षा करने के पश्चात् क्या यह कहना सम्भव है कि इस प्रकार के उल्लेखों का उद्देश्य वेद-विद्या को अभिव्यक्ति देने के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है ? क्या इन सभी प्रसंगों को वेद-विज्ञान के निरूपण का माध्यम नहीं बनाया गया है ?

उदाहरण के लिये, हम सविख्यात वृत्र-वध द्वारा जलधाराओं के उद्धार का प्रसंग लेते हैं । ऋग्वेद 3.32 में इस विषय का सन्दर्भ निम्नलिखित है :—

1. अहन् अहिं परिशयानं अर्ण ओजायमानम् (ऋ 3.32.11)

2. यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूत्-उत प्रियः सुतसोमो मिमेधः ।
   यज्ञेन यज्ञं अव यज्ञियः सन् यज्ञः ते वज्र अहि हत्ये आवत् ॥ (ऋ3.32.12)

यहाँ प्रथम मन्त्र में जिस अहि (वृत्र) का वध करता है वह जल प्रवाह को चारों ओर से घेरे सो रहा है और इस प्रकार अपने ओज का प्रदर्शन भी कर रहा है । दूसरे मन्त्र में अहि-हत्या (वृत्र-वध) में प्रयुक्त वज्र को यज्ञ कहा गया और साथ ही उसकी रक्षार्थ प्रार्थना की गई, क्योंकि यज्ञ इन्द्र का 'वर्धन' और 'प्रिय' होना चाहिये । यदि तथाकथित इतिहासकारों का यह मत स्वीकार कर लिया जाए कि प्रथम मन्त्र में अनार्यों द्वारा बनाए गए बांध को तोड़कर नदी-जल को प्रवाहित करने का प्रसंग है, तो इस सम्बन्ध में होने वाले वृत्र-वध और उसके लिए प्रयुक्त यज्ञ रूपी वज्र की क्या तुक हो सकती है ? वास्तव में, जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर श्री अरविन्द आदि ने माना है, ये जल-प्रवाह हमारी चेतना-धाराओं के प्रतीक हैं, जिनको अवरुद्ध करने वाला अहंकार जनित अज्ञानान्धकार ही वृत्र है; उसको दूर करने के लिए जो यज्ञ रूप वज्र कहा गया है वह श्रेष्ठतम कर्म रूप यज्ञ है जिसकी घोषणा यजुर्वेद के पहले ही मन्त्र के प्रसंग में ब्राह्मण-ग्रन्थों ने बार-बार की है ।

इसी प्रकार, ऋ 1.32 के अनेक मन्त्रों में वृत्र-वध का सन्दर्भ दृष्टव्य है । प्रथम मन्त्र में इन्द्र के 'प्रथमानि वीर्याणि' के वर्णन का लक्ष्य बताते हुए कहा गया है कि इन्द्र ने अहि का वध कर जलधाराओं को प्रवाहित किया और पर्वतों की प्रवहणशील नदियों को छिन्न-भिन्न किया । दूसरे

मन्त्र में पर्वत पर शयन करते हुए अहि का वध करने के लिए त्वष्टा ने ज्योतिर्मय स्वर्ण से वज्र बनाया जिसके फलस्वरूप जलधाराएं बहती हुई समुद्र में पहुँच गई। तीसरे मन्त्र में इन्द्र ने वज्र लेकर प्रथमोत्पन्न अहियों में से इस अहि को मार दिया। इस अहि को मारने के पश्चात् मायावियों की माया नष्ट हो गई जिसके पश्चात् सूर्य, द्यौ और उषा का जन्म होने पर शत्रु कहीं भी नहीं मिला। चतुर्थ मन्त्र के इस वर्णन का रहस्य दसवें मन्त्र में उद्घाटित होता है जहां इस इन्द्र-शत्रु को 'दीर्घ तमः' कहकर अस्थिर काष्ठाओं के भीतर वृत्र के शरीर को छिपा हुआ कहते हुए जलधाराओं को विचरण करने वाला बताया गया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि इन्द्र जिस वृत्र का वध करता है वह घोर अन्धकार का प्रतीक है। इसीलिए उसके मरने के उपरान्त सूर्य, द्यौ तथा उषा के जन्म की बात कही गई है और साथ ही यह भी बताया गया है कि इन तीनों के जन्म के पश्चात् उस शत्रु का कहीं पता ही नहीं चला। इसी दृष्टि से वज्र को ज्योतिर्मय अथवा यज्ञ कहा जाना भी सार्थक हो सकता है। पंचम मन्त्र में उक्त वृत्र के लिए 'वृत्रतर' विशेषण प्रयुक्त हुआ है और उसे स्कन्धहीन बताया गया है और साथ ही यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने जब महान वज्र के द्वारा उसका वध किया तो वह अहि पृथ्वी के निकट विशेषरूप से ऐसा छिन्न होकर सो रहा था मानो वज्र के द्वारा उसके कन्धों को विशीर्ण किया गया हो। छठा मन्त्र बतलाता है कि दुर्मद वृत्र ने महावीर इन्द्र का आह्वान ऐसे किया मानो कोई अयोद्धा पुकार रहा हो। सातवें मन्त्र के अनुसार हाथ-पैर रहित वृत्र ने जब इन्द्र से शत्रुता की तो पहाड़ की चोटी पर वज्र ने उसको मार डाला और तब वृत्र विविध रूपेण छिन्न-भिन्न होकर अनेक स्थानों पर (पुरुत्रा) शयन करने लगा।

आठवें मन्त्र में जब जलधाराओं को, सोते हुए मन (शयानं मनः को 'नदं न भिन्नं' करके उसके ऊपर आरोहण करता हुआ बताया गया है और साथ ही यह भी कहा गया है कि जिन जलधाराओं को वृत्र अपनी शक्ति द्वारा चारों ओर से घेरे हुए था उन्हीं का वह अहि (वृत्र) अब पादशायी हो गया है। इस मन्त्र से स्पष्ट संकेत मिलता है कि वृत्र का वध करके जिन जलधाराओं को मुक्त किया जाता है वे वस्तुतः मन पर आरोहण करने वाली वे आध्यात्मिक चेतना-धाराएं हैं जिन्हें पहले अहंकार रूप वृत्र ने अपने अज्ञानान्धकार द्वारा घेरा हुआ था। नवम मन्त्र में वृत्र की माता का भी उल्लेख है। उस पर इन्द्र ने जब प्रहार किया तो अपने पुत्र के ऊपर वह ऐसे हो गई जैसे कोई सहवत्सा धेनु हो। ग्यारहवें मन्त्र में वृत्र द्वारा अवरुद्ध जलधाराओं को 'अहि-गोपाः दासपत्नीः' कहकर उनकी तुलना उन गायों से की गई है जिन्हें मानो पणि ने अवरुद्ध कर रखा था। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि जलधाराओं का जब बिल ढका हुआ था, तो वृत्र का वध किया गया और उस बिल को अनावृत किया गया। यहाँ विद्वानों के लिए विचारणीय है कि यह बिल वही तो नहीं है जिसको अथर्ववेद 19.68 में माया द्वारा अनावृत करके व्याप्त और अव्याप्त व्यान प्राण द्वारा वेद का उद्धार करके कर्म करने की बात कही गई है। सायणाचार्य अपने भाष्य में किन्हीं आगमिकों को उद्धृत करते हुए बिल को मूलाधार चक्र मानते हैं और कहते हैं कि अज्ञानावृत हृदय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक नहीं होता; अतः वेद रूप ज्ञान का उद्धार करके ही अभीष्ट कर्म किए जा सकते हैं।

सायण के इस सार-गर्भित सुझाव का मिलान अथ.वे. 19.2 से कर सकते हैं जहां अन्तस्तम कोश से वेद का उद्‌भरण करने एवं पुन: उनका उसी में अंतर्धान करके ब्रह्मवीर्य द्वारा इष्ट कर्म करने की चर्चा है । दूसरे शब्दों में, यदि वेद का उद्‌भरण और पुन: उसका अन्तर्धान होना संभव न हो तो न तो ब्रह्मवीर्य प्राप्त होगा न इष्ट कर्म ही हो सकेगा । इसी प्रकार की स्थिति का सूचक वह बिल है जिसके वृत्र द्वारा आवृत किये जाने पर सर्वव्यापक ब्रह्म से अव्याप (सीमित) जीवात्मा के स्तर पर आने वाली प्राण-धाराओं का आना जाना अवरुद्ध हो जाता है । इसके परिणाम-स्वरूप, हमारे मूलाधार से प्रमाद कारक लहर उठती हुई हमारे मस्तिष्क को भी प्रमाद युक्त करने लगती है । संभवत: इसी दृष्टि से, सायण ने उक्त बिल को मूलाधार मना । यह प्रमाद कारक लहर ही अहङ्कार सहित क्रोधादि वृत्रों की जननी कही जा सकती है जिसे वृत्र सहित होने पर 'सहवत्सा धेनु' के साथ तुलनीय कहा जा चुका है । माँ और बेटे को मारने के लिये एकमात्र वह पूर्वोक्त यज्ञरूप वज्र ही समर्थ है जिसे 'श्रेष्ठतम कर्म' कहा गया और जिसके अंतर्गत तन-मन को स्वस्थ और स्वच्छ रखने वाला 'योग: कर्मसु कौशलम्' अपने व्यापकतम अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है । इस योग के निरंतर अभाव से 'दीर्घ तम:' रूप पूर्वोक्त 'वृत्र वृत्रतर' होता जाता है । इसको रोकने के लिये योग अपने व्यापकतम अर्थ में अपरिहार्य है, क्योंकि यही वह साधन है जिससे युक्त जीवात्मा 'सुदास्' ही नहीं 'सुदास्तर' (ऋ. 1.184.1) होने के लिये अश्विनौ का आह्वान कर सकता है । यह तभी संभव है जब 'सहवत्सा धेनु' से तुलनीय उपर्युक्त प्रमादकारिणी आसुरी शक्ति को मुक्ति दिलाने वाली दिव्य उषा का उदय हमारे भीतर हो ।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु — इस प्रकार, सुदास्, इंद्र आदि को ऐतिहासिकता में विश्वास रखने वाले विद्वानों को भी स्वीकार करना पड़ता है कि वेद-मंत्रों में उनका उपयोग वेद-विद्या को अभिव्यक्ति देने वाले माध्यमों (प्रतीकों) के रूप में हुआ है । यह हमारी परंपरा के अनुरूप भी है, क्योंकि जैसा अन्यत्र बताया जा चुका है, रामायण और महाभारत के कथानक ऐतिहासिक होते हुए भी धर्मार्थकाम मोक्ष का उपदेश देने के माध्यम बनाये गये हैं । इसी दृष्टि से रामायण-महाभारत की प्राचीन वृत्तियों में इतिहास वह परिभाषा होती थी जो विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अब भी उपलब्ध है और जिसके अनुसार इतिहास उस 'पुरावृत्त' का नाम था जो धर्मार्थकाममोक्ष का उपदेश देने के लिये कथाओं की कल्पना से युक्त भी होता था । अत: वेदों में इतिहास है वहीं, इस विषय पर विवाद करना निर्रथक है । देखना तो यह है कि सुदास्, इन्द्र, विश्वामित्र के माध्यम द्वारा वेद-विद्या को जो अभिव्यक्ति दी गई है उसका क्या स्वरूप है । इस संदर्भ में डॉ. अमरनाथ का वह लेख भी महत्त्वपूर्ण है जिसमें ओझा जी के पुराण निर्माणधिकरणम् की समीक्षा प्रस्तुत की है । ओझा जी ने पुराण को विश्वसृष्टि का इतिहास माना है । इसके साथ ही पाठकों का ध्यान मैं अथ.वे.10.8.17 की ओर आकृष्ट करता हूँ जहाँ 'पुराण वेद' का उल्लेख है । इसी प्रसंग में, गोपथ-ब्राह्मण में वर्णित सृष्टि का प्रसंग भी विचारणीय है । संक्षेप में वह इस प्रकार है ।

अंगिरा से बीस आंगिरस ऋषि और बीस आंगिरस आर्षेय उपजे जिनके मन्त्रों से आंगिरस वेद बना। आंगिरस वेद से 'जगत्' नामक 'महाव्याहृति' उत्पन्न हुई। तब अंगिरा ने प्राची, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा और ऊर्ध्वा दिशाओं को देखा जिनसे निम्नलिखित वेदों और उनकी व्याहृतियों का जन्म हुआ —

वेद	व्याहृति
1. सर्पवेद	वर्धत्
2. पिशाचवेद	करत्
3. असुरवेद	रुहत्
4. इतिहास वेद	महत्
5. पुराण वेद	तत्

यह सब कहने का उद्देश्य यह है कि 228 ग्रन्थों के रचयिता ने महर्षि कुलवैभव में जो कुछ कहा वही उसके अन्तिम निष्कर्ष को जानने के लिये पर्याप्त नहीं। प्रत्येक ग्रन्थ का सीमित लक्ष्य और दृष्टिकोण अलग-अलग होता है और लेखक के उत्तरोत्तर होने वाले स्वाध्याय, चिन्तन-मनन एवं अनुभूति-अभिव्यक्ति में भी विकास होता है। इसके अतिरिक्त इतिहास और पुराण को क्रमशः आंग्ल भाषा का हिस्ट्री और मिथक समझ लेना भी बहुत बड़ी भूल है। इस विषय में पूर्वोक्त 'पुराण निर्माणाधिकरणम्' नामक ग्रन्थ के परिप्रेक्ष्य में 'पुराण' को सृष्टि का इतिहास कहना भी सम्भवतः स्पष्ट मन्तव्य को न देता हो, इसी दृष्टि से वेद वाङ्मय के कुछ अन्य सन्दर्भों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। अधिक विस्तार में न जाते हुए विद्वानों को संकेत देने के लिये निम्नलिखित उद्धरण ही पर्याप्त होंगे —

1. मत्स्यः सांमदो राजा इत्याह। तस्य उदकेचरा विशः। ते इमे आसत इति। मत्स्याश्य मत्स्यहनाश्य उपसमेतां भवन्ति। तानुपदिशति। इतिहासो वेदः सोऽयम्। इति कञ्चिद् इतिहासमाचक्षीत (माश. 13.4.3.12)।

2. ये अर्वाङ् मध्य उत वा, पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति। आदित्य मेव ह परि वदन्ति। सर्वे द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्। (अ.वे. 8.12.17)

3. स बृहतीं दिशमनुचलन्। तम् इतिहऽआसः। च। पुराणम्। च गाथाः। च। नाराशंसीः। च। अनुव्यचलन्। इतिहऽआसस्य। च। पुराणस्व च। गाथायातीम्। च। नाराशंसीनाम्। च। प्रियम्। धायम्। भवति। यः एवं। वेद (अ.वे. 15.6.10-12)।

इतिहास और इति

कृपया विद्वान् उपर्युक्त उद्धरणों पर विचार करें। प्रथम उद्धरण शतपथ ब्राह्मण से उद्धृत है, तदनुसार वेद और इतिहास समानार्थक हैं; साथ ही वहाँ इति के साथ वर्णित तथ्य को भी इतिहास (कञ्चिद् इतिहासम्) माना गया है। इस सन्दर्भ में तृतीय उद्धरण विशेष रूप से चिन्तनीय है जहाँ पदपाठकार इतिहास शब्द को 'इति हऽआस' रूप देकर संकेत कर रहा है कि इतिहास शब्द का मूल 'इति ह' शब्द में ही निहित है। यद्यपि इस कथन को शतपथ ब्राह्मण के उक्त कथन से मिलान करते हैं तो यही निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविक इतिहास 'इति' का इति ह होने पर वेद ही है और 'इति' द्वारा संकेतित उसी वेद रूप इतिहास की ओर इंगित करने वाला भी एक प्रकार का इतिहास ही है। इस तरह 'इति' और 'इति ह' के अर्थ में किञ्चिद् भेद अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु जब हम यजुर्वेदीय संहिताओं में 'इतिश्च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' पर दृष्टि डालते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि 'इति' गत्यर्थक 'इ' धातु से निष्पन्न होने के कारण गम् धातु से निष्पन्न 'गति' से अवश्य भिन्न है। अत: 'इति ह' का अर्थ होगा 'इति' नामक गति का अन्त। इति पद वाच्य जिस गति का अन्त होने से 'इतिहास वेद' होता है उसे वह गति मानेंगे जो वेदान्तकृत् परब्रह्म में लीन हुए वेद की ओर जाने वाली कही जा सकती है। इसी इतिह (वेदान्त) के ज्ञान पर आश्रित 'ऐतिह्य' प्रमाण की कल्पना रही प्रतीत होती है (ऐसी स्थिति में 'इतिह' अन्तर्हित (अवेद्य) वेदान्त का बोधक हो जाता है। इससे भिन्न 'गम्' धातु से निष्पन्न 'गति' शब्द वेद के उस वेद्य (व्यक्त) स्वरूप का द्योतक होगा जिसे परम्परा निगम और आगम रूप में मानती है। वेद के इस द्विविध रूप का संकेत हमें अथ.वे. 19.2 में प्राप्त होता है जो इस प्रकार है —

यस्मात् कोशात् उद्भराम वेदं तस्मिन्नन्तरवदध्म एवम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवा तपसावतेह ॥

प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार अन्तस्तम कोश के भीतर अन्तर्हित होने वाला वेद उक्त 'वेदान्त' या 'इतिह' अव्यक्त या अवेद्य वेद है और कोश से उद्भरित (व्यक्त) होने वाला वेद 'वेद्य' है। वेद के इसी स्वरूप के सन्दर्भ में गीता के अवेदान्तकृत् और वेदविद् शब्दों को समझा जा सकता है जिनके द्वारा भगवान् कृष्ण अपने द्विविध रूप की ओर संकेत करते हुए कहते हैं — वेदान्तकृत् वेदविच्चाऽहम्। अथ से इति तक की कहावत भी जहाँ 'अथ' द्वारा वेद रूप ज्ञान के प्रत्यक्षीकरण (उद्भरण) को सूचित होता है तो 'इति' शब्द से वेद के पूर्वोक्त अन्तर्धान अथवा वेदान्त की ओर जाने वाली परोक्ष दिशा व्यञ्जित होती है।

पदपाठ में प्रयुक्त इति

उक्त निष्कर्ष को स्वीकारने में, सबसे गम्भीर प्रश्न यह होता है कि क्या पदपाठ में प्रयुक्त इतिकरण भी इसी की पुष्टि करता है । इस प्रसंग में, यह उल्लेखनीय है कि इति का सर्वाधिक प्रयोग संहिता-पाठ में प्रयुक्त उकार को पदपाठ में स्पष्ट करने (उँ इति) में हुआ है । हम जानते हैं कि 'उँ' हमारी परम्परा में परंब्रह्म का द्योतक माना गया है । अपने में वेद को लीन करके 'वेदान्तकृत्' कहलाने वाला भी यही है और इसी की परोक्ष दिशा की ओर संकेत करने वाले अथो शब्द के साथ भी पदपाठ में इति का प्रयोग होता है । परोक्ष दिशा का सूचक यह 'अथो' निस्संदेह पूर्वोक्त 'अथ' से भिन्न है । इसी ओर मैत्रायणी संहिता 'अथो आहु: परोक्षमिति' (मस. 4.2.1) की घोषणा करती है । इसीलिये पदपाठकार 'अथो इति' का प्रयोग बार-बार करता है । सम्भवत: 'अथो' में अन्त्य उकार परोक्षोन्मुख 'उत्तर' दिशा का बोधक है । यह दिशा अनेकता से एकत्व की ओर जाने वाली दिशा है जो अनेकता के युगलत्व या मिथुनत्व में परिणत होने पर होती है जिसे हम द्यावापृथिवी, रोदसी जैसे शब्दों में पाते हैं । अत: पदपाठ में इन पदों के साथ सर्वत्र इति का प्रयोग हुआ है । बहुत सम्भव है पदपाठ में इतिकरण के प्रसंग में जिन शब्दों को 'प्रगृह्य' कहा जाता है वे भी उसी परोक्षोन्मुखी दिशा के सूचक हों जिसे प्रकृष्टरूपेण गृह्य माना हो, इस तथ्य के साथ ही 'अस्मे' शब्द को भाष्याकारों द्वारा 'अस्मभ्यम्' के अर्थ में ग्रहण करना भी संदेहास्पद हो जाता है ।

संदेह-निवारण के लिये आइये निम्नलिखित पदपाठ को देखें जहाँ 'अस्मे' के अतिरिक्त 'स्यु:' के साथ भी इतिकरण हुआ है —

अबुध्ने । राजा । वरुण: । वनस्य । ऊर्ध्वम् । स्तूपम् । ददते । पूर्तदक्ष: । नीचीना: । स्थु: । उपरि । बुध्न: । एषाम् । अस्मे इति । अन्त: निऽहिता: । केतव: । स्युरिति स्यु: ॥

इस मन्त्र में, सत्तासूचक 'अस्' धातु से निष्पन्न 'अस्मे' और 'स्यु:' दोनों के साथ अन्तिम चरण में 'इतिकरण' हुआ है, क्योंकि अनेकता-सूचक 'केतव:' को 'अस्मे' में 'अन्तर्निहित' बताया गया है । अत: 'अस्मे:' से अस्मिता की वह युगल सत्ता अभिप्रेत प्रतीत होती है जिसमें समस्त नानात्व केन्द्रीभूत होकर अन्तर्निहित हो जाता है । दूसरे शब्दों में, अस्मे उस परोक्षोन्मुखी दिशा का ही बोधक है जिसका 'इति' । अत: अस्मे के साथ इति का प्रयोग उतना ही उचित है जितना अन्तर्निहित होने वाली अन्तर्मुखी नानात्वमयी सत्ता के सूचक 'स्यु:' के साथ । यही 'अनेकता' जब कभी परोक्ष-एकत्व की ओर गतिशील होती है तो उसके लिये 'यु मिश्रणामिश्रणे' से निष्पन्न 'युष्मे' से सम्बद्ध किया जाता है और वहाँ भी इतिकरण आवश्यक माना जाता है, उदाहरण के लिये निम्नलिखित पदपाठ को देखें —

शिवा । नः । सख्या । सन्तु । भ्राता । अग्ने । देवेषु ।
युष्मे इति । सा । नः । नाभिः । सदने । सस्मिन् । ऊधन् ।।ऋ4.10.8)

इस मन्त्र में, युष्मे के साथ इतिकरण का औचित्य यह है कि 'युष्मे' अग्नि की उस सत्ता का द्योतक है जो देवो (तु देवेषु) की अनेकता को समाहित करने वाला ऐसा केन्द्र (नाभिः) है जिसके लिये 'सस्मिन्' और 'ऊधन्' शब्दों का प्रयोग करके उसे 'सस्मिन्' द्वारा केन्द्रीभूत सत्ता के साथ-साथ ही अनेकता का स्रोत (ऊधन्) भी बता दिया है। इस प्रकार 'युष्मे' में केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण अथवा एकत्रीकरण और अनेकत्रीकरण दोनों का समावेश सम्भावित माना गया है, परन्तु मन्त्र विशेष में 'युष्मे' का प्रयोग उसी दिशा का ही बोधक है जो कि निस्संदेह केन्द्रीकरण की दिशा है परन्तु 'अस' से अंतर यह है कि यह केन्द्र से लौटकर बहिर्मुखी भी होती है।

अस्मे और युष्मे के भाव को लेकर ही 'द्यावापृथिवीनामानि' की भी कल्पना हुई प्रतीत होती है। द्यौ की विशेषता द्युति अथवा प्रकाश है, जबकि पृथिवी की विशेषता 'प्रथनम्' अथवा विस्तार। विस्तार प्रकाश से भी सम्बद्ध है, परन्तु वह सूक्ष्मता से युक्त होता है, जबकि पृथिवी के 'प्रथनम्' के साथ 'प्रथुता' भी जुड़ी हुई है। एकजुट होकर द्यौ तत्त्व और पृथिवी तत्त्व ऊर्ध्वमुखी होते हैं तो वे (जैसा कि निघण्टु से स्पष्ट है। द्विचनान्त पृथिवी, अदिती अथवा रोदसी नाम भी धारण करते हैं। उस स्थिति में, वे दृष्टि-विशेष से एकरूपता ग्रहण करके 'परोक्ष एकत्व' में लीन होने के लिये 'इति' को अपनाते हैं। द्यावापृथिवी नामों के साथ होने वाला इतिकरण इसी ऊर्ध्वमुखी एकत्वपरक दिशा का सूचक है, परन्तु इस प्रसंग में पृथिवी शब्द से 'ग्रहपिण्ड' अभिप्रेत न होकर पृथिवी तत्त्व को मानना होगा जो द्यौ के साथ एकरूपता ग्रहण कर सकता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये हम द्यावा-पृथिवी के लिये प्रयुक्त 'अहनी' शब्द को ले सकते हैं जिसके साथ पदपाठ में 'इति' भी प्रयुक्त होता है। यद्यपि 'अहोरात्र' के द्वन्द्व में भी 'अहः' शब्द है परन्तु इस द्वन्द्व की एकरूपता सम्भव नहीं, इसीलिये द्यावापृथिवी के लिये 'अहनी' शब्द प्रयुक्त है। अहः शब्द एकवचन में भी इति के साथ पदपाठ में लिखा जाता है, क्योंकि उस अर्थ में वह 'अहोरात्र' की द्वन्द्वात्मकता से मुक्त उस एकरूपता का सूचक है जिसे 'अहनी' शब्द व्यक्त करता है। एकरूपता-सूचक यह शब्द जब अहोरात्र के लिये प्रयुक्त होता है तो उन दोनों का भेद दिखाई नहीं पड़ता (ऋ 1.123.7) क्योंकि रात्रि अपना अंधकार 'गुहा' में रखकर उषा के साथ संचरण करने लगती है। इसी प्रकार जब द्यावापृथिवी को 'अहनी' कहा जाता है, तो दोनों की एकरूपता 'पूर्वा' और 'अवरा' का भेद मिट जाता है, यद्यपि वे चक्रवत् विविध दिशाओं में विवर्तन करती हैं —

कतरा । पूर्वा । कतरा । अपरा । अयोः कथा । जाते इति । कवयः । कः । वि । वेद ।
विश्वम् । त्मना । विभृतः । यद् । हरनाम ।·वि । वर्तेते इति । अहनी इति । चक्रियाऽइव ।
(ऋ 1.185.1)

उक्त 'अहनी' नामक युगल ज्योति अपने इस रूप ग्रहण करने से पूर्व उस 'प्रथमा उषा' के रूप में रहती है जिसे 'विश्वस्मात् भूवनात् पूर्वा' (ऋ 1.123.2) कही जाती है । वह मनुष्य-व्यक्तित्व रूप निवास (मतुषा क्षयाय) की चिकित्सा करने वाली 'अर्या विशयसा:' है जो 'कृष्ण' से उद्भूत होती है—

पृथू रथो दक्षिणायो अयोज्येनं देवाओ अमृतास: अस्थु: ।
कृष्णादुस्थादर्या विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाया ॥ (ऋ 1.123.1)

निस्सन्देह दक्षिणा कहलाने वाली यह पूर्वा उषा (ऋ 10.107.) वही आध्यात्मिक सामर्थ्य या दक्षता है जिसे वहाँ 'दक्षिणा दैवीपूर्ति' कहा गया है । इस मंत्र में भी उसके 'पृथु रथ' पर जो देवास: अमृतास: स्थित कहे गये हैं वे अवश्य ही उसकी जगमगाती दिव्य किरणें हैं । अगले मंत्रों में, इसी 'वृहती सनुची' तथा प्रथमा युवति के उदय होने पर 'दमूना सविता देव' हमको निष्पाव (अनागस:) घोषित (वही, 2-3) करता है । अत: उक्त मंत्र में जिस 'कृष्ण' में से यह उद्भूत हुई उसे घोर अंधकार न मानकर वही महाभारत-सम्मत 'कृष्ण' मानना पड़ेगा जो द्वंद्वातीत परं ब्रह्म का वाचक है और जो 'कृष्ण अभ्व' को जन्म देता है । यह वही 'अभ्व' है जिससे 'अहनी' नाम-धारी द्यावापृथिवी हमारी रक्षा (ऋ 1.185. 1-7) करते हैं । पूर्वा या प्रथमा उषा को यदि निर्विशेष ब्रह्म से उद्भूत उसकी वह प्रथमा ज्योति कहें जिसे 'शश्वत् द्योतना अहना' (ऋ 1.123.4) कहा जाता है । दूसरे शब्दों में निर्विशेष ब्रह्म में लीन रहने वाली चेतना ज्योति की प्रथम अभिव्यक्ति उक्त प्रथमा उषा या 'शश्वत् द्योतना अहना' है जो 'अहनी' नामक युगुल रूप धारण करने के पश्चात् अनेकत्व ग्रहण करती है । इस अनेकता की ओर जाने वाला 'द्यावापृथिवी' आदि का युगलत्व 'युवमे इति' द्वारा संकेतित है । इससे विपरीत अनेकता जब युगलत्व ग्रहण करके एकत्वपरक 'अस्मिता' की ओर उन्मुख होती है, तो उसकी ओर संकेत करने वाला 'अस्मे इति' है ।

वेद-वाङ्मय की अद्वितीय शैली

पदपाठ में प्रयुक्त 'इतिकरण' पर इतना लिखना वस्तुत: पर्याप्त नहीं है । यह केवल विद्वानों के लिये संकेत मात्र है । इस पर गंभीरता से विचार करके यदि हम वेद-व्याख्या में जुटते हैं तो हमें विश्वास हो जायेगा कि पदपाठकार ने वेदभाष्य के लिये कितने महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रदान किये हैं । उसके लिये प्रयुक्त भाषा-शैली अभी तक अभूतपूर्व एवं अद्वितीय है । उदाहरण के लिये पूर्वोक्त द्यावापृथिवी को ही लेते हैं । यह वस्तुत: उस तत्त्वज्ञान पर आधारित है जिसके अनुसार मूल एक ओर तो अद्वैत है तो वही नानारूपात्मक सृष्टि करने की कामना से प्रथम तो आलिंगनबद्ध स्त्रीपुरुष (स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ इव) के रूप में प्रकट होता है और तत्पश्चात् पति-पत्नी रूप में द्विधा होकर नानात्व की सृष्टि (बृ. उप. 4.3) करता है । उस एक मात्र तत्व के उक्त दो रूपों में से प्रथम

(आलिगनबद्ध स्त्रीपुरुष) को ही प्रकारान्तर से 'द्यावापृथिवी' तथा दूसरे को द्यौ और पृथिवी मानकर जहाँ प्रथम रूप में दोनों को समान रूप से 'मातरौ' अथवा 'पितरौ' कहा जाता है, वहीं दूसरे रूप में द्यौ को पिता एवं पृथिवी को माता कहा जाता है। यही अर्थवादी शैली है, जिसके द्वारा अनिर्वचनीय को वचनीय बनाने के लिये आख्यानात्मकता प्रदान की जाती है। यह आख्यानात्मकता जहाँ ब्रह्मणग्रन्थों एवं पुराणों में विस्तृत तथा सुविस्तृत रूप ग्रहण करती है वहीं वेदमन्त्रों में आख्यानात्मकता का लगभग परिहार सा रहता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित ऋक् को प्रस्तुत है —

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ ऋ. 8.70.5

यहाँ द्यौ और भूमि (पृथिवी) की शत संख्या जहाँ सृष्टि के नानात्व को जन्म देने वाले पति पत्नी रूप द्वैत की ओर इंगित करती है वहीं रोदसी शब्द इस द्वैत के उस रूप का संकेत देता है जिसे 'आलिंगनबद्ध स्त्री पुरुष' कहा गया है।

इस सन्दर्भ में, आख्यानात्मक शैली में पूर्वापर सम्बन्ध की चर्चा भी सामान्य व्यावहारिक अर्थ में नही समझना चाहिये। जब कहा गया कि 'आत्मा एवं उदमग्र आसीत्' तो इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मा कभी अतीत में अकेला था और अब उसका यह निर्विशेष रूप समाप्त हो गया। वास्तव में उसकी निर्विशेष सत्ता सनातन सत्य है जबकि उसके अन्य रूपों में परिवर्तन होता रहता है अतः यहाँ भूतकालिक क्रिया का प्रयोग सनातन वर्तमान के अर्थ में ही हुआ है। इसी दृष्टि से 'छन्दसि लुङ् लङ लिटः' सूत्र की रचना हुई। शैलीगत इस विशेषता की आवश्यकता संहिता साहित्य में इसलिए पड़ी कि वैदिक तत्त्वज्ञान कालातीत किसी शाश्वतसत्ता की बात करता है जबकि त्रिकालबद्ध साधारण भाषा की यह विवशता है कि उसमें भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् की सीमा में ही बात कर सकते हैं। इतना ही नहीं वेद में कुछ ऐसे विषय भी आते हैं जो भूत, वर्तमान और भविष्यत् की सीमा में रहते हुए भी 'विधिलिङ् या लोट्' आदि का रूप ग्रहण करते हैं और साथ ही शाश्वत सत्ता को भी स्पर्श करना चाहते हैं। इसी दृष्टि से, वैदिक भाषा में 'लट्लकार' की अद्भुत विविधता के भी दर्शन होते है। इस प्रकार का प्रयोग विश्व की किसी भाषा में नहीं मिलेगा, क्योंकि ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी आवश्यकता अन्यत्र अभी तक अनुभव ही नहीं की गई।

देवतानिविद्

वेदवाङ्मय की ऐसी एक शैलीगत विशेषता का विस्तृत विवेचन पं. मधुसूदन ने अपने 'देवता-निविद्' नामक ग्रन्थ में किया है। इस ग्रन्थ की समीक्षा डॉ. ब्रजबिहारी चौबे ने इस संग्रह में समाविष्ट अपने लेख में की है। संहिताओं और ब्राह्मणों में भी 'निविद्' शब्द प्रयुक्त है (निघण्टु के वाङ्नामानि में निविद् शब्द पठित है)। इसका अर्थ है निःशेष रूप से उस देवतत्त्व को जानने की शैली जो वेद के सब देवों के मूल में है। ऋग्वेद के खिल सूक्तों (5.5) में निविदाध्याय के अन्तर्गत

जो सूत्र इस दृष्टि से 11 खण्डों में प्रस्तुत हैं उन्हें ओझा जी ने, अपने व्यापक वेदाध्ययन के आधार पर सुविस्तृत रूप दिया है। इस शैली को संक्षेप में समझने के लिये उक्त एकादश-खण्डीय निविदाध्याय पर्याप्त है। वहाँ पहले खण्ड में अग्नि का जो संक्षिप्त वर्णन है वह ऋ. 8.58.2 के 'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः' की याद दिलाता है। यह अग्नि निस्संदेह उस ब्रह्म की प्रतीक है जो अपने परम रूप में एक होता हुआ भी अनेक रूपों में होकर घट-घट में विराजमान है। 'बहुधा समिद्धः' इसी ब्रह्माग्नि को समष्टि की दृष्टि से 'संविद' (वही, 1) कहा जा सकता है। उसी के आत्यंतिक दिशा की सूचक 'निविद्' है जिसे ऋ. 1.96.2 में 'पूर्वया निविदा कव्यता' कहा गया है। इसके अनुसार 'सहसा जायमानः अग्निः' को 'सतश्च गोपा भवतश्च भूरेः' कहकर उसके 'स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ' रूप की ओर संकते है, जबकि उसी कि द्विधाकरण पूर्वोक्त 'पतिश्च पत्नी' के स्थान पर 'प्रेदं ब्रह्मं प्रेदं क्षत्रम्' कहकर दूसरे से लेकर ग्यारहवें खण्ड तक हर बार दुहराया गया है। अभिप्राय यह है कि परब्रह्म रूप अग्नि सभी देवताओं में अपने 'ब्रह्म एव क्षत्रं' नामक दो बलों के रूप में सर्वत्र द्विधा अभिव्यक्त है। ब्रह्म एव क्षत्रं के रूप में वर्णित वह 'द्वैत' वस्तुतः वही पूर्वोक्त 'सत् तथा भवत्' है जो 'गोपा' में संयुक्त रूप से विद्यमान माना गया था। गोपा वस्तुतः वह प्राण है जो अपने में अभिन्न रूप से लीन गो (वाक्) का रक्षक कहा जा सकता है। इस रूप में वह अनिवद्यमान गोपा है, परन्तु जब गो (वाक्) व्यक्त होकर सृष्टि कार्य के लिये उद्यत होती है, तो 'गोपा' भी उस वाक् के प्रसंग में 'सत्' और 'भवत्' में विभक्त हो जाता है, क्योंकि गोपा के ये दोनों पक्ष मूलतः वाक् के ही क्रमशः अस्ति-भवति नामक द्वैत के कारण होते हैं।

वाक् का पथ्या-स्वस्ति रूप

इस प्रकार, जो वाक् अपने अव्याकृत अव्यक्त रूप में अस्ति-भवति के द्वंद्व से परे होने के कारण स्वस्ति (सु-अस्ति) कही जा सकती थी वही नानात्व के पथ पर चलने के लिये उद्यत होने पर 'पथ्या' भी कही गई। अतः इसी दृष्टि में जैसा कि डॉ. श्रद्धा चौहान ने अपने लेख में बताया है, ओझा जी ने अपने एक ग्रंथ को 'पथ्या स्वस्ति' नाम दिया है। साधारण दृष्टि से, यद्यपि लेखक के पथ्या स्वस्ति, वर्णसमीक्षा तथा पद निरुक्तम् जैसे ग्रंथों को व्याकरण, निरुक्त आदि के अदार्शनिक रूप में ही ग्रहण किया जाता है, परन्तु यदि हम शुद्ध वैयाकरण दर्शन की दृष्टि से भी देखें, तो हमें वहाँ शब्दार्थपरक वाक् का वह समस्त नानात्व वर्ण, पद, प्रकृति-प्रत्यय उपसर्ग, निपात, कारक-विभक्ति आदि सहित वाक्यबोध की वीजभूत शक्तियों तक का बीज मिल जायेगा और हम उस प्रतीकवाद का मार्ग भी ढूँढ सकेंगे जो हमें वाक्यपदीयम् से लेकर उन तांत्रिक ग्रंथों में है जहां वाक् अथवा शब्द को ब्राह्मी शक्ति मानते हुए वागर्थ या शब्दार्थ नामक द्वैत से प्रारंभ होने वाली नानात्वमयी सृष्टि को प्रतीकात्मकता प्रदान की जाती है। मूलाधार से लेकर सहस्रार चक्र तक अक्षरों की विभिन्न संख्याओं की कल्पित स्थिति वाक्-सृष्टि की इसी प्रतीकात्मता पर आश्रित है। इस विषय की झलक पाठकों को

डॉ. श्रीकृष्ण शर्मा और डॉ. सत्यप्रकाश दुबे के लेखों में मिल सकता है जो क्रमशः 'पद-निरुक्तम्' तथा 'वर्णसमीक्षा' नामक ओझाकृत ग्रंथों पर लिखे गये हैं।

ब्रह्मविज्ञान

इस प्रसंग में, वेदों की अभिव्यञ्जना-शैली पर ध्यान न देने से भ्रांति हो सकती है, क्योंकि ब्रह्म केवल परमात्मा का ही नाम नहीं अपितु उस वाक् को भी ब्रह्म कहा जा सकता है जो उसके अव्यक्त रूप में उससे अभिन्न है और व्यक्त रूप में सारी नानात्वमयी सृष्टि करती है। इसके अतिरिक्त अन्नमयकोश से लेकर आनन्दमय कोश पर्यन्त प्रत्येक कोश का आधारभूत तत्त्व (अन्न, प्राण, मन विज्ञान और आनन्द) ब्रह्म कहा (तै. आ. 9.5.1-6; तै.30 3.5.1-6) गया है। अतएव ब्रह्म वाक् (जै.1.82; 202; 2.08; 3.207) है, जिसे 'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्' कहकर (ऐ.आ. 1.3.8) जहाँ ब्रह्म वहाँ वाक् और जहाँ वाक् वहाँ ब्रह्म का होना स्वीकार करता है। ऐसी स्थिति में सारा सृष्टि-विज्ञान वस्तुतः ब्रह्म विज्ञान कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से, ओझा महोदय ने अपने एक ग्रंथ का नाम 'ब्रह्म विज्ञान' रखा है जिसमें उन्होंने हिन्दी भाषा के माध्यम से सभी प्रकार के संशयों का निवारण करते हुए मूल विषय का सविस्तार प्रतिपादन किया है।

इस ग्रंथ में, वे सभी दार्शनिक विवाद उठाये गये हैं जो ओझाजी के 'संशयतदुच्छेदवाद' आदि ग्रंथों में मिलते हैं, परन्तु उनका समाधान प्रस्तुत करते हुए उन्होंने केवल वेद-विरोधी मतों का खण्डन ही नहीं किया, अपितु एक अद्भुत ढंग से वेद-सम्मत निष्कर्ष को प्रस्तुत करके आधुनिक विज्ञान की दृष्टि को भी अपने ब्रह्मविज्ञान का अङ्गभूत बना दिया है। इस दिशा में जो सूक्ष्म विवेचन किया गया है उसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अणुओं और त्रसरेणुओं के निर्माण का वृत्तान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि इसकी तुलना एटम एवं मालीक्यूल के विखण्डन पर आश्रित आधुनिक पदार्थ विज्ञान की झलक मिलती है, परन्तु ओझा जी इस चर्चा को जड़ प्रकृति (Matter) तक सीमित नहीं रखते, अपितु वे इसको मन, प्राण और वाक् पर लागू करके मनोविज्ञान या परामनोविज्ञान के क्षेत्र में भी पदार्पण कर देते हैं जहाँ तक आधुनिक विज्ञान की पहुँच अभी तक नहीं हुई है। आधुनिक मनोविज्ञान के प्रारंभिक दौर में अवश्य एक डॉ. वाटसन था जो कहता था कि जिस तरह भौतिक विज्ञान में जल के निर्माण में हाइड्रोजन और आक्सीजन का अनुपात खोज निकाला उसी प्रकार विज्ञान शीघ्र यह भी बतायेगा कि हमारे विचारों एवं भावों के निर्माण में किन तत्त्वों का आधार है। इस दृष्टि से ओझाजी का यह कथन विशेष रूप से द्रष्टव्य है —

"आत्मा प्रजापति को कहते हैं जो मन, प्राण और वाक् का घन है। इसी लिये उसमें सृष्टि होने से पूर्व तीन क्रियायें अवश्य होती हैं — 1. इच्छा, 2. तप और 3. श्रम। इन तीनों के मिले-जुले होने से, प्राण को क्षोभ होने पर तीनों ही एक साथ क्षुब्ध हो जाते हैं। मन में जो क्षोभ होता है उसी को इच्छा कहते हैं। प्राण के क्षोभ को तप कहते हैं और वाक् में जो क्षोभ होता है उसे श्रम कहते हैं।"

(ब्रह्मविज्ञान, पृ.159), "मन, प्राण और वाक् के कारण इस शरीर में तीन धाराएं अर्थात् ज्ञानधारा, चेष्टाधारा, धातुसृष्टिधारा सर्वदा होती रहती है। जैसे नेत्र संस्थान में, नेत्र का स्थूल स्वरूप 'भूत' भाग हैं, नेत्र की चेष्टायें 'प्राण' भाग हैं और नेत्र से उत्पन्न चाक्षुषज्ञान 'मन' भाग हैं।" (वही पृ. 168)

परमा और साहस्री वाक्

यहाँ वाक् से होने वाली धातु सृष्टिधारा का अर्थ है विभिन्न प्रकार के भूतों (भौतिक तत्त्वों) का निर्माण। इससे एक भ्रान्त धारणा यह हो सकती है कि वाक् एकमात्र भौतिक शक्ति है, परन्तु ऐसी स्थितिं में निम्नलिखित सन्दर्भों में वाक् अप्रासंगिक हो जायेगी —

(1) प्रजापतिर्वा उदमग्रासीत्। नान्यं पश्यमानः द्वितीयम्। तस्य वागेव आसीत्। वान्द्वितीयः स ऐक्षत् - हन्तीमां वाचं विसृजे इयं वावेदयं विसृष्टा व्यभवन्त्य एष्यतीति (जै. 2.244)

(2) प्रजापतिर्वा उदमेक आसीत्। तस्य वाक् द्वितीया आसीत्। ता मिथुनं सम्भवत्। सा गर्भमधत्त। सा अस्मात् अपाक्रामत्, स उमा प्रजाः असृजत्। सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत् (काठ 12.5; 27.1)

इन दोनों उद्धरणों में काव्यशैली भेद से वस्तुतः एक ही तथ्य संकेतित है कि अनिरुक्त प्रजापति अकेला होता है, क्योंकि उसकी 'स्वम्' कहलाने वाली वाक् उसी में अभिन्न रूप से लीन रहती है, परन्तु वही वाक् व्यक्त होने को उद्यत होती है तो प्रजापति वागद्वितीयः कहलाता है और तत्पश्चात् दोनोंके मिथुन भाव से प्रजाओं की सृष्टि होती है। इसका अर्थ है कि वाक् अपने परम् रूप में प्रजापति से अभिन्न और अव्याकृत है, परन्तु वही व्याकृत होकर नानात्व की सृष्टि करती है। यही मानकर हम ऋ. 10.124 की उस 'वाक्' को समझ सकते हैं केवल सम्पूर्ण नानात्व की सृष्टि करने वाली है, अपितु वही उसका नियन्त्रण करने वाली होती हुई अपने नानात्व में अपने शक्तिमान् पिता को भी जन्म देती है। अपने पिता के साथ सम्पूर्ण नानात्व में सहस्रवर्ण करने के कारण ही वह 'साहस्री' (माश. 4.5.8.4) अथवा सहस्राक्षरा कही गई है जो एकपदी से नवपद्वी तक होकर नानात्व में व्यक्त होती है —

गौरी निर्माय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥ (ऋ. 1.164.41)

वेदविज्ञान की काव्यात्मक शैली

वेदमन्त्रों में वेदविज्ञान वस्तुतः काव्यशैली में प्रस्तुत किया गया है। इसी कारण ब्राह्मण-ग्रन्थ एक ही पारिभाषिक शब्द के अनेक समीकरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिये वाक् को ही ले

लीजिए, वाक् गाय है, प्राण उसका ऋषभ और मन बछड़ा (माश. 14.8.9.1) । वाक् समुद्र है क्योंकि न वाक् क्षीण होती है न समुद्र (ऐ. ब्रा. 5.16) क्षीण होता है । वाग्वै माता प्राण: पुत्र: (ऐ.आ. 3.1.6); वाक् प्राण: (मै.सं. 4.6.3, तै. आ. 3.4.1); वाक् प्राणानाम् उत्तमा (काठ. 19.10) वाक् जन्मना वशा गाय है जो प्राण रूप गर्भ को धारण (मै.सं. 2.13.15) करती है, इसके साथ ही वाक् च वै प्राणश्च मिथुन (माश. 1.4.1.2) की उक्ति मिलती है तो अर्थ यह होता है कि वाक् प्राण के साथ सदा संहित (ऐ.आ. 3.1.6) रहती है । हृदय उपदोहनी है जिसमें वाक् रूप गाय को दुहते समय मन रूप वत्स तथा उसकी गोमाता दोनों प्राण रूपी रज्जु से आबद्ध (जै. ब्रा. 1.19) हो जाते हैं ।

इस प्रकार की काव्यात्मक व्याख्या शैली अथवा समीकरणों का प्रयोग ब्राह्मणों, आरण्यकों में देखकर, प्राय: आधुनिक विद्वान् भौचक्के रह जाते हैं, और कभी-कभी इसे अर्थहीन या पागल प्रलाप मान बैठते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के प्रयोग उन वेदमन्त्रों के सन्दर्भ में किये जाते हैं जो कर्मकाण्ड में विनियुक्त होते हैं । उदाहरण के लिये, ऐ.आ. 3.1.6. को लेते हैं जहाँ कहा गया है कि "अध्ययन और भाषण के समय प्राण वाक् में रहता है, तब प्राण को वाक् चाटती है, परन्तु मौन रहते या सोते समय, प्राण में वाक् रहती है तो प्राण वाक् को चाटता है । यह व्याख्या वस्तुत: ऋ.10.114.4) से सम्बन्ध रखती है जो इस प्रकार है —

एक: सुपर्ण: समुद्रमाविवेश स उदं विश्वं भुवनं वि चष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यन्ति ततस्तं माता रेल्हि स उ रे रेल्हि मातरम् ॥

ओझा जी ने इसी प्रकार के व्यापक तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर वेद की पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते हुए जो ब्रह्मविज्ञान प्रस्तुत किया है वह निस्संतेह स्तुत्य है, परन्तु उसका समुचित उपयोग तभी होगा जब हम इन परिभाषाओं का सन्दर्भ मन्त्रों में खोज निकालें और फिर वेद व्याख्या में जुटें ।

दम

यह प्रयास वेदविज्ञान के कार्य को आगे बढ़ाने के लिये अपरिहार्य है, परन्तु इसके लिये हमें ओझाजी के चरण चिह्नों पर चलते हुए आगे बढ़ना है और उन बिन्दुओं को भी खोजना है जो अभी तक अन्धकार में हैं । ऐसा असम्भव नहीं है क्योंकि वेदमन्त्रों में कहीं कहीं ऐसा अद्भुत रहस्यवाद है कि हम सब शब्दों के अभिधेयार्थ जानते हुए भी उन शब्दों की पृष्ठभूमि में निहित तात्पर्य को निकालने में असमर्थ होकर कहने लगते हैं कि अमुक सूक्त या मन्त्र रहस्यात्मक है । इस विवशता का कारण है रहस्य छिपाने की वह वैदिक कला जो इतनी बहुमुखी है कि उसको समझना कभी-कभी तो असम्भव हो जाता है । उदाहरण के लिये 'दम' शब्द को लेते है जो सम्पूर्ण ऋग्वेद में केवल एक बार (ऋ. 6.3.7) ही प्रयुक्त है, यद्यपि इसी के सजातीय दम, दमूना, दमिता आदि बार-बार प्रयुक्त हुए

हैं। मन्त्र में अग्नि को सुपत्नी, रोदसी में 'दं' लाने वाला या देने वाला माना गया है। अन्यत्र अग्नि दम्पती को समनसा (ऋ. 5.3.2) करने वाला है, जबकि स्वयं समनसा दम्पती (ऋ. 8.31.5.) सोम का अभिषवण करते हैं। इसलिये यह मानना उपयुक्त ही है कि पूर्वोक्त 'सुपत्नी' शब्द दम्पती का समानार्थक है और उसे अग्नि जो 'दं' देता है वह उसी 'सामनस्य' का बोधक है जिसके कारण 'दम्पती' को 'समनसा' कहा जाता है। धातुपाठ में 'दम् उपशमे' द्वारा 'दं' को उसी प्रकार 'अहंकार' का उपशमन करके सामनस्य देने वाला माना गया है जिस प्रकार 'शम्' को इस तरह, आदर्श पति पत्नी जहाँ 'दं' को प्राप्त करने वाले 'सुपत्नी' कहे जा सकते हैं उसी प्रकार उन्हें 'दं' से युक्त 'दम्पती समनसा' कहना उपयुक्त था। इसी अहंकार को शमन करने वाले 'दं' देने के कारण अग्नि को बार-बार 'दमूना' कहा गया है और जिस घर-परिवार के लोग अपने अहंकार का शमन करने में समर्थ हैं उसकी संज्ञा वेद में 'दम्' है। जहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने-अपने 'अहम्' का शमन करने में समर्थ है वही घर 'दम्' है और ऐसे प्रत्येक परिवार में 'शम्' (ऋ. 6.74.1.) स्थापित होता है। अग्निदेव स्वयं युवा गृहपति होकर ऐसे प्रत्येक गृह में (दमे दमे) पञ्च ज्ञानेन्द्रियों को अभिभूत करके आसीन (ऋ. 8.15.2) रहता है।

अहंकार-शामक यह अग्नि पारिवारिक जीवन को ही नियंत्रित नहीं करता, अपितु उसका प्रभाव 'गण' (समूह) पर भी पड़ता है। अत: एक सूक्त में जहाँ इस अग्नि को प्रत्येक ऐसे घर में (दमेऽदमे), मन, अहंकार और पंच ज्ञानेन्द्रियों के नियन्त्रक सप्तविध रत्न (दं) को देने वाला (ऋ. 5.1.5) कहा गया है, वही सामूहिक जीवन की बागडोर (गणस्य-रशनाम्) सम्भालने तथा उसे पवित्र किरणों से लिप्त करने वाला (वही, 3) भी बताया गया है। अत: इसी अहंकार शामक अग्नि का 'विशेऽविशे ईडय:' (प्रत्येक प्रजावर्ग में पूज्य) कहकर स्मरण किया जाता है (ऋ. 4.7.1) और उससे प्रार्थना रूप में कहा जाता है कि 'हे अग्ने !' तेरा 'देवस्य चेतनम्' कब प्राप्त होगा ? कब सब मनुष्य तुम्हें सम्पर्ण प्रजाओं के मध्य पूजनीय (ईडयम) रूप में प्राप्त करेंगे ? कब तक नैतिकतामूर्ति सुज्ञानी (ऋणवानं विचेतसम्) को अहंकारशमित घर-घर (दमे दमे) में नक्षत्रमण्डित आकाश के समान देखते हैं ? (ऋ. 4.7.2-3)। ऐसे प्रत्येक घर (दमे दमे) के अध्वर यज्ञ को समिद्ध करने वाला यही पुरोहित, अतिथि और ज्ञानी (वेधा) कहलाने वाला एवं सभी जनों (विश्वा जातानि) पर दृष्टि रखने वाला अग्नि (ऋ. 1.128.4) वस्तुत: वही इकस्पद का अग्नि है जिससे ऋग्वेद के उपसंहार मन्त्र में (ऋ. 10.191.1) सबको संगठित करने के लिये (संसमिद् युवसे) सब अर्यो को एकत्र करने की प्रार्थना की गई और जो हमें 'संगच्छध्वम्' का आदेश देकर अन्त में सु-अह+अस्तित्व के निमित्त 'समानमस्तु वो मन:' का आशीर्वाद देता है।

अभिप्राय यह है कि पति पत्नी को सुपत्नी अथवा दम्पती बनाने वाला पूर्वोक्त 'दं' पदवाच्य अहंकार-शामक तत्त्व ही न केवल पारिवारिक जीवन को शान्ति, समृद्धि और सन्मति प्रदान करता है,

अपितु वही स्वस्थ, संगठित एवं अनुशासित प्रजातन्त्र का मार्ग भी प्रशस्त करता है। पतिपत्नी को दंपती बनाने वाला यह 'दं' प्रत्येक घर को 'दम' बनाता हुआ सम्पूर्ण समाज को सुमति-सम्पन्न और सामनस्य-पूर्ण करके आदर्श समाज को जन्म देता है। जिस घर में पति-पत्नी 'दं' द्वारा अपने अहंकार का उपशमन करके 'एक-अहम्' बन जाते हैं, वहाँ बच्चे भी कर्त्तव्यनिष्ठ तथा अनुशासित जीवन जीने के अभ्यस्त हो जाते हैं। इसी जीवन का जब व्यापक प्रसार हो जाता है, तो समाज के जन भी परहित और सेवाभावना को श्रेयस्कर समझकर गाँधीजी की कल्पना के अनुरूप 'ग्राम-स्वराज्य' की स्थापना करके और सच्ची 'बुनियादी शिक्षा' को आधार बनाकर पूरे देश में 'राम-राज्य' लाने में सफल हो सकते हैं। वैदिक 'दं' द्वारा 'दम' बने परिवार एवं समाज में स्थापित होने वाला वह इस प्रकार का स्वराज्य था जिसे कभी भारत ने दूसरे देशों को, विशेष कर पाश्चात्य देशों को दिया था। इसीलिये विलड्यूरां ने विश्वसंस्कृति का बृहद् इतिहास लिखते हुए भारत को गणित, दर्शन और विज्ञान के साथ ही डेमोक्रेसी को देने वाला कहते हुए भावविभोर होकर कहा कि, "India is mother of us all" (भारत हम सब की माता है)। यहाँ यह स्मरणीय है कि डेमोक्रेसी शब्द जिस ग्रीक Demos से निष्पन्न हुआ है वह पूर्वोक्त वैदिक 'दम' शब्द ही है जिसे हम 'अहंकारशामक दं' से उद्भूत कह चुके हैं। भारतीय डेमोक्रैसी जो विदेश को गई उसका मूलाधार शरीर केन्द्रित अहंकार का उपशमन (दं) है। वेद में अहंकार को अहि (सर्प) के रूप में कल्पित किया गया है। अत: अहिंसा का अर्थ है अहंकार रूप अहि का त्याग। गाँधी जी द्वारा अहिंसा को इतना अधिक महत्त्व देने का कारण यही है, क्योंकि अहि के त्याग बिना प्रेम, दया, सेवा, सह-अस्तित्व आदि कुछ भी सम्भव नहीं। गाँधी जी के अनुसार अहिंसा कोई नकारात्मक कल्पना (हिंसा का अभाव) नहीं अपितु व्यापक प्रेम रूप सकारात्मक संज्ञा है।

दमूना-अग्नि

मनुष्य में उक्त दं का उन्नयन करने वाला मेध नामक एक विशेष वज्ञान तत्त्व है। वैदिक भाषा में उसका नाम 'दमूनस्' है। भेद-भाव के द्वैत को समाप्त कराने वाले 'अद्वयाविनम् ज्ञानाग्नि रूप दमूनसम्' (ऋ.3.2.5) को मनुष्य व्यक्तित्व के लिये एक विश्वदृष्टा शुचि एवं स्तुत्य रथ के रूप में कल्पित किया जाता है। दीर्घता-प्राप्त दमूनस् अध्वर (यज्ञ) स्वरूप है (ऋ. 8.50.10) जिसे दिव्य मेधा सम्पन्न 'मेध' भी कहा जाता है। जागरूक साधकों द्वारा जिस 'दम' में ज्ञानाग्नि को समिद्ध किया जाता है वह "इकस्पद" है (ऋ. 10.91.1)। अन्यत्र (ऋ. 10.191.1) इकस्पद में समिद्ध इसी ज्ञानाग्नि को सु-सह-अस्तित्व के उपदेष्टा रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसे सामान्य अर्थ में अग्नि न समझा जाय, इसी दृष्टि से इसे विप्र साधकों को दक्ष-बल जुटाने वाले 'अग्निधम् दमूनसम्' ऋ. 10.41.3) कहकर याद किया जाता है। अहंकार के उपशमन से 'दम हुये मनुष्य व्यक्तित्व रूप गृह का गृहपति 'दमूनस' नामक ज्ञानाग्नि (ऋ. 1.68.5) होता है, अन्यथा कभी-कभी वह अतिथि (ऋ. 5.1.8) होकर

मार्जनीय तत्त्वों का मार्जन तथा अन्य को अपने 'सह' बल से अभिभूत करने आ जाता है। इसीलिये, मनुष्य-व्यक्तित्व की नश्वर-अनश्वर सभी शक्तियाँ बुद्धियों द्वारा (धीभिः) इस 'दमूनसम् गृहपतिम्' की कामना करती हैं (ऋ 9.11.5.)। ऐसा क्यों न हो,क्योंकि यह दमूनस् तत्त्व मनुष्य के भीतर आध्यात्मिक यज्ञ का विस्तार करने वाला तथा कल्मषों को दूर करने वाला (अभिशस्तिहा) रथी (ऋ 3.3.6) है जिसके कारण मनुष्य के सभी कर्म दिव्यता प्राप्त करके 'दमूनसः अपसः' होकर वर्षणशील ज्ञानाग्नि की पत्नियाँ और नदियों (ऋ 5.42.12) के रूप में कल्पित हुए हैं।

दूसरे शब्दों, अहंकार-शामक 'दं' का उन्नयन करने वाले और मनुष्य देहरूपी गृह को 'दम' में परिणत करने वाले 'दमूनस' को वेद में व्यक्तित्व-निर्माण का सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। इस दृष्टि से 'नित्य दमूना' को यह कामना करनी है कि जिसके लिये सविता देव ने ॐ की पूर्वोक्त 'इतिकरण मूलक ईम्' को उत्पन्न किया अथवा जिसके लिये भग या अर्यमा को अपनी किरणों से 'ईम्' को व्यक्त करना है उसी के लिये वह 'चारु' (ॐ ब्रह्म) हो (स्यात्) और आच्छादनशील हो (छादयतु) अर्थात् सर्वव्यापक रहे (ऋ 10.31.4) इसी क्रम में आगे प्रश्न किया गया — "वह ॐ इति' कहलाने वाला कौन सा वृक्ष है जिससे इतऽऊति' रूप संयुक्त (संस्थाने इति) तथा अजर द्यावापृथिवी निकाले गये (वही 7)। अगले ही मन्त्र में उत्तर इस प्रकार है — "इस ॐ के अतिरिक्त अन्य कोई भी 'पर' सिंचनकर्ता (उक्षा) नहीं है जो द्यावापृथिवी का भरणपोषण करता है। जब ईम् को सूर्य के समान किरणें वहन करती हैं तो व्यक्ति स्वधायुक्त होकर अपनी त्वचा को पवित्र करता है।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि द्यावापृथिवी रूप में कल्पित देवता द्वन्द्व उस चेतना-मिथुन का बोधक है जिसे ईम् का 'इत' और ॐ की 'ऊति' माना गया है। अभिप्राय यह है कि 'ॐ' की जो 'ईम्' नामक शक्ति अव्यक्त रहती है उसे पूर्वोक्त भग और अर्यमा व्यक्त करते हैं तभी ईम् के इतिकरण द्वारा ऊर्ध्वमुखी 'इत' (पृथिवी) नामक चेतना का अवतरण होता है तथा दोनों का मिथुन रूप उक्त देवता द्वन्द्व का रूप ग्रहण करता है। जिसे वेदमन्त्रों में सभी देवों के मातरौ अथवा पितरौ के रूप में वर्णित किया जाता है।

देवपुरी अयोध्या

उक्त द्यावापृथिवी से उत्पन्न जिन देवों के कारण मनुष्य व्यक्तित्व को अयोध्या नाम देवपुरी (अ.वे. 10.2.31) माना गया है वे सभी देव उस ब्रह्म के ब्रह्माः (वही 29) हैं जिसे उक्त अयोध्या के 'हिरण्ययकोश' नामक ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग का 'आत्मन्वत् यक्ष' (वही 32) बताया गया है। मनुष्य व्यक्तित्व अयोध्या नामक देवपुरी तभी होता है जब पूर्वोक्त 'दमूनस्' अहंकार रूप वृत्रासुर उपशमन करने में समर्थ होता है। इसी कारण दमूनस् को देवों का 'अनुसाधन' करने वाला अथवा उनका केतु (ऋ 3.1.17) कहा गया है। जब देवों को पर्वतों के रूप में और देवियों को उनसे प्रवाहित होने वाली सिन्धुओं के रूप में कल्पित किया जाता है, तो दमूनस् को इन दोनों का मित्र ही नहीं अपितु समिद्ध

अग्नि, वरुण, मित्र, होता तथा अध्वर्यु (ऋ 3.5.4) भी कहा जाता है । जब मनुष्य देह में होने वाले यज्ञ में वह (दमूनस्) अतिथि होकर सभी अभियुक्तों (आसुरी शक्तियों) का ज्ञाता होकर आता है, तभी वह शत्रुओं का वध करके आध्यात्मिक भोजन (ऋ 3.9.5) जुटाता है अथवा स्वयं 'ॐ इति' दमूनस् रूप देव सविता होकर भक्त के लिये उस 'वाम्' को अधिकाधिक जन्म देता है जो ऋ 1.164 में त्रिविध, सप्तविध आदि रूपों में वर्णित होकर देवों के नानात्व में प्रकट हुआ कहा जाता है । दूसरे शब्दों में, अहंकार-रूप अहि का उपशमन करने वाले जिस 'दं' को पाकर द्यावापृथिवी (रोदसी) सुपत्नी अथवा दंपती होते हैं, उसी 'दं' का उन्नयन करने वाला 'दमूनस' मनुष्य व्यक्तित्व को देवानाम् पूरयोध्या रूप देने में द्यावापृथिवी दम्पती के साथ महती भूमिका निभाता है ।
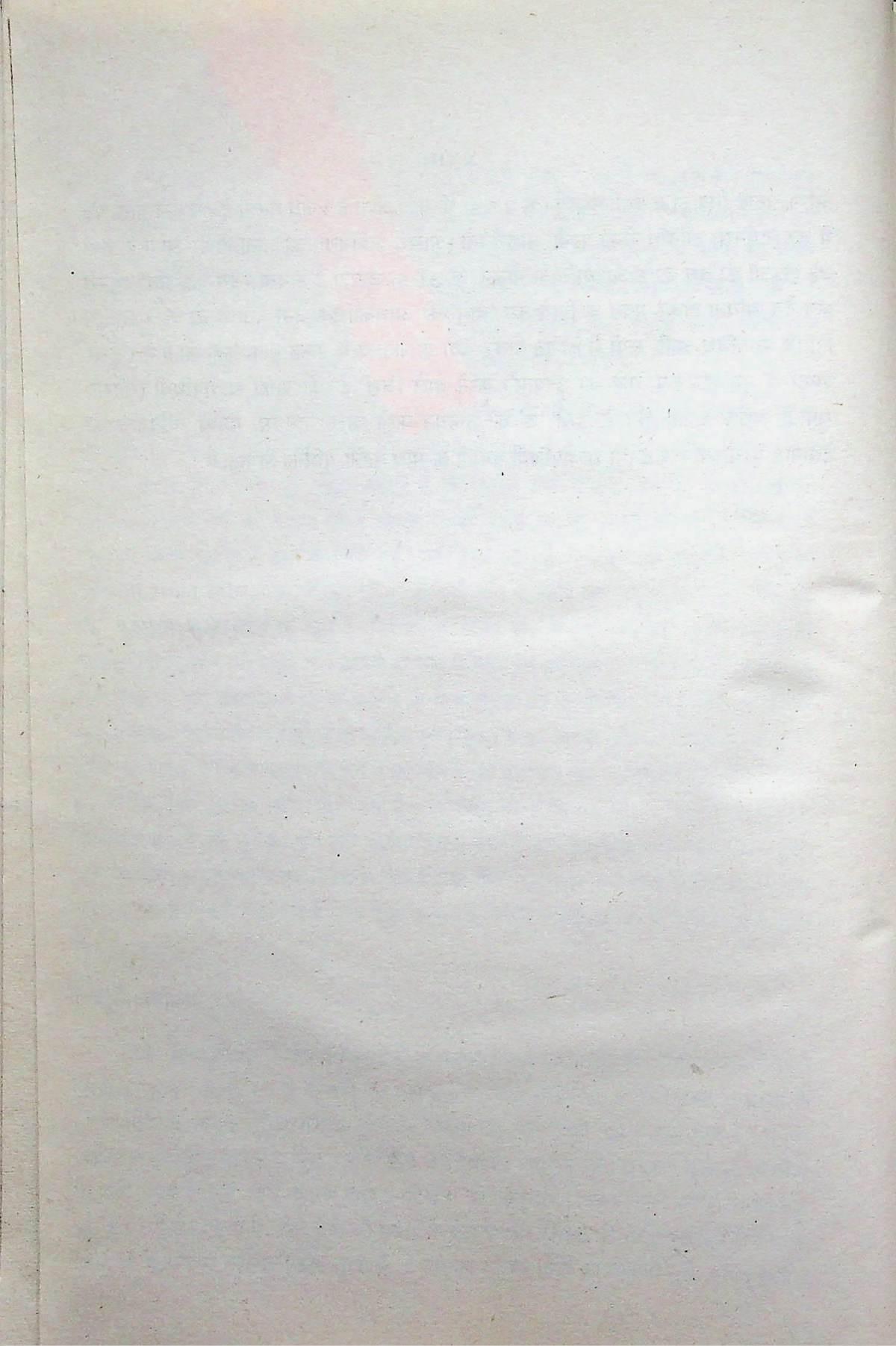
Vidyavachaspati Pandit Madhusudan Ojha : The great authority on Vedic rituals

C.G. Kashikar

The latter part of the nineteenth century gave birth to a number of Savants in India who enkindled the light of knowledge in the minds of generations in India. Vidyavachaspati Pandit Madhusudan Ojha was one among them. His entire life was an embodiment of search for knowledge. He acquired knowledge in all its dimensions and tried to propagate it mainly through his writings. He belonged to a Maithila family well known for its traditional learning. Panditji studied thoroughly all the texts in Veda and Shastra, probably not satisfied with their superficial meaning, he strived to arrive at their inner sense. Philosophy of Veda as propounded by him may favourably be compared with the mysticism in Veda exposed by Sri Aurobindo and others. Attempts have been made to bring out the significance of the teachings of Veda as explained by Ojhaji.

The purpose of the present paper is a limited one. Here we have to take a consolidated review of Pandit Ojha's expositions pertaining to the Vedic Yajna and allied subjects as found in his Sanskrit essays collected in his valuable work *Yajnamadhusudana*. Herein Panditiji's treatment of the subject is explicitly based on Vedic scriptures. His *Smartakarmakandadhyaya* may be regarded as the offshoot of Vedic rituals and thus not directly based on original Vedic scriptures. He has not brought in here his symbolical interpretations.

Pandit Madhusudan Ojha who dived deep into the ocean of traditional knowledge thought it expedient to enlighten his fellow-countrymen and others on the great Indian heritage, impart to them knowledge in all its aspects and arouse in them the respect for the achievements of their forefathers. He went on writing and produced a vast amount of literature. Only a part of it has come to light. Even that small part amply shows his vast knowledge and his faculty of analysis and synthesis.

Under the title *Yajnamadhusudana* Ojhaji collected the information on Vedic and Hindu rituals. It seems the original plan was to present the information about Yajna in three Kandas - the Pratipattikanda comprising six Adhyayas, the Prayogakanda consisting of three Adhyayas, and the Pracinapaddhatikanda consisting of thirteen Adhyayas. The names of all these twenty two Adhyayas forming the three Kandas have been mentioned in the Introductory part of his *Smartakundasamikshadhyaya* - the second Adhyay of *Yajnamadhusudana* which was published first (pubished by Shri Mathuraprshad Shivahare Prabandha at Ajmer 1928). They are : (kanda I) 1 Viharasamikshadhyaya 2 Smartakundasamikshadhyaya 3 Upakaranasamikashadhyaya 4 Yajnapracayasamikshadhyaya 5 Karmanukramanikasamikshadhyaya 6 Yajnarahasyasamikshadhyaya (Kanda II) 7 Devabhashadhyaya 9 Yajnakalpadrumadhyaya 9 Agnicayanadhyaya (Kanda III) 10 Adhana 11 Agnihotra 12 Darshapurnamasau 13 Caturmasya 14 Agrayana 15 Pashubandha 16 Sautramani 17 Jyotishtoma (the 18th is missing; it may be Pravargya), 19 Rajasuya 20 Vajapeya 21 Ashvamedha and 22 Gavam ayana.

Another Part of Yajnamadhusudana was edited and published by Shri Adyadatta Thakur. It was published in 1930 at Lucknow. The title page of the book shows that *Yajnamadhusudana* comprised the following nine Adhyayas- 1-Viharadhyaya 2. Smartakundadhyaya 3. Mantropacaranadhyaya 4. Yajnopakaranadhyaya 5. Yajnavitapadhyaya 6. Karmanu-Kramanikadhyaya 7 Adhidaivikadhyaya 8. Adhyatmikadhyaya, and 9 Sarvayajnikadhyaya. The pat itself contains the Yajnopakaranadhyaya, Yajnavitrtpadhyaya, and Karmanukramanikadhyaya. Thus the four Adhyayas published so far are the same as Adhyayas 2-5 of the Pratipattikanda as mentioned in the Smartakundasamikshadhyaya (published in 1928) and 2,4,5 and 6 as mentioned in Part II (published in 1930).

The following remarks are based on the text of these four Adhyayas. It will be proper to take up the Smartkundadhyaya after consideration of the other three Adhyayas dealing with the Shrauta rites.

From all chapters contemplated by the Panditji it becomes clear that basically he aimed at the discussion of the Shrauta rites which are principally laid down in the Vedic texts. His treatment of the subject shows that he had obtained a thorough knowledge of the Vedic rituals by closely studying the numerous Vedic texts and also had acquired a practical knowledge. He has appended to his book the charts of sacrifical implements and also diagrams showing the procedure of Gavam Ayana. He has written a correct and stylish Sanskrit. His information is based on the authority of numerous Vedic and other Sanskrit texts.

Panditji has opened his part II with the treatment of the Yajnopakaranadhyaya. In the heading it is said to be the second. In the list of nine Adhyayas given on the title page of Part II it is the fourth, and in the list given in the introductory pages of Smartakundadhyaya it is enumerated as the third in the first Pratipattikanda. In the Yojnopakaranadhyaya Panditji has quoted directly or indirectly from the Shankhayana Shrautasutra belonging to the Rigveda, Shatapatha Brahmana belonging to the Shukla Yajurveda Madhyamina recension, and the Katyayana Shrautasutra, Chandoga Parishishta Karmapradipa and Grihyasamgraha belonging to the Kauthuma Samaveda. It is natural that Panditji who belonged to the Samaveda quoted profusely from the Samaveda literature.

In the opening topic on the selection of the officiating priest Ojhaji has said that while choosing his priests the sacrificer should take into account their caste, Gotra, Pravra, Veda, Shakha (the word sikha printed in the book p.4 is a mistake) and Sutra. Panditji took this occasion to give an account of himself यथाहं: ब्राह्मणः तस्य मे शाण्डिल्यगोत्रम्, शाण्डिल्यासित देवलेतिप्रवरस्त्रयः, सामवेदः कौथुमीशाखा गोभिलसूत्रं चेति (p.5) For example, I am a Brahmana belonging to the Shandilya gotra with the three Pravaras, namely, Shandilya, Asita and Devala; my Veda is Samaveda; the school is Kauthuma, and the (Grhya) Sutra is Gobhila." Consequently in the treatment of the subject in his Yajnamadhusudana, Panditji has demonstrated a sound and detailed knowledge of the Vedic and post Vedic rituals particularly following the Samaveda tradition. Panditji has quoted passages from the texts of the

Shankhayana recension of Rigveda and Shukla Yajurveda Madhyahdina recension. This is quite appropriate because traditionally there has been collaboration among the followers of Kauthuma Samaveda, Shankhayana Rigveda and Madhyamadina Shukla Yajurveda in the Shrauta rites. If the sacrificer belonged to one of these three Vedic recensions, the Adhvaryua, Hotri and Udgatri together with their assistants were those who followed the Madhyandina Yajurveda, Shankhayana Rigveda and Kauthuma Samaveda respectively.

Yajnopakaranadhyaya

The Yajnopakarana chapter is divided into four sections : Yajakabrahmanadhikara, Yajnavrikshadhikara, Yajnapatradhikara, and Havirdravyadhikara. The first section deals with the persons participating in a sacrificial performance. These persons are divided into three groups : Pradhanapurusha, Ritvikpurusha and Anritvikpurusha. The first category includes the sacrificer, his wife and the family-priest (purodha). The family priest functions only in the temporary absence of the sacrificer. The second category comprises the officiating priests (Ritvij) chosen by the sacrificer. Mention has been made that the officiating priest functions in a sacrifice "within the alter" (antarvedi - p.3.). Here by the word vedi one has to understand the entire sacrificial place, not the limited area of the vedi itself. An officiating priest is required to move within the sacrificial place as the rite demands.

Panditji derives the word ritvij in his own way: ritvij is one who offers to or with the ritus - the five parts of Agni in the form of a year also known as rita ऋतापरपर्यायस्य संवत्सराग्नेः पञ्चमो भागः ऋतुरिति उच्यते (p.3). Really the ritvij is one who offers at the proper time (ritu). Agnisvamin in his bhashya on latyayan SS I.1.7 gives the etymology as ऋतौ यजतीति ऋत्विक्. The basic meaning of the word ritu is a measure of time (Ri to go + tu), a fixed point of time. When a sacrificer goes alone on journey, his sacred fires are maintained by his wife. The Adhvaryu or some priest offers the Agnihotra in the evening and the morning at the fixed hour. At that time the sacrificer who is away prays to his sacred fires (cf. Bharshs VI 5.4 - ऋतु प्रति उपतिष्ठते). Ritu in the sense of a season has an extended meaning.

The Brahman priest-one of the four chief priests supervises the sacrifical performance. In case any deficiency occurs, he offers an expiation. Therefore he is required to have the knowledge of the sacrifical procedure according to all the three Vedas RiK, Yajus and Saman. There are scriptural injunctions to this effect and Pandit Ojha refers to them. In this connection it may be observed that the fourth Veda, namely, the Atharvaveda also claims Brahman priesthood. The Gopatha Brahmana of the Atharvaveda has elevated the position of the Brahman priest who plays a more important role in the Atharvaveda-rituals. The Atharvaveda literature emphatically says that the Brahman priest must always be a follower of the Atharvaveda. This however is not feasible because the Atharvavedic Brahman is hardly expected to be apprised of the functions to be observed by the other three principal priests. If he is ignorant about them, he will not be able to supervise their functions and offer expiations in the event of any deficiency on their part. It may be legitimate to say that in the sacrifice to be performed by an Atharvavedic sacrificer, the Brahman should be an Atharvavedin.

A Soma-sacrifice is to be performed with the help of sixteen officiating priests. There is also the seventeenth priest named सदस्य, who is to be chosen by the sacrificer. Pandit Madhusudan Ojha holds the view that the Sadasya cannot be called a priest because he is not a ऋत्विज्; he does not perform any rite. As a matter of fact, the Sadasya is formally chosen along with the other priests in a Soma-sacrifice. Even the Shadvimsha Brahmana (2-10) of the Samaveda speaks about his formal choice. The Sadasya, like other priests, receives Dakshina from the sacrificer. On the Sutya-day eleven Chamasas filled with Soma are offered to the relevant divinity side by side with the Soma-cup (graha). The remnants of these Chamasas are partaken of by certain priests as well as the sacrificer. Among these there is the Sadasya who each time consumes the contents of his Chamasa to the accompaniment of relevant mantra. There are several references to the presence of the Sadasya in a Soma-sacrifice and his participation along with others (cf BaudhShS VII;1 VIII. 12, XXV.13). Pandit Ojha seems to have laid stress on a sutra from the Latyayana Srautasutra saying that while the priests are moving

out of the Sadas, the Sadasya should be seated there (सर्पत्सु न शून्यं सदः कुर्यात्-LatySS II.4.13). This however does not mean that the Sadasya does not function at all in a Soma-sacrifice. Even the next sutra says that in a soma-sacrifice the Sadasya is required to function until the rite of DadhibhaksHea (तस्य दधिभक्षान्तं कर्म - Laty sh s IO.4.14). Thus even according to Latyayana the Sadasya is not without a function. There are also other references to the Sadasya in the Latyayana Shrautasutra (II.3.6; 4.10) In the vajapeya Sacrifice seventeen priests are required to be chosen. The Sadasya is essentially one among them. Thus the Sadasya, when chosen, enjoys the same position as the other priests in a Soma- sacrifice.

Panditji has mentioned the functions of the sixteen priests (p.9). Here the function of two priests, namely, the Brahmanacchamsin and the Potris are not mentioned. These two belong to the Brahman's group. They are counted among the seven Hotrakas. The Brahmanacchamsin recites Shastras and the Potri recites a Ritu-Yajya along with the other Hotrakas.

The third group of the offering persons consists of non-priests (anritvij). They include the Somapravaka who gives invitations to the priests on behalf of the sacrificer, and the attendants (parikarmin).

The second section of the Yajnopakaranadhyaya is Yajnavrikshadhikara. In this section the names of sacrificial trees, their synonyms in Sanskrit and regional language, their medicinal properties and uses have been given. The names of trees are the following : 1 Palasha 2 Khadira 3 Plaksha 4 Vata 5 Ashvattha 6 Udumbara 7 Kramuka 8 Varana 9 Bilva 10 Shami 11 Vikankata 12 Karshmarya 13 Sarala 14 Shala 15 Devadara and 16 Chandana. The wood of some of these is employed in Smarta rites. Even though the medical properties and uses of all these trees have been laid down here, it cannot be said that these trees were employed in ritual in consideration of medicinal properties. The wood of certain trees has been prescribed in the Brahmanas and Shrautasutras for preparing specific sacrifical implements like the Juhu-ladle. Certain trees have been prescribed for being used as sacrificial posts. The Varana tree has been particularly prescribed in the Vedic exorcistic rites.

The third section is designated as Yajnapatradhikara in which nine types of sacrificial implements have been described. Basically patra is a utensil from which one drinks. Thus in a Soma-sacrifice Grahas (cups) and Chamasas (Goblets) are called patras. The meaning was further extended to denote an implement in general. The first of the nine types consists of the constitutents of the contrivance used for churning fire. There is a piece of wood called Adhimanthanashakala which is used at churning, Ojhaji has said that this piece of wood is to be placed below the upper kindling wood (अधिमन्थनशाकलस्तूत्तरार्णेरधस्तात् स्थाप्य:- p. 24) In fact it is to be placed below the lower kindling wood (adhararani) as is stated in several Brahmana and Sutra texts. The second type consists of Shruc-Lades which are said to be five- Shruva, Dhruva, Juhu, Upabhrit and Agnihotrahavani. Really speaking the Shruva is not a ladle; it is a spoon whose pattern differs from ladles. The third type is called ayudhani. There are ten Ayudhas which are mainly used in the Darshapurnamasa sacrifices. It has been stated that these are called ayudhas because the Darsha-Purnamasa bears the character of a battle (darshapurnamasayor Yuddharupatvat - p.26). There is no scripture in which Darsha-Purnamasa have been compared with a battle. The word ayudh denotes a means. The Taittiriya Samhita I 6.8.2 reads: Yajnayudhani sambharati Yajno vai Yajnayudhani yajnam eva tat sambhrati. Sayana in his commentary on this says : Yajnasya sadhanatvad ayudhani' tyucyante. The Shruv which is earlier described by Ojhaji as a second type is in fact enumerated among the ten yajnayudhas.

Sixteen sthalis are enumerated in the fourth type. There is a reference to a hundred-pored vessel (shatatrina wronghy printed as shatatrshna - p.28). There is such a pan which is used in the Sautramani sacrifice for pouring down the wine (sura) on the Dakshinagni. But the sentence teshu tavad iyam sthali satatrshna bhavati is not clear. On p.29 phalikarna patra is mentioned. It seems by the word phalikarana the author understand the "husk". But "Husks" is the meaning of tusha. Phalikarana means the chaft of grains which are obtained after pounding the rice-grains which themselves are obtained by thrashing paddy. See also p.37.

As the fifth type ten Chamasas made of wod are mentioned. As we have already seen, there is also an eleventh Chamasa for the Sadasya.

Grahas or wooden Soma, cups have been mentioned as the sixth type, the Putabhrit and Adhvaniya included herein are really earthen jars. Under the title Upayojanapatrani minor implements employed in the sacrifical rituals have been enumerated. Among these there is a term juna (f.) a cord made of darbha-blades. The corresponding word in the Katyayana Shrautasutra I.3.14 is yuna (n). Side by side with an asandi (wooden stool woven with munja grass) for king Soma, there is also the Samradasandi meant for depositing the inplements used in the Pravargya rite (on p.36 the word carmanidhanartham seems to be a misprint for gharmanidhanartham). There are two more types of utensils, namely, pratisvika (specific) and Asanas (seats).

The fourth and the last section is Havirdravyadhikara. This section deals with four types of oblation-materials : (i) obtained from the animals, (ii) from plants, (iii) natural or incidental, and (iv) actual offering materials. Each type consists of a number of objects. In the third type called Uttaradravyani there are thirteen objects (Yagadravyani). Among these there is a Pasupurodasha which is made of grains and is a principal offering like the omentum (vapa) and animal-organs (angani) in an Animal sacrifice. The organs are to be cooked before offering. The sequence of offerings is the omentum, the Pashupurodasha and the organs. It is stated in this context that those cooked organs are the Pashupurodasha (tany eva pasupurodasah - p.40). In fact the Pashupurodasha and organs are different objects. Some confusion seems to have occured here.

The last one among the Yagadravyani is the Soma which is the principal offering material in a Soma-sacrifice. About the Soma the author says that it is a creeper which is available in Gandhamadana, Hemakuta and other mountains (p.41). The identification of Soma is a critical problem which has been discussed since the last century. The knowledge of genuine Soma was lost since the last so many centuries, and persons performing a Soma-sacrifice have been employing as Soma some suitable substitute which was available nearby and which was generally a creeper. There is therefore

now wonder that Pandit Madhusudan Ojha has called Soma a creeper. Really it is a perenninal plant (osadhi) - Soma species of the genus Ephedra (of my monograph : "Identification of Soma" published by Tilak Maharashtra Vidyapeeth, Pune 1990).

Among the things to be presented to an honoured guest the author has mentioned a bull which is to be offered after the Madhuparka (madhuparkanantaram gaur apyeko nivedyah - p.41) As a matter of fact, all the Sutra-texts have prescribed the offering of a cow, not a bull. Of course, the Sutrakaras have not forgotten to mention grains to be exchanged for the cow. Among the objects of Dakshina there is a Purnapatra, a pot filled with grains. While explaining the quantity of a Purnapatra, the author has cited a verse from Grihyasamgraha where it is stated that eight handfuls make a kunchi, eight kuncis a puskala, and four puskalas make a Purnapatra. Some texts wrongly read किंचित् in place of कुंचि. Ojha has collected information given in this chapter from the literature on Samaveda, on Shukla Yajurveda, on Shankhayana Rigveda and also from some other texts. At the end of this chapter he has appended a chart giving the diagrams of sacrifical implements employed in the traditions of Samaveda and Shukla Yajurveda.

Yajnavitapadhyaya

This second chapter is the fifth one according to the enumeration given in Part II and fourth of the first Pratipattikanda mentioned in Part I. This chapter is devoted to the manifold classification of the Vedic sacrifice. Some authors understand the term Yajna in a wider sense, according to them any offering, simple or complicated, is a yajna. They therefore regard the seven Pakasamsthas as Yajnas. Mainly a Yajna is a religious rite in which oblations are offered on the Ahavaniya fire to the accompaniment of the reciting of puronuvakya and Yajya. According to this definition even to Agnihotra-offering is not a Yajna.

Pandit Ojha has mentioned a fivefold division of Yajnas: (i) Shiroyajna (ii) Atiyajna (iii) Mahayajna (iv) Haviryajna and (v) Pakayajna. Shiroyajna is the Pravargya rite. The Atiyajnas are : Agnicitya, Vajapeya, Rajasuya and Asvamedha. Here Agnicitya is deemed as a Yajna. Agnicayana is of two kinds

according to Panditji; one is independent and the other is that which accompanies a Soma-sacrifice (p.3). So far as one knows, Agnicayana is never an independent rite.

Mahayajna, Panditji says, is of two kinds: one in which Soma is the principal offering, and the other in which Sura is the principal offering. The Soma-sacrifice is of five varieties : (i) Ekaha (ii) Ahina (iii) Ratri-Sattra (iv) Ayanasattra and (v) Mahasattra. He has recorded two views about these varieties, Pandit Ojha has further given the details about these five varieties. The peculiarity of Saman-chanting is mostly the principal factor of the distinction with regard to the various Soma-sacrifices. The Saman-chanting is the sphere of Samaveda. Ojhaji was himself a Samavedin. Therefore he has brought to bear his knowledge of the Saman-literature in giving these details. He has also collected information from the Shankhayana Shrautasutra belonging to the Rigveda and also the Vaitanasutra of the Atharvaveda.

Pandit Madhusudan Ojha has further discussed the arrangement of Saman in the various Soma-sacrifices (p.p. 17-22). While doing so, he has touched upon the philosophy of Saman following the deliberations in the Tandya Mahabrahmana. The etymology of the word saman has been variously given. Panditji quotes the authority of the Nidanasutra (Richa saman mene) and Yaskas Nirukta which seek the element sama, samya in the word Saman. Saman goes along with the rik. The philosophy of Saman in the Tandya Mahabrahmana is comparable to its counterpart in the Jaiminiya Brahmana and the Jaiminiya Upanishad Brahmana.

Pandit Ojha has further dealt upon the three fold Haviryajna-Ishti, Pashu and Pitrya with all its varieties including the expiatary and optional rites. In the Animal-sacrifice there are six priests. The list given on p.31 includes the Udgatr who is not required. Details of the Animal-sacrifice are given in a small Adhyaya of that name. The fifteenth is the Pratiipttikanda which is published. Pandit Ojha has collected information for the Yajnavitapadhyaya from even other sources like the Shrauta and Grhya Sutras belonging to the Rigveda and the Taittiriya and Maitrayani recensions of Krshna Yajurveda. At the end of this chapter charts of the various sacrifices constuting the Gavam Ayana have been given.

Karmanukramanikadhyaya

The third chapter in Part II of Yajnamadhusadana is the Karmanukramanikadhyaya which is said to be the fifth one. It is also the fifth in the first Pratipattikanda mentioned in part I. In the nine chapters mentioned on the title page of part II it is the sixth. This is a small chapter covering seventeen pages. Herein are enumerated the various rites constituting the Agnyadheya (18), Agnihotra (9), Darsha-Purnamaseshti (26) Agrayana (3), Caturmasyas (30), Nirudhapashubandha (34), Charakasautramani (9), Kaukilasautramani (55 in all, 29 according to the Ashvalayana- Shrautasutra) and Agnistoma (416). Lastly the main topics of Agnicayana have been mentioned in a few lines. The list of rites of the various sacrifices as given in the third chapter of Karmanukramanika are helpful for one who wants to study the procedure of those sacrifices. It may be observed that the items mentioned herein mainly pertain to the sphere of the Adhvaryu and his Veda. The Shastras to be recited by the Hotri and his assistants and the Samans to be chanted by the Udgatri and his assistants are not mentioned.

Smartakundadhyaya

The Smartakundadhyaya which was published at the outset in 1923 is the second chapter in the first Pratipattikanda mentioned in part I of Yajnamadhusudana and also the second in the list of nine chapters mentioned in Part II. The information collected in this Adhyaya is useful for performing all sorts of Samrta rites. Such rites are also Yajnas in the wider sense of the term. These rites are not derived from the Vedic texts. Their sources are the Puranas and various Nibandha tracts composed by teachers living in different parts of India in the medieval period. Pandit Madhusudan Ojha has laboriously collected information from our two scores of texts and has provided it with appropriate diagrams for easy understanding. He has also given a number of tables showing the measurements of the various Kundas.

In the first section the tables of measurements have been recorded. In the section one is asked to level the ground and make it fit for the

construction of the required Mandapa etc. to be constructed. The construction of the Mandapa for organising the intended religious rite is described in the fourth section. For that purpose the ground on which the Mandapa is to be erected is to be examined in various ways. The Mandapas are of different measurements. A Mandapa is to be provided with doors and a roof with a top. A raised platform called Vedi is to be constructed in the middle of the Mandapa. It is of different measurements. Then various Kundas are prescribed to be prepared within the Vedi. They are of different patterns and different measurements. The measurements depend upon the number of oblations to be offered in the fire kindled in the Kundas. The methods by which the Kundas of various patterns are to be prepared are generally based on practical experience. A few rules from the Shulvasutra have also been employed. Pandit Ojha has not forgotten to prescribe the construction of small and simple Kundas for minor and incidental religious rites when it is inconvenient for the householder to go in for a complicated and costly construction of Mandapas.

Pandit Madhusudan Ojha closely studied the principles and practice of the Vedic and Hindu religion and presented his findings through his numerous writings for the benefits of generations to come. Unfortunately many of his writings are not traced. Attempts need to be made so that all his writings - published and unpublished be made available in suitable volumes to the students of India's great heritage.

प्राचीन इतिहास : मधुसूदन ओझा की दृष्टि में

कलानाथ शास्त्री*

आज जब हम प्राचीन भारत का इतिहास छात्रों को पढ़ाते हैं तो सिंधुघाटी सभ्यता से या वेदों के समय से प्रारम्भ करते हैं। क्या उससे पूर्व भारत का इतिहास नहीं था? यदि वेद एक विकसित सभ्यता की परिणति हैं तो अवश्य ही उससे पूर्व भी हमारा कुछ इतिहास रहा होगा। वह कैसा था? हम अपना इतिहास कहां से शुरू करें? इस बात पर पिछली एक सदी से बहुत शास्त्रार्थ हुए हैं कि वेदों में इतिहास है या नहीं। वेदों में इन्द्र के द्वारा पुरों का भेदन, दाशराज्ञ (सुदास् आदि दस राजाओं के) युद्ध, शुनःशेप, हरिश्चन्द्र, याज्ञवल्क्यादि के संवाद आदि अनेक घटनाएं वर्णित हैं। क्या वह इतिवृत्तात्मक घटनाओं का उल्लेख है? लगता तो यही है पर इसमें एक कठिनाई आती है। हम वेदों को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं। वे ईश्वर की वाणी हैं और नित्य हैं। 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' (महाभारत)। यदि यह मानें कि उनमें कोई घटनाएं वर्णित हैं तो यह सिद्ध होगा कि इस वर्णन से पहले कुछ घटनाएं हुईं थीं अर्थात् ये ऋचाएं उन घटनाओं के बाद की हैं तो फिर वेद अनादि कैसे हुए? इस दृष्टि से वेदों में इतिहास मानते ही ईश्वरकर्तृत्व और स्वयंभूत्व स्वतः खण्डित हो जाता है। परंपरा तो वेद को अपौरुषेय मानती रही है पर बहुत से मनीषियों ने जो बुद्धिवादी और तार्किक थे, उसे एक दृष्टि से पौरुषेय माना है, कुछ ने अनादि नहीं माना है। उनके मत में तो इतिहास होना वेदों में संगत बैठ जाता है। कणाद ने कहा है 'बुद्धि-पूर्वा वाक्य-कृतिर्वेदे', 'ब्राह्मणेषु संज्ञाकर्मसिद्धिलिंगम्'। वाक्य तभी बन सकते हैं जब कोई बुद्धिपूर्वक उनकी रचना करे। तब वे अपौरुषेय कैसे हुए? जब हम ब्राह्मणों को भी वेद मानते हैं और वे ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि नाम से ऋषियों द्वारा निर्मित बताये गये हैं तो स्वतः वे ऋषि-कर्तृक हुए न? क्यों न उन्हें ऋषिप्रणीत मान लें? किन्तु हमारी परंपरा तो उन्हें अनादि और अपौरुषेय मानती है। जिन ऋषियों को जो विद्या सिद्ध हुई उनका नाम उसके साथ जुड़ गया। ऋषि केवल मंत्रद्रष्टा कहे जाते हैं, निर्माता नहीं। फिर उनमें इतिहास कैसे बताया जा सकता है? या तो उन्हें अपौरुषेय ही मान लो या उनमें से इतिहास निकाल लो। इस गुत्थी को सुलझाना बड़ा कठिन है।

क्या वेदों में इतिहास है?

आर्यसमाजियों ने (जो वेदों को अनादि, सृष्टि से पूर्व अवतीर्ण, और ईश्वर की प्रथम वाणी मानते हैं) जोर देकर यह सिद्ध किया है कि वेदों में इतिहास बिल्कुल नहीं है। इन्द्र का, सुदास् आदि राजाओं का जो उल्लेख है वह देवताओं का, ईश्वर का या विभिन्न वैज्ञानिक तत्वों का प्रतीकात्मक वर्णन है, इतिहास नहीं। महर्षि दयानन्द ने इसका पूरा विवेचन करते हुए यहां तक सिद्ध किया है कि

---

* सी-8, मञ्जु निकुञ्ज, पृथ्वीराज रोड़, सी स्कीम, जयपुर।

गंगा यमुना आदि का जो उल्लेख है वह भी नदियों के नाम नहीं है बल्कि इडा पिंगला आदि नाडियों के नाम हैं। किन्तु इन्द्र आदि के युद्धवर्णन, ऋषियों के संवाद, शुनःशेप आदि की कथाएं, देवों के अनेक पराक्रम वर्णन तथा वेदों के अन्य अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें इतिहास माने बिना काम नहीं चलता। इस पर विद्वानों ने बहुत विचार मंथन किया है और गुत्थी को सुलझाने के अनेक मार्ग निकाले हैं। हजारों पृष्ठ इस पर लिखे गये हैं। स्वयं महर्षि जैमिनि को यह द्वन्द्व खला था। वे यह मानने के बहुत पक्षधर हैं कि वेद नित्य हैं अतः उनमें मनुष्य चरित्र का उल्लेख नहीं है। पर कहीं राजाओं आदि के नाम पाये जाते हैं तो वह क्या हैं? वे कहते हैं वह अलग ही चीज है। किसी का नाम सूर्यनारायण हो तो वह सूर्य थोड़े ही हो गया। उनके दो सूत्र बहुत उद्धृत हैं - पूर्वपक्ष का 'अनित्यदर्शनाच्च' और सिद्धान्त का 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'। वेदों के भाष्यकार इन दोनों मार्गों के बीच भटकते रहे हैं। शबरस्वामी ने कहा है कि बबरः प्रावाहणि (जिसे प्रवाहण का पुत्र बबर - जो व्यक्तिनाम माना जाता है) आदि नाम जहां दिखलायी दें उन्हें वायु आदि तत्वों का वाचक मानो। बबर किसी का नाम नहीं है ब - ब करके बहने वाली वायु का नाम है। सायण ने भी वेदों को नित्य माना है पर भाष्य करते हुए अंगिरा को केवल तत्त्व न मानकर ऋषि (वंशपुरुष) भी मान लिया है। इन गुत्थियों को सुलझाने का एक मार्ग तो यह निकाला गया कि किसी अन्य कल्प में ये नाम और घटनाएं रहीं होंगी उनका उल्लेख अब किया गया है किन्तु इससे भी वेदों का अनादित्व खण्डित हो जाता है।

दूसरा दिलचस्प समाधान यह निकाला गया कि ईश्वर त्रिकालदर्शी होता है इसलिए उसने भविष्य की बातें पहले से ही बता दीं थीं। वही इतिहास वेदों में है याने वह भूतकाल नहीं, भविष्यत् काल है। म.म.पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी आदि विद्वानों ने इसी प्रकार के समाधान करते हुए परम्परा और शोधदृष्टि, दोनों में समन्वय किया है। किसी न किसी प्रकार का समन्वय किये बिना मार्ग नहीं निकल सकता। वेदों में भूतकाल जगह-जगह पर है। 'जज्ञे वसिष्ठः' 'ददर्श वाचम्' इत्यादि में लिट् लकार है। पर पाणिनि आदि उसे सामान्य वाचक मानते हैं, वह भविष्य वाचक भी हो सकता है, वर्तमानकालवाची भी। आर्यसमाजी विद्वान् उसे वर्तमान काल मानते हैं। वेदभाष्यकार स्कन्द-स्वामी भी ऐसा मानते हैं। आर्यसमाज को वेद में इतिहास देखना बिल्कुल पसन्द नहीं। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प्रथमतः आर्यसमाज के भी मान्य विद्वान् थे। उन्होंने वेदों में इतिवृत्त का विवेचन कर दिया। इस पर जयदेव विद्यालंकार आदि विद्वानों ने उनके खण्डन पर अनेक ग्रन्थ लिखे।

ओझा जी की इतिहास दृष्टि

इस गुत्थी को सुलझाने के लिये ओझा जी ने क्या मार्ग अपनाया यह देखने पर उनकी प्रतिभा का कायल हुए विना नहीं रहा जा सकता। उन्होंने इस प्रसंग में पूर्णतः शोधात्मक और वैज्ञानिक दृष्टि

अपनाई है । यह सर्वविदित है कि उनका बहुत बड़ा अवदान है । वेदों में विज्ञान की स्थापना तथा इस बात का सुसंगत विवेचन कि वेद में किस प्रकार सृष्टिविद्या आई है, भृगु, अंगिरा आदि ऋषिनाम तथा इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देवनाम किस प्रकार वैज्ञानिक तत्वों के प्रतीक हैं । उन्होंने इसका सुसंबद्ध शास्त्र संकलित कर एक नया युग ही शुरू कर दिया था । इन्द्र आदि देवों एवं अन्य व्यक्ति नामों तथा गंगा यमुना आदि नदियों को वैज्ञानिक तत्व बताने वाले स्वामी दयानन्द यदि यह सब देखते तो हर्षित हुए बिना नहीं रहते । मधुसूदन जी ने जब अध्ययन शुरू किया उसी के आसपास दयानन्द का निधन हो गया (1883) । दोनों के समयों में इतना सा ही अन्तर है । ओझाजी ने जिस प्रकार विज्ञान की स्थापना करके वेदों की व्याख्या को नई दिशा दी उसी प्रकार इतिहास की स्थापना करके भी एक नया मार्ग निकाला । पं. गिरिधर शर्मा ने उनके दो अवदान माने हैं — विज्ञान की स्थापना और इतिहास की स्थापना । विज्ञान की स्थापना की जितनी चर्चा हुई है उतनी इतिहास दृष्टि के बारे में नहीं हो पायी । उसे यदि देखा जाए तो मधुसूदनजी का कृतित्व उसमें भी उतना ही अद्‌भुत सिद्ध होगा ।

संभवत: इतिहास दृष्टि को वेद व्याख्यान में समायोजित करने के फलस्वरूप ही उन्होंने वेद के अपौरुषेयत्व पर भी अनेक पक्ष विवेचित किये । अपने ग्रन्थों में इस प्रकार के 42 पक्ष उन्होंने बताये हैं और सबका समन्वय किया है । वे कहते हैं कि वेद स्वयं ईश्वर हैं क्योंकि ईश्वर ज्ञान रूप है । दूसरी ओर वेद ईश्वर प्रणीत भी हैं । ज्ञान के रूप में वेद अपौरुषेय हैं किन्तु वर्णाक्षरमय वाणी के रूप में ऋषिप्रणीत । इसी प्रकार ऋषि, प्राणों के या तत्वों के वाचक हैं । भृगु, अंगिरा आदि ऋषि विभिन्न तत्वों के स्वरूप तो उन्होंने बताये ही हैं, उन तत्वों के विवेचक महर्षियों का नाम भी उन्हीं पर पड़ा इसलिए ये ऋषि नाम भी हैं, यह भी उन्होंने माना है । इस प्रकार का व्यापक मार्ग सर्वत्र अपनाने के कारण उन्होंने दोनों पक्षों का भली भांति समन्वय स्थापित कर दिया है । ठीक यही दृष्टि उन्होंने इतिहास वाली गुत्थी के लिए भी अपनायी है । उन्होंने इन्द्र, वरुण आदि को वैज्ञानिक तत्व मानकर जो विस्तृत विवेचन किया है उनके साथ ये नही भूले हैं कि ये देवों के नाम भी थे । वेदों का आधुनिक अध्येता पाश्चात्य विद्वानों के विवेचनों को पढ़कर यह जान जाता है कि इन्द्र के बारे में किस-किस प्रकार के वर्णन आते हैं । इन्द्र के लिए सैकड़ों सूक्त ऋग्वेद में हैं । उनमें 'वृत्र नामक असुर (जो ड्रेगन के रूप में वर्णित है) का उसने संहार किया, पर्वतों के पंख काटे,' ये सब वर्णन आते हैं । मधुसूदनजी ने इन्द्र और वृत्र को वैज्ञानिक तत्वों के रूप में तो विवेचित किया ही किन्तु यह भी सोचा कि क्या ये सारे वर्णन वैज्ञानिक तत्वों के प्रतीकों के रूप में घटाये जा सकते हैं ? कुछ अतिवादी विद्वानों ने शायद ऐसा किया हो पर यह संभव नहीं है । जो वेदों में इतिहास बिल्कुल नहीं मानते उनकी समस्याएं इसी से बढ़ती हैं । मधुसूदनजी तो सनातनी परंपरा के पक्षधर थे अत: वेदों के साथ-साथ पुराणों को भी प्रामाणिक मानते थे । आर्यसमाजियों की तरह उन्हें कल्पित नहीं मानते थे । अनेक स्थानों पर वैदिक वाङ्मय में 'इतिहास' के उल्लेख मिलते हैं - 'तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रम्, गाथामिश्रं च भवति' (निरुक्त) द्वारा संकेत किया गया है कि ब्रह्मोद्य के अंग के रूप में इतिहास, गाथा, स्तुति आदि

भी परंपरागत हैं। गोपथ ब्राह्मण में व छान्दोग्य में इतिहास और पुराण अलग-अलग उल्लिखित हैं। बृहदारण्यक में पुराणों का उल्लेख है। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' उक्ति प्रसिद्ध है। अत: यह तो स्पष्ट ही है कि ऋषि प्रज्ञा ने मानव का इतिहास अभिलिखित करना अभीष्ट माना था। उसे सृष्टि के आरम्भ से लेकर अद्यतन काल तक लाने के लिए ही पुराण का यह सिद्धान्त बना 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।' प्रारम्भ से लेकर आज तक का इतिहास कैसे बन पाये यह ललक उत्तर वैदिककाल से ही दिखलाई पड़ जाती है। पुराणों ने यही कार्य किया। तभी यह कहा गया कि वेदों के आख्यान भी उसी इतिहास के भाग हैं। 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता:' (मत्स्य पु.) का यही रहस्य है। पुराणों में विसृष्टि से लेकर आज तक का इतिहास स्पष्ट विवेचित है। भविष्यपुराण लिखे जाने का भी यही रहस्य है। इस दृष्टि से उन्होंने इस सबका समन्वय करते हुए वेदों में संकेतित इतिहास को पूरी तरह आद्योपांत वर्णित करके इस तरह फैला दिया कि अध्येता को कोई असंगति नहीं लगे। वे इन्द्र आदि देवताओं को वैज्ञानिक तत्वों के प्रतीक मानते हुए भी यह स्पष्ट करते हैं कि उसी प्रकार के नाम वाले देव भी थे।

यह देव क्या है इस पर भी भाष्यकारों की अनेक दृष्टियां रही हैं। आधिदैविक दृष्टि से तो ये अलौकिक प्राण हैं, कुछ इन्हें प्रकाशमय तारे मानते हैं, कुछ ने इन्हें प्राचीन, महिमाशाली जाति माना है। इसीलिए जहां-जहां 'देवा:' आता है वहां उसका भाष्य किया है 'पूर्वजा:'। मधुसूदनजी ने इसमें भी समन्वय की दृष्टि अपनाई है। जहां ऐसे आख्यान प्रतीकात्मक हैं वहां तो देवों को वैज्ञानिक तत्व माना है और जहां इतिहास है वहां पूर्व युग के महिमावान, विज्ञान धनी, मनुष्य माना है। उनकी दृष्टि यह रही है कि यदि भारत का इतिहास लिखने चलें तो सिंधुघाटी से ही शुरू करना हमारे पुरातन इतिवृत्त को कितना संकुचित बना देगा। यह सभी मानते हैं कि वेद बहुत प्राचीन हैं किन्तु उनमें वर्णित सभ्यता या ज्ञान आदिम अर्थात् प्रिमिटिव न होकर एक विकसित सभ्यता की परिणति है। स्वभावत:, तब उसके पूर्व भी इतिहास रहा होगा इस देश का। वह कैसा था ? पाश्चात्यों ने उसे ही तो दाशराज्ञ युद्ध, सुदास, ययाति आदि राजाओं के इतिवृत्त के रूप में खोजने का प्रयत्न किया था।

हम भी यही कहते हैं कि वह पुराना इतिहास वेदों में खोजें तो उसके पूरे सूत्र मिलेंगे। इन्द्र, वरुण आदि सम्राट् थे उस युग के, उनके राज्य में विज्ञानशोधी तपोधन रहते थे, अन्वेषण और यज्ञ (ज्ञान का अनुसंधान व प्रयोग) करते रहते थे। उसका क्रमबद्ध इतिहास लिखने का प्रयत्न ही है हमारे पुराण। अब उसे पुन: क्रमबद्ध किया जाना चाहिए। यही कार्य किया ओझाजी ने कुछ ग्रन्थों में जिनमें 'इन्द्रविजय' प्रमुख है।

उन्होंने इतिहास और पुराण में अन्तर स्पष्ट करने वाली परिभाषा अवश्य कहीं दी होगी। क्योंकि सर्वत्र ये दो संज्ञाएं अलग-अलग मिलतीं हैं, चाहे आतीं एक साथ हों। तब इतिहास क्या है,

पुराण क्या ? ओझाजी के ग्रन्थों में यह विवेचन मुझे नहीं मिला है किन्तु वे इन्हें परिभाषित करते तो कुछ इसी प्रकार कहते 'आख्यातं लोकवृत्तमितिहास:, वंशवृत्ताद्युपबृंहितं सर्गवृत्तं पुराणानि/पुराणम् ।' वेदों में आये इन्द्र, वरुण आदि के वृत्त को इतिहास कहा गया है । पुराणों ने सृष्टि के आरंभ से लेकर वर्तमान तक के वंशवृत्त को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया था इसलिए वह पंचाङ्गयुक्त है, क्रमबद्ध है, सांगोपांग है ।

इस प्रकार वेदकालीन इतिहास के लेखन का कार्य संहिताओं व ब्राह्मणों में बिखरे लोकवृत्तों, आख्यानों आदि के श्रमपूर्वक व बुद्धिपूर्वक सुसंगत समन्वय द्वारा ही हो सकता है, यह स्पष्ट है । 'यत्र पूर्वे साध्या: सन्ति देवा:' आदि संकेतों से हमें उसे खोज निकालना होगा । ओझाजी ने इसी आधार पर बतलाया कि उस युग में किस प्रकार साध्य जाति के देव थे जो विज्ञान संपदा के धनी थे, उन्होंने यज्ञ किये, प्रथम धर्मों का प्रवर्तन किया, इतिहास बनाया । इन्द्र उस युग का सर्वोच्च शासक होता था । यदि उस प्राचीन भारत का इतिहास लिखा जाए तो एक दृष्टि से उसे इन्द्र का इतिहास भी कहा जा सकता है । इस प्रकार 'इन्द्र' हमारे प्रागैतिहासिक इतिवृत्त का प्रतीक हुआ । यही रहस्य है उनके इतिहासग्रन्थ का नाम **इन्द्रविजय** रखे जाने का । वेदों में इन्द्र वैज्ञानिक तत्व भी है, वह ऐतिहासिक राजा भी है जिसका चरित्र तथा महिमा वेदों में वर्णित है । तभी इन्द्र के बारे में कहा गया है 'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहु: । सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान न नेमि: परि ता बभूव ।' इन्द्र वर्तमान और अतीत का राजा है । वह हमारा इतिहास पुरुष है । इन्द्र चौदह पृथक्-पृथक् संदर्भों में चौदह प्रकार से वेदों में वर्णित है, यह ओझाजी ने स्पष्ट किया है । यहां आकर जैमिनीय सूत्र 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' सुसंगत रूप से समझ में आ जाता है । उन्होंने इन्द्र विजय ग्रन्थ में यही ऐतिहासिक कार्य किया है कि वेदों में वर्णित सभी सूक्तों तथा ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर आर्यों का सुसंगत इतिहास वर्णित कर अध्येता के लिए पूरा शास्त्र बना दिया है । इसलिए उनका अवदान दो भागों में बताया जाता है, एक तो वेदों में विज्ञान की स्थापना, दूसरे इतिहास की स्थापना, उनके अभिनन्दन समारोह के अवसर पर जयपुर के संस्कृत मासिक **संस्कृत रत्नाकर** ने जो विशेषांक 'वेदांक' के नाम से प्रकाशित किया था उसमें तत्कालीन मूर्धन्य भारतीय वेद मनीषियों ने लेख भेजे थे । उसमें विज्ञान विषय के जितने लेख थे उससे अधिक वेदों में इतिहास के बारे में थे । ओझाजी का यह प्रमुख अवदान माना गया था ।

इन्द्र और वरुण

वेदों में इन्द्र और वरुण, मित्रावरुण आदि देवों तथा द्यावा-पृथिवी आदि के बारे में विभिन्न प्रकार की मान्यताएं विभिन्न ऋचाओं में मिलती हैं । कहीं इन्द्र को स्वाराट् कहा गया है, कहीं वरुण को । कहीं इन्द्र सम्राट् बताया गया है । वरुण अप् और आदित्य आदि के माध्यम से द्यो में क्रमण करता है । इन्द्र मरुत्, रुद्र और आदित्यों से क्रमण करता है । कहीं वरुण को द्युस्थानीय देवता बताय:

है, कहीं इन्द्र को। वैसे इन्द्र को अंतरिक्ष स्थानीय देवता भी माना जाता है। इन सब गुत्थियों का समाधान ओझाजी ने एक इतिहास के सूत्र में बांध कर कर दिया है। उनके मत में बाह्लीक प्रदेश का जरदष्टि नामक ऋषि जो ऋज्राश्व ऋषि का पुत्र था, वरुण का समर्थक था। उसने असुर धर्म स्वीकार कर लिया और सुरों का विरोधी हो गया। असुरों ने सुरा बनायी और एक यज्ञ किया जिसमें सब देवताओं को बुलाया। इन्द्र को सुरा की आहुति दी गई जो इन्द्र ने स्वीकार की। इस पर इन्द्राणी भी क्रुद्ध हुई अन्य देवता भी। वहां ऋषियों में इन्द्र और वरुण के पारस्परिक महत्व पर जो वाद विवाद हुआ वह ऋग्वेद में विस्तार से वर्णित है। उसमें रोदसी, क्रंदसी तथा संयती के देवताओं का महत्व विवेचित करते हुए इन्द्र और वरुण दोनों के दावे पेश किये गये। इन्द्र और वरुण के सूक्तों में अनेक ऐसी ऋचाएं हैं जो परस्पर विरोधी लगती हैं। ओझा जी ने इन्हें ऋषियों के शास्त्रार्थ के रूप में व्याख्यात करते हुए बताया है कि वे ऋषियों द्वारा इन्द्र के या वरुण के आपेक्षिक महत्व को बताने वाली हैं। अन्त में यह तय हुआ कि इन्द्र स्वाराट् है, वरुण सम्राट्। रोदसी, क्रंदसी और संयती तीनों द्यावापृथ्वी हैं। इन तीनों में इन्द्र और वरुण के साम्राज्य तथा रूप विभाजित हैं। ओझा जी ने इसका विज्ञान विस्तार से बताकर सारी गुत्थियां सुलझा दी हैं। इस प्रकार इन्द्र और वरुण दो पृथक्-पृथक् विभागों के स्वामी हुए। वैज्ञानिक तत्व के रूप में जिस प्रकार मित्र और वरुण खगोल के दो भागों का प्रतिनिधित्व करते हैं उसी प्रकार इन्द्र और वरुण भूगोल के दो भागों के स्वामी बतला दिये गये हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिन देवताओं का उल्लेख केवल प्रतीकात्मक है, वे केवल विज्ञान से संबद्ध तत्व हैं, ऐतिहासिक पुरुष नहीं, जैसे मित्र, अग्नि, सोम आदि किन्तु जिनका इतिहास में भी उल्लेख है वे ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं जैसे इन्द्र, वरुण आदि। ओझाजी के मत में भारत की सीमा वेदकाल में बहुत विशाल थी। इसके पश्चिम भाग का स्वामी वरुण हुआ, पूर्व भाग का इन्द्र। इस प्रकार के इतिहास के ताने बाने से अध्येता को सभी समस्याओं का समाधान मिल जाता है। अफगानिस्तान और ईरान तक की भौगोलिक इकाइयों का वेद में जहां-जहां संकेत है वह भी संगत हो जाता है और गंगा, यमुना आदि के संदर्भ भी बैठ जाते हैं।

देव और असुर

ओझाजी ने देव, असुर, मनुष्य आदि का स्वरूप तथा देवासुर संग्राम का रहस्य बताते हुए इस प्रकार के सूत्र दे दिये हैं जिनसे सभी वैदिक उल्लेख स्पष्ट हो जाएं। जिस प्रकार उन्होंने आधिदैविक, अधिभौतिक और आध्यात्मिक तीन विभागों द्वारा त्रैलोक्य को समझाया है जिसे दिव्य, शारीर और भौम कहा है (जिनके स्वामी अग्नि, वायु और इन्द्र को बताया है) उसी प्रकार देवासुरों का भी विभाजन किया है। उनके सूत्र हैं —

> अखिला नराः पुरात्वे त्रेधा भिन्ना प्रधानतो त्वभवम्।
> देवा अथ च मनुष्या देवविरोधात् त्वदेवाश्च।

अत्युन्नतविज्ञाना: प्रभाववन्तोभवन् देवा: ।
विज्ञानदुर्बला अपि बहुलप्रज्ञा महाबला असुरा: ।
साधारणी तु जनता मनुष्यनाम्ना प्रतीताऽऽसीत् ।
तत्रादेवा आसन् दानव-दैत्याश्च दस्यव: पणय: ।
अफ्रीकाद्या देशा दैत्यानां दानवानां च ।
फीनीशिया पणीनां दस्यूनां हेमकूटाद्या: ।
वेदग्रन्थे कथिता: समरा: सर्वेऽपि पंचभेदा: स्यु: ।
देवानां तै: पणिभिर्दानव-दैत्यैश्च दस्युभिश्चार्यै: ।
देवा: सूर्ये दासै: पणिभिर्गोष्विन्द्रसोमैके दैत्यै: ।
क्षित्यर्थे दानवकैरार्यैर्युयुधु: प्रकीर्ण-विषयेषु ।

इससे स्पष्ट होता है कि नरों के ही तीन विभाग थे । देव, मनुष्य और अदेव । अत्यन्त उत्कृष्ट मेधा और विज्ञान वाली जाति देव कही गई । उत्कृष्ट बुद्धि किन्तु कमजोर विज्ञान वाले असुर हुए जो बलशाली थे । अदेवों में चार प्रकार की जातियां थी, दैत्य, दानव, दस्यु और पणि । वेदों में जो संग्राम वर्णित हैं वे पणियों, दानवों, दैत्यों, दस्युओं और आर्यों से हुए थे । वे किस उद्देश्य से हुए थे इन सबको स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि दासराजाओं से सूर्य विज्ञान के सिलसिले में देवों का युद्ध हुआ, गायों के लिए पणियों से, सोम के लिए दैत्यों से, पृथ्वी के लिए दैत्यों और दानवों से युद्ध हुआ । कुछ अन्य कारणों से आर्यों से भी देवों के युद्ध हुए थे । देवेन्द्र स्वयं ऐसे अवसरों पर सेनाओं का नेतृत्व करते थे और युद्ध में विजयी होते थे । ओझाजी ने इन युद्धों में इन्द्र की विजय का इतिहास **इन्द्रविजय** में वर्णित किया है । इसी प्रसंग में उसी भू-भाग से जिसे ओझाजी स्वर्ग कहते हैं इन्द्र का भारत में आगमन, दस्युओं का निग्रह तथा उनका साथ देने वाले राजाओं पर विजय आदि इसमें विस्तार से वर्णित किया है । इन इतिहासों में इन्द्र के वे सारे वर्णन समाहित हो जाते हैं जिनसे अध्येता दिग्भ्रांत हो जाते थे । इन्द्र और वृत्र के संग्राम को जहां आधिदैविक स्तर पर ओझाजी ने विज्ञान के तत्वों की अंत:क्रिया के रूप में समझाया है वहीं इतिहास के स्तर पर भी उसका निर्वचन करते हुए आख्यान स्पष्ट किया है । वृत्र को नागवंशी राजा बताया है जिसने बड़ी-बड़ी पहाड़ी, चट्टानों से नदियों को रोककर बांध बना लिया था । इन्द्र ने उसे मारा, चट्टानों को तोड़ा जिससे नदियों का जल फिर बहने लगा । यही रहस्य है सांप के रूप में नागवंशी वृत्र के वैदिक स्वरूप का तथा इन्द्र द्वारा पर्वतों के पंख काटने का । इसी प्रकार ऋग्वेद के दाशराज युद्ध के आख्यानों का समन्वय भी उन्होंने **इन्द्रविजय** में कर दिया है । इसे अधिकांशत: दास राजा से युद्ध के रूप में देखा है उन्होंने । सृंजय के पुत्र दिवोदास अतिथिग्व को जब शंबरासुर ने सताया तो किस प्रकार इन्द्र ने महासमर में उसका वध करवाया और 100 पुरियों का नाश किया । इसका इतिहास वर्णित करते हुए उन्होंने इन्द्र का पुरंदर नाम, शंबरारि नाम आदि की सार्थकता बताते हुए युद्धों के आख्यान व्याख्यात किये हैं । चूंकि यज्ञ

ऋषियों के ज्ञानसत्र, वैज्ञानिक प्रयोग, सेमिनार आदि की तरह आयोजित समारोह होते थे, उनमें सम्राटों को भी बुलाया जाता था। यही थी आहुति याने बुलावा। इन्द्रादि देव आते थे, सोम पीते थे, उनका अभिनन्दन होता था। ऋषि लोग अभिनंदन पत्र पढ़ते थे। यही थे उनके सूक्त। ऋषियों के शास्त्रार्थ, संवाद इसी प्राचीन इतिहास के अंग हैं। इन्द्र को भूस्वर्ग से (जो भारत के सुदूर उत्तर में था) यहां आने पर कहां ठहराया गया, उसकी क्या खातिर की गई इसका वर्णन भी वैदिक सूक्तों में है इसे इतिहास के रूप में विवेचित करना बाकी था जो ओझाजी ने किया है।

भूगोल

इस इतिहास के प्रसंग में ही उन्होंने भूगोल का भी विस्तृत विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि पहले प्रायः समूचे एशिया को ही भारत कहा जाता था। उसकी पश्चिम सीमा लोहित समुद्र (रेड सी) तक थी और पूर्व सीमा फारमोसा तक। इससे अपने आप स्पष्ट हो जाता है कि आर्य भारतवासी थे। बाहर से नहीं आये। अंग्रेज लोग एशिया माइनर से आर्यों के आने का जो उल्लेख करते हैं वह भी भारत में ही सिद्ध हो जाता है। उन्होंने 'सीमा-प्रसंग' नामक अध्याय में 14 प्रमाणों से सिद्ध किया है कि भारत की इतनी विस्तृत सीमा उन्होंने किस आधार पर मानी है। बाद में 12 प्रमाणों से बतलाया है कि आज जिसे श्रीलंका या सीलोन कहा जाता है वह रावण की लंका नहीं थी, वह तो सिंहल द्वीप था। रावण की लंका लक्ष्यद्वीप के आसपास एक बहुत बड़ा भू-भाग था जिसका अधिकांश भाग अब समुद्र में डूब गया है। यहीं उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि लिपि का आविष्कार वेदकाल में ही हो गया था। इसी प्रसंग में हमारे यहां कितनी विद्याएं थीं यह बतलाते हुए उन्होंने प्राचीन भारत की वैज्ञानिक प्रतिभा का भी संकेत किया है।

इन प्रसंगों में उनकी कुछ स्थापनाएं बहुत महत्व की हैं जिन पर आज भी शोध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'यवन' शब्द के लिऐ उनकी मान्यता है कि यह यूनानियों या मुसलमानों का ही वाचक नहीं है मूलतः यहूदियों के लिए प्रयुक्त होता था। बाद में यूनानियों के लिए होने लगा और आजकल मुस्लिम आदि सभी के लिए चल रहा है। उनकी इस मान्यता को इसलिए आधार मिल जाता है कि उन्होंने यहूदी और यूनानी सभ्यताओं का जो समय बतलाया है वह आधुनिक स्थापनाओं से बिल्कुल मेल खाता है। सेमिटिक सभ्यता के लिए यवन चल पड़ा यह बात संगत भी लगती है। सरयू नदी को उन्होंने अयोध्या में न मानकर पश्चिम भारत में माना है। उनकी स्थापना है कि ईरान के पूर्वोत्तर में आरियुस नामक जो नदी बहती है वह सरयू थी। तभी तो उसे अफगानिस्तान की कुभा, वंक्षु, आदि नदियों के साथ उल्लिखित किया गया है। इसी के पास से अर्ण और चित्ररथ गंधर्व आए थे जिन्हें तुर्वश, यदु आदि ने व इन्द्र ने परास्त किया था। इसी प्रकार मद्र, बाह्लीक, पुष्कर, आदि भौगोलिक स्थानों को पाश्चात्य अक्षांश, देशान्तर आदि का हवाला देते हुए सप्रमाण भारत की पश्चिम सीमाओं में उन स्थानों पर सिद्ध किया है जहां आज अरब, अफगानिस्तान आदि देश हैं।

अफगानिस्तान को गांधार व ईरान को मद्र कहा जाता था। पुष्कर को वे बुखारा में स्थापित करते हैं। सरस्वती को वे हिमालय के उत्तर की प्राचीन नदी मानते हैं जिसके किनारे अनेक वेधशालाएं वैज्ञानिक शोध करती थीं। हेमकूट सरोवर (बिन्दुसर) से निकली इस नदी के किनारे जो विज्ञान भवन बना था उसे सूर्य सदन कहा गया है। उसमें ऋषियों के वैज्ञानिक विमर्श चलते थे। उस पर दस्युओं के आक्रमण होते थे जिनका इन्द्र आदि प्रत्युत्तर देते थे। ऐसे प्रसंगों में इन्द्र की सेनाओं के अभियान का वर्णन वेद की ऋचाओं में मिलता है। उनके वर्णन के सूक्तों को तथा इन्द्र के विजय के बाद ऋषियों द्वारा जो स्तुतियां की गई थीं उन सूक्तों को ओझाजी ने विस्तार से उद्धृत किया है। ऋग्वेद के अनेक सूक्त जो विभिन्न ऋषियों ने लिखे हैं इस प्रकार के इतिहास में उनकी संगति भी बैठ जाती है।

ओझाजी के इतिहास विवेचन की विशेषता यह है कि उसमें केवल वैदिक प्रसंगों से ही विभिन्न स्थापनाओं का समर्थन नहीं किया गया है अपितु समस्त पौराणिक आख्यानों का भी उसमें भली भांति समन्वय हो जाता है। भूगोल और इतिहास के विवेचन में उन्होंने मत्स्य, मार्कण्डेय आदि प्राचीन पुराणों से लेकर श्रीमद्भागवत तक के आख्यानों और नामों का समन्वय कर दिखाया है। उनका यह भी मानना है कि मूर्तिपूजा का प्रारंभ वेदकाल में ही ऋषि वामदेव द्वारा हो गया था। इन सब पर पृथक्-पृथक् विवेचन की आवश्यकता है और प्रत्येक संदर्भ पर एक-एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। यहां अत्यन्त सूत्रात्मक प्रतीकों द्वारा उसका संकेत मात्र दिया गया है। **इन्द्रविजय** का ओझाजी ने 5 भागों में विभाजन किया है — (1) भारत परिचय (जिसमें भारत का नाम, सीमाएं, भाषा, धर्म, विद्याएं आदि वर्णित है)। (2) आर्यदासीय (जिसमें वेद के इतिवृत्तात्मक आख्यानों का विवेचन है)। (3) विज्ञान भवन (जिसमें सौरविज्ञान शाला, इन्द्र के द्वारा उसकी रक्षा तथा इन्द्र, उषा आदि के सूक्तों की ऐतिहासिक संगति वर्णित है)। (4) दस्युनिग्रह (जिसमें दस्यु राजाओं का इन्द्र द्वारा पराभव वर्णित है), और (5) इन्द्रविजयाभिनंदन (जिसमें इन्द्र के विभिन्न सूक्तों की महर्षियों द्वारा विजयी इन्द्र के अभिनन्दन के रूप में संगति की गई है।) इन विवेचनों में भारत के अतिप्राचीन इतिहास के वे सूत्र समाहित हैं जिनके आधार पर हम पूर्व वैदिक इतिहास का समूचा ताना बाना बुनने की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं।

अत्रि ख्याति

पं. मधु सूदन जी ओझा अत्रि चरित्र

डॉ. एन.सी. पाठक*

पं. मधुसूदन जी ओझा ने विशाल वाङ्मय का मन्थन करके वैदिक विज्ञान की जो रत्नावली प्रस्तुत की है उसके रत्न समुदाय में अत्रिख्याति एक सुन्दर ग्रन्थ रत्न है। यह ग्रन्थ उनके द्वारा प्रणीत पञ्चख्यातियों के अन्तर्गत पौरव ख्याति नामक ग्रन्थ का द्वितीय परिच्छेद है। इसका प्रकाशन सन् 1929 में लखनऊ विश्व विद्यालय के श्री आद्या प्रसाद ठाकुर के सम्पादकत्व में किया गया। इसमें 7 पृष्ठ से लेकर 26 वें पृष्ठ तक अत्रि चरित्र वर्णित है, 26 वें पृष्ठ से 55 वें पृष्ठ तक चन्द्रराज चरित्र का निरूपण है तथा 55 वें पृष्ठ 113 वें पृष्ठ तक बुध चरित्र का वर्णन है।

इस प्रकार अत्रिवंश के तीन पुरुषों अत्रि, चन्द्र व बुध के स्वरूप प्रस्तुत करने का इस ग्रन्थ के द्वारा प्रयास किया गया है। पूज्य ओझाजी ने वैदिक विज्ञान के प्रस्फुटन के लिये इतिहास व पुराण की सहायता ही नहीं ली है उसका विश्लेषण भी वैदिक विज्ञानं की पृष्ठभूमि में किया है। "इतिहास-पुराणाभ्वां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।" इस प्राचीन सूक्ति के अनुरूप उनका मन्तव्य 'जगद्गुरु वैभवम्' में स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं —

> विज्ञानशास्त्रे प्रतिपादनीये लोकेतिवृत्तस्य भवत्यपेक्षा।
> तच्चेतिवृतं द्विविधं पुराणेतिहासमेदात् प्रवदन्ति वृद्धाः॥
> यदा विश्वसृष्टेरितिवृत्तमासीत् पुरातनं तद्धि पुराणमाहुः॥
> यच्चेतनानां तु नृणां चरित्रं पृथक् कृतं स्वात् सहेतिहासः॥

अत्रि — अत्रि ऋषि वैदिक संहिताओं में प्रधान ऋषियों में से एक है। ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के ऋषि अत्रि एवं उनके परिवार के ऋषि हैं। आदि ब्रह्म के छः पुत्रों में अत्रि एक हैं। ऋग्वेद में एकवचन एवं बहुवचन में 77 मन्त्रों में अत्रिनाम का उल्लेख है। अत्रि की गणना पूर्वकालीन दध्यङ, अंगिरा, प्रियमेघ, कण्व आदि ऋषियों के साथ की गई है।[1] उनके द्वारा अश्विनी कुमारों के आवाहन[2] हवि द्वारा परिचर्या[3] करने, अग्नि, इन्द्र, इन्द्राग्नी व मित्रावरुण के आह्वान करने, सोम का सवन करने, आदि कर्मों का उल्लेख अनेक मन्त्रों में मिलता है[4]। अग्नि द्वारा अत्रि की रक्षा करने का भी उल्लेख है[5] अश्विनी कुमारों के साथ अग्नि का एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, जैसा निम्न ऋग्वेद के मन्त्रों से व्यक्त होता है।

---

* प्राचार्य, जी.बी. पोदार कॉलेज, नवलगढ़।

(1) ऋ. 1/139/9 (2) ऋ. 1/183/5,8/42/5, 8/35/19 (3) ऋ. 5/74/1

(4) 8/36/6, 8/38/8, 1/45/3, 5/4/9, 5/22/1, 5/51/8,9,10,. 5/72/1

(5) 10/150/5

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम् ।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥ 1/116/8
ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन ।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ॥ 1/117/3

हे अश्विनी कुमारों ! आप दोनों ने जलाने के लिये अति प्रज्वलित तुषाग्नि में फैंके गये अत्रि को हिम के कारण शीतल जल द्वारा बचा लिया, उसे ऊर्जायुक्त, अन्नयुक्त बल प्रदान किया । प्रकाश रहित पीड़ायन्त्रगृह में अवनत मुख करके डाले हुए अत्रि को सम्पूर्णगण सहित कल्याणकारी विधि से ऊपर ले आये । हे अश्विनी कुमारो पाञ्चजन्य अत्रि को पुत्र कलत्रादि परिवार सहित ऋबीस नामक कारागृह से आप दोनों ने मुक्त कर दिया । अनिष्टकर दस्यु की माया को नष्ट करते हुए उसे पूर्ववत् स्थिति में स्थापित कर दिया ।

ऋग्वेद के पाँचवे मण्डल के 40 वें सूक्त में अत्रि का एक अन्य विशेष कर्म वर्णित है ।

यत् त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥ 5/40/5
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूळहं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥
मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियक्षा नि गॉरीत् ।
त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा ॥
ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन् ।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् ।
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ॥
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन् ॥

इसका अर्थ सायण के अनुसार निम्न है । हे सूर्य ! आसुर अर्थात् असुरनिकाय स्वरूप इस स्वर्भानु (राहु) ने अन्धकार से अर्थात् चन्द्रमा के पिछले भाग की काली छाया से तुमको जब आवृत कर लिया था तब सभी लोक में इसके कारण मोह (अज्ञान) छा गया । जैसे गन्तव्य क्षेत्र को न जानने वाला अब कहां जाये इस मोह में पड़ जाता है । उसी प्रकार सूर्य कहां गया, यह क्या हो गया, अनवसर में अन्धकार कैसे छा गया इस प्रकार मोह में सभी पड़ गये ।

हे इन्द्र । द्युलोक की रक्षा कीजिये । सूर्य मण्डल के अधोदेश में विद्यमान स्वमुनि की माया को हटाइये अन्यथा अन्य स्वरूप वाली वस्तुएं अन्य स्वरूप की प्रतीक होकर साधारण व्यक्ति के लिये अज्ञेय होंगी । यथार्थभाव को छिपाने का प्रयोग करने वाली प्रक्रिया माया है । इस प्रकार की लोक

विस्मयकारिणी राहु की मात्रा ने जब सूर्य को अवरूद्ध करके लुप्त कर दिया तब अपरिवर्तनीय अन्धकार से आच्छन्न सूर्य को इन महर्षि अत्रि ने तुरीय ब्रह्म से जान लिया मानो पुनः प्राप्त कर लिया। वह सूर्य यथावत् आकाश में स्थित है यह जान लिया।

हे अत्रि ऋषि ! इस मुझ सूर्य को तुम्हारे रहते हुए चन्द्रमण्डल की ओर उपस्थित रश्मि वाला होने से (चन्द्रगत अत्रिप्राण) अनुगृहीत होने पर द्रोह करने वाला असुर ग्रस न सके। ग्रसने के अभिप्राय से भंयकर अन्धकार से ग्रस्त न कर सके। सर्वथा विलुप्त न कर सके। प्रत्येक वस्तु मे नियत शक्ति कहलाती है। चन्द्रगत वस्तु शक्ति से साधित अत्रि प्राण तुम मित्र हो, वरुण हो और राजा हो। दोनों सम्मुख होकर परस्पर बातचीत करने के कारण मित्रत्व है। विरुद्ध दिग्वृति से प्रत्यावरण वरुणत्व है। सूर्यमण्डल के निम्न भाग का चन्द्रमण्डल का उपरिभाग मित्र है क्योंकि सूर्य की रश्मियाँ प्रतिरुद्ध होकर चन्द्र से वियुक्त होती हैं। जैसा श्रुति में कहा गया है "अहर्वैमित्रो रात्रिर्वरुणः" हे मित्र व वरुण तुम चन्द्रगत अत्रिप्राण ही हो। यदि चन्द्रमा में अत्रिप्राण नहीं होता तो वह मित्र या वरुण नहीं हो सकता था। इसलिए अत्रिभूत तुम दोनों मित्र एवं वरुण मुझ सूर्य की राहु ग्रसन काल में रक्षा करो। जानो यहां अवधातु अवगमार्थक है। चन्द्रमा के नीचे के भाग में चन्द्र से अवरुद्ध होने के कारण सूर्य नहीं दिखाई देता। चन्द्रमा के उपरिभाग में सूर्य अनवरुद्ध होने से पूर्ववत् दिखाई देता है, इसलिए यह सूर्य विलुप्त नहीं हुआ, यह अर्थ मित्र व वरुण के ज्ञान से समझा जाता है।

ग्रस्व कीरिन् तथा नभस के द्वारा अत्रि रूपी ब्रह्मा ने द्युलोक में सूर्य से उपलक्षित आकाश भाग में अपनी दृष्टि स्थिर की। इस प्रकार दूसरों को मोह में डालने वाली राहु की माया को अत्रि ने निवारण कर दिया।

इस प्रसंग की व्याख्या पं. ओझाजी ने बड़े सुन्दर-ढंग से की है। ऋग्वेद में 11 मन्त्र इस प्रकार के हैं जिसमें अग्नि से ग्रावा या इन्द्र अत्रिन् को भलीभांति जलाने, दूर करने, मारने की प्रार्थना की गई है।

जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः 6/51/14

यहां अत्रिन् को वृक, पणि, राक्षस, अदेव तथा अशुभ भी बताया गया है।

ऋ 1/36, 14,20, 1/86/10, 6/ 16/28, 6/51/14, 8/12/1, 8/19/55, 9/104/6, 9/105/6, 10/36/4, 10/118/1

षड्विंश तथा ऐतरेय ब्राह्मण में भी —

अत्रिणो वै रक्षांसि ष 3/1
पाप्मानो अत्रिणः 3/1
रक्षांसि वै पाप्मात्रिणः

पुराणों में अत्रि —

इसकी व्याख्या भी पं. ओझाजी ने अत्रिख्याति में की है। जिसका विस्तार से आगे उल्लेख किया जायेगा। अत्रि का प्रसंग अनेकों पुराणों में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण पुराण के सातवें में, पद्मपुराणके सृष्टि खण्ड के बारहवें अध्याय में, विष्णु पुराण के चतुर्थ खण्ड के छठे अध्याय में, भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के प्रथम अध्याय में तथा नवम स्कन्ध के चतुर्दश अध्याय में, मार्कण्डेय पुराण के सोलहवें, अग्निपुराण के तेरहवें, वाराह पुराण के पैंतीसवें, मत्स्य पुराण के तेईसवें, ब्रह्माण्ड पुराण के उपोद्घात के आठवें तथा पैंसठवे अध्याय में, हरिवंश पुराण के प्रथम पर्व में पच्चीसवें अध्याय तथा महाभारत के शांतिपर्व में मोक्षधर्म के प्रसंग के 208 वे अध्याय में, अनुशसान पर्व के दानधर्म के अन्तर्गत छप्पनवें अध्याय में अत्रि का चरित्र वर्णन किया गया है।

अत्रिशब्द की निरुक्ति —

तृतीय प्रजापति होने के कारण इनका नाम अत्रि माना जाता है जैसा ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है "अहं तृतीय इत्यर्थस्तस्मादत्रिः संकीर्त्यते" (उ 4/45)

अत्रि की द्विविधता —

अत्रि दो प्रकार के हैं प्राणरूप तथा मनुष्यरूप। भृगुं अंगिरा व अत्रि प्राणों की क्रमिक उत्पत्ति होने के कारण अत्रिप्राण की तृतीयता वृहद्देवता में दिखलाई गई है। मनुष्य रूप अत्रि भी ब्रह्मा के मानस पुत्रों में तृतीय थे जैसा महाभारत के आदिपर्व के छियासठवें अध्याय में वर्णित है।

ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः विदिता षणमहर्षयः
मरीचिरंगिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रुतः ॥
अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिय।
सर्वे वेदविदः सिद्धः शान्तात्मानो महर्षयः ॥

अत्रि महान् तेजस्वी होने पर भी अत्यन्त शान्त प्रकृति के तथा सर्व साधारण के हित में संलग्न रहने वाले थे जैसा ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है। इन अत्रि ऋषि के मूल स्थान या ब्रह्मपरिषद् का अधिष्ठान कहां था यह निश्चित नहीं है। महाभारत के भीष्मपर्व में नवम अध्याय में "आत्रेयाः सभरद्वाजाः इत्यादि श्लोक द्वारा, मार्कण्डेय पुराण के 54 वें अध्याय में "आत्रेयाश्च भरद्वाजाः पुक्कलाश्च कशेसकाः। एते देशा ह्युदीच्यास्तु" इत्यादि श्लोक में देश विशेष को आत्रेय के रूप में बताया गया है। इससे प्रतीत होता है कि पूर्व युग में अत्रि के निवास से उपलक्षित कोई प्रदेश प्रसिद्ध होगा। दुर्भाग्यवश अब हम उसे निश्चित नहीं कर सकते। बहुतों का विश्वास है कि पूर्वकाल में श्वेतगिरि पर स्थित जनपद विशेष अत्रि ऋषि का निवास स्थान था। मत्स्य पुराण में 117-118 वें

अध्याय पुरूरवा की तपश्चर्या के प्रसंग में इसका वर्णन प्राप्त होता है । हिमालय पर्वत में ऐरावती नदी के उद्गम स्थान पर पाँच योजन क्षेत्र का अत्रि ऋषि का आश्रम वर्णित है । जिसमें ऋषि के प्रभाव से पशु-पक्षी हिंसा छोड़ कर दूध फल का आहार करते थे । ऋतुओं ने भी अपनी कठोरता छोड़ दी थी । सूर्य तथा चन्द्र के बिना भी वहां निरन्तर प्रकाश बना रहता था । यह प्रदेश भी निर्जन वन था तथा मानवों के लिये अगम्य था । अतः यह अत्रि ऋषि का तपश्चर्या स्थान ही प्रतीत होता है । परुष्णी नदी के निकट अत्रि ऋषि के वर्णन से भी वह स्थान अत्रि का चिरकालिक तपश्चर्या स्थान था, यही प्रतीत होता है । वायु पुराणादि में उसे मनुष्य लोक तथा देवलोक की सीमा पर स्थित बताया गया है । मेरू पर्वत के निकट या देवनिकाय पर्वत पर जो अत्रितीर्थ बताया गया है वह भी उनका तपश्चर्या स्थान ही है । ब्रह्मपुराण में गौतमी माहात्म्य के 70 वें अध्याय में जिस आत्रेय तीर्थ का वर्णन है वह अत्रिवंशीय किसी ऋषि का निवास स्थान प्रतीत होता है । चित्रकूट पर दण्डकारण्य के बीच आत्रेय तीर्थ भी किसी अत्रिवंशी ऋषि का स्थान है, आद्य अत्रि का नहीं । बाद के अत्रिवंशीय ऋषियों के तो अनेकों स्थान बताये गये हैं । महाभारत के शांतिपर्व के मोक्ष धर्म प्रकरण के स्वस्तिकाध्याय में 'प्राच्यां स्वस्त्यात्रेयस्य पश्चिमायामत्रेः पुत्रस्य उदीच्यामात्रेयस्य' कह कर अनेकों दिशाओं में अत्रिवंशजों के आश्रम बताये गये हैं, यह उदाहरण देखा जा सकता है ।

यह भी कहा जाता है कि अत्रि ऋषि ने तीन सहस्र वर्षों तक शक्ति विशेष की प्राप्ति के लिये ऋक्ष पर्वत पर श्रेष्ठ तप किया । यहाँ सहस्र शब्द पूर्णता का वाचक है । जैसा श्रुतियों में कहा गया है । 'सर्वं वै सहस्रम्' । पूर्णता का अर्थ है कि वर्षों में मास या दिन की न्यूनता या अधिकता न हो । मत्स्य, ब्रह्माण्डादि पुराणों में कहीं अनुत्तमम्, कहीं अनन्तरम् तथा कहीं सुदुश्चरम् पाठ है जो तप को विशिष्ट करता है । ऋक्ष पर्वत भारतवर्ष में प्रसिद्ध है जहाँ तापी, पयोष्णी, निर्विन्ध्या तथा कावेरी नदियाँ है । जैसे ब्रह्मपुराण के 17वें अध्याय से प्रतीत होता है किन्तु यह ऋक्ष पर्वत भारतवर्षीय पर्वत न होकर स्वर्ग भूमिका कोई पर्वत प्रतीत होता है क्योंकि आद्य अत्रि स्वर्गवासी होने के कारण स्वर्ग भूमि छोड़ कर भारत भूमि में तप के लिये आये थे । यह बात तर्क संगत प्रतीत नहीं होती ।

यह अत्रि वसिष्ठादि की तरह ब्रह्मा के मानस पुत्र थे । पूर्वकाल में ब्रह्मा की दो प्रकार की सन्तान मानी जाती थी औरस और मानस । अपनी धर्म पत्नी में स्ववीर्य द्वारा उत्पादित सन्तान औरस कहलाती थी । औरस न होने पर भी ब्रह्मा ने जिसे अपने पुत्र के रूप में मान लिया वह मानस पुत्र कहलाता था ।

मरीचिरत्र्य डिगरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
ब्रह्मणो मानसाः पुत्राः वसिष्ठश्चेति सप्तते ॥

इस श्लोक में इन सात मानस पुत्रों को लोक में धर्मोपदेश के लिये तथा ब्रह्मपरिषद् के अधिष्ठाता के रूप में ब्रह्मा ने प्रतिष्ठित किया था । यह उल्लेख है वास्तव में प्रथम अत्रि ब्रह्मा के

औरस पुत्र ही थे । अत्रि की मानस पुत्रता सांख्यात्रि की अपेक्षा से समझी जानी चाहिये । पौराणिक कहते हैं इन अत्रि को ब्रह्मा ने वेद प्रचार के लिये नियुक्त किया था । उनके द्वारा वैज्ञानिक यज्ञों का प्रचार करने से या अन्य किसी कारण से परिक्रुद्ध असुरों ने स्त्री पुत्र सहित अत्रि परिवार को ऋबीस नामक पीड़ा यन्त्र गृह में प्रवेश करा कर तुषों की अग्नि से पीड़ा दी । उन ऋषि के स्तुति करने पर अश्विनी कुमारों ने उस अग्नि को जल से शान्त कर के उस पीड़ा गृह से बिना किसी हानि के निकाल दिया । असुरों द्वारा पहुँचाई गई पीड़ा से कुश अत्रि को बलदायक खीर आदि पुष्टिकर पदार्थ प्रदान किये । यह संदर्भ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 116 वें सूक्त में महर्षि कक्षीवान् ने वर्णन किया है जिसे उपर उद्धृत किया जा चुका है ।

आत्रेयी ब्रह्मपरिषद् में प्रतिष्ठित इस अत्रिवंश में ग्रहनक्षत्रादि ज्योति पुन्जों का परीक्षण विशिष्ट रूप से होता था । प्रथम अत्रि के समय में कभी सर्वग्रास सूर्यग्रहण होने पर उसका कारण जानने के लिये बहुत से विद्वानों ने प्रयत्न किया । किन्तु सबसे पहले आत्रेय परिषद् के अधिष्ठाता अत्रियों ने उसका यथार्थ कारण निर्धारित किया । उसके अवधारण के लिये परिगणना परक विद्या ग्रन्थ उस आत्रेय परिषद् में ही प्रस्तुत हुआ । यह ऊपर उल्लिखित ऋग्वेद संहिता के पांचवे मण्डल के चालीसवें सूक्त में पाँच मन्त्रों में उल्लिखित है । इसका वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार है ।

अभिजित नामक ब्रह्मा के चारों ओर यह सूर्य परिक्रमा करता है । उस ब्रह्म के रश्मिगत सभी प्राण ऋषि कहलाते हैं । चन्द्रमा स्वयं कृष्ण वर्ण का है । उसमें प्रतिमूर्च्छित सूर्य रश्मियों से उत्पन्न चांदनी में स्थित अनेकों धर्मों वाले प्राण मध्यम पितर कहलाते हैं । पृथ्वी पर इसी प्रकार प्रतिमूर्च्छित सूर्य किरणों में विद्यमान प्राण अवर पितर कहलाते हैं । सूर्य रश्मि में विद्यमान प्रकाशमय प्राण भिन्न-भिन्न धर्मों में विभक्त देवता कहलाते हैं । चन्द्रमा में पृथ्वी पर तथा सूर्य के प्रत्येक दिग्भाग में सूर्य किरणों के प्रतिबन्ध से तमोमय आकाश में संचरणशील प्राण असुर कहलाते हैं यह वैदिक परिभाषा है ।

उनमें पृथ्वी तथा चन्द्र के आकाश भाग को व्याप्त छायायुक्त पृथ्वी का तेज भी सम्पूर्ण असुर प्राणों से संभृत होने के कारण असुर ही कहलाता है । उस छायामय असुर को तम, राहु स्वर्भानु आदि नामों से पुकारा जाता है । अन्धकारमय होने से उसे तम कहते हैं । सूर्य कि किरणों से रहित होने के कारण राहु कहते हैं । सूर्य मण्डल को स्व: कहते हैं, जैसे शतपथ ब्राह्मण की दृष्टि है - एषा गति रेषा प्रतिष्ठा य एष तपति । तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतो अथ यत्परं भा: प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोक: । सूर्यमण्डल से उपलक्षित प्रत्येक दिग्भाग में भानु अर्थात् भूमि के उपलक्षित प्रदेश में व्याप्तियोग्य प्रकाश नियम से जिसका है वह स्वर्भानु कहलाता है । यह दोनों पार्श्वों में स्थित है । सूर्य की किरणों के संपात से कटे मस्तक वाला दिखलाई देता है । यह राहु तीन प्रकार का है । एक पार्थिव तथा दो चान्द्र । उनमें पार्थिव को संहिकेय कहते हैं । श्रुतियों में पृथ्वी का सिंहिका के रूप में निरूपण है । जैसा लिंगपुराण में कहा गया है —

द्विविधः सूर्यविस्ताराद् विस्तारः शनैः स्मृतः ।
तुल्यस्तयोस्तु स्वर्भानु भूत्वाधस्तात्प्रसर्पति ॥

उद्धृत्य पृथिवीच्छायां निर्मितां मण्डलाकृतिम् ।
स्वर्भानोस्तु वृहत् स्थानं तृतीयं यत् तमोमयम् ॥

सूर्य मण्डल के विष्कम्भ से कभी चन्द्र मण्डल का विष्कम्भ छोटा होता है कभी बड़ा क्योंकि चन्द्रमा का परिभ्रमण कभी उपर से होता है कभी नीचे से । इसलिये सूर्य ग्रहण करकग्रास व खग्रास के भेद से दो प्रकार के प्रतीत होते हैं । इन दोनों में पार्थिव राहु से चन्द्र ग्रहण होता है । चान्द्र राहु से सूर्य ग्रहण होता है जैसा उपरि उल्लिखित वेद मन्त्र में दिखलाया गया है —

यत्त्वा सूर्य स्व॒र्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥ ऋ. 5/4/40/5

सूर्य दो प्रकार का होता है चित्य तथा चितेनिधेय । यह दिखलाई देने वाला ज्योति पिण्ड चित्य है । उसमें अन्तर्निहित प्राण रूप चितेनिधेय है, यह इन्द्र है, जैसा श्रुति में कहा है — "यथाऽग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।" इस प्रकार प्रथम मन्त्र में शरीर पिण्ड के अभिप्राय से कह कर उसमें निहित प्राण के संदर्भ में दूसरा मन्त्र है —

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूळहं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥

जिस-जिस वस्तु में अत्रि प्राण प्रवेश करता है वह-वह वस्तु कठिन तथा अपारदर्शी हो जाती है । उससे टकरा कर सूर्य की किरण परावर्तित हो जाती है इस तथ्य की ओर तृतीय मन्त्र संकेत करता है जो सूर्य के मुख से अत्रि को उद्दिष्ट करके कहा गया है —

मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गॉरीत् ।
त्वं मित्रो असि सत्याराधस्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा ॥

यहां अत्रि से आशय चन्द्र मण्डल का आरंभक अत्रि प्राण है । यह अत्रि प्राण ही मित्र एवं वरुण कहा गया है ।

पूर्व युग में सूर्य ग्रहण के तत्व को जानने की इच्छा से जिन विद्वानों ने कोई प्रयत्न किया तब अत्रि ऋषि ने ही उसे यथावत् जाना अन्य विद्वान् उसमें असमर्थ रहे ।

इस श्रुतिमूलक अर्थ को पौराणिकों ने प्राख्यान रूप से प्रस्तुत किया है जैसे महाभारत के अनुशासन पर्व में दानधर्म प्रकरण में भीष्म के मुख से कहलाया गया है ।

"घोर अन्धकार में देवदानवों ने युद्ध किया तब बाणों से राहु ने चन्द्रमा व सूर्य को बींध दिया। अन्धकार से ग्रस्त वे दानवों द्वारा मारे जा रहे थे तब देवों ने तपस्या करते हुए अत्रि ऋषि को देखा व बोले - हे प्रभो ! हमारी इस भय से रक्षा करो। इस समय आप चन्द्रमा और सूर्य बन जाइये। इस प्रकार कहने पर अत्रि चन्द्रमा तथा सूर्य बन गये तथा तपस्या के प्रभाव से प्रकाश फैला कर देव शत्रुओं को अपने तेज से नष्ट कर दिया।

सूर्य के अकस्मात् खग्रास से ग्रस्त होने पर चारों ओर से अन्धकार आच्छन्न देवों के भयभीत होने पर यह सूर्य का आवरण चन्द्रकृत है कोई भय का कारण नहीं यह अपनी विद्या से अत्रि ने जानकर देवताओं का भय दूर किया तब देवों ने संतुष्ट होकर अत्रि को वरदान दिया। यह प्रकरण अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में भी उपलब्ध होता है।

"आदित्यं हि तमो जग्राह। तदत्रिरपनुनोद। तदत्रिरन्वपश्यत। तदप्येतद् ऋचोक्तम् स्तुताद्यमत्रि दिवमुन्निनाय। दिवत्व अत्रिरधारयत् सूर्या मासायाकर्तवे।" इति तं होवाच - वरं वृणीष्वेति। स होवाच-दक्षिणीया मे प्रजा स्यादिति। तस्मादात्रेयाय प्रथमा दक्षिणा यज्ञे दीयन्ते इति" गोपथ पूर्व भाग 2/17

इससे पूर्व देवयुग में पारितोषिक प्रदान करने का प्रचार था यह भी विदित होता है। शाश्वत यश प्रतिष्ठा के लाभ के लिये स्मारक रूप में धर्म विशेष का व्यवस्थापन विशिष्ट पारितोषिक था। अत्रि गोमजो को यज्ञ में प्रथम दक्षिणा दी जाती है। यह देवों द्वारा की गई व्यवस्था प्रथम अत्रि की कीर्ति की आज भी स्मरण दिलाने वाली है।

इनके समय में भद्राश्व नामक कोई राजा थे। उसके घृताची नामक अप्सरा से एक प्रभाकर नामक पुत्र तथा दस कन्यायें हुईं — भद्रा, शूद्रा, मद्रा, शलमा, मलदा, नला, हला, गोचपला, तामरसा और रत्नकूटा। उन सबको अत्रि ऋषि की पत्नी के रूप प्रदान किया गया। उनमें भद्रा से सोम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह ब्राह्मण का पुत्र होने पर भी ब्रह्मा की कृपा से ब्रह्मण गन्धर्वादि के राजा पद पर अभिषिक्त होकर बाद में क्षत्रिय हो गया। अन्य कन्याओं से दत्त, दुर्वासा, अकल्मष, सत्यनेत्र, दीप्तिमान, आपोमूर्ति, तरुण और युक्त इत्यादि पुत्र हुए। ये सब ब्राह्मण अत्रि के वंशज होने से आत्रेय कहलाते हैं। उनमें दत्त और दुर्वासा अति विख्यात हुये। दत्त के वंश में श्यावाश्व, मुद्गल, वाग्भूतक और गविष्ठिरा चार प्रकार के अत्रि वंशी प्रसिद्ध थे। यह ब्रह्माण्ड पुराण के उपोद्घात के आठवें अध्याय में वर्णित है। इसी स्थान पर ब्रह्मवादिनी अबला नामक पुत्री का भी उल्लेख है जो निस्सन्देह अपाला के स्थान पर अपपाठ है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल में 89वें सूक्त की ऋषिका अपाला ब्रह्मवादिनी है। अपाला तथा विश्ववारा आत्रेयी थी।

ब्राह्म पुराण के गौतमी माहात्म्य में परुष्णी का कथानक कहा गया है जो इस प्रकार है अत्रि ने ब्रह्मा विष्णु तथा महेश की आराधना की तथा उनके तुष्ट होने पर कहा कि तुम मेरे पुत्र बनो तथा एक रूपवती कन्या भी हो । तब वे तीनों उसके पुत्र बने तथा एक शुभ आत्रेयी नाम की कन्या भी हुई। उनका नाम दत्त, सोम तथा दुर्वासा था । अग्नि से अंगिरस उत्पन्न हुए । तथा अंगारों से अंगिरा ऋषि हुए । उन तेजस्वी अंगिरा ऋषि को वह आत्रेयी कन्या प्रदान की गई । अग्नि के प्रभाव से वे आत्रेयी से सर्वदा कठोर वचन बोलते थे । कभी पति के वाक्यों से उद्विग्न होकर वह हाथ जोड़कर अपने श्वशुर से बोली मेरे पति व्यर्थ ही मुझ पर क्रोध करते हैं तथा कठोर वचन बोलते हैं आप इन्हें समझाइये । अग्नि बोले तेरे पति अंगिरा ऋषि अंगारों से उत्पन्न हुए हैं अत: जिस प्रकार ये शान्त हों ऐसी नीति करो । श्वसुर के उस वाक्य को सुनकर आत्रेयी ने आग्नेय रूप प्राप्त पति को जल से आप्लावित कर दिया । गंगा के जल से संप्लावित वे दोनों पति पत्नि शान्त रूप धारी हो गये । पति को आप्लावित करने के लिये उसने जलमय जो रूप धारण किया था उससे परुष्णी नामक गंगा की सहायक नदी बनी । वहाँ आंगिरस ने अनेकों दक्षिणाओं वाले अनेकों यज्ञों को गंगा और परुष्णी के संगम पर किया ।

परुष्णी यह पंजाब में बहने वाली इरावती (रावरी) नदी का ही नाम है । यास्क के निरुक्त में "इरावती" परुष्णीत्याहु: यह कहा है । इरावतीके निर्गम प्रदेश में अत्रि का स्थान था यह वायु पुराण में कहा गया है । वहाँ अत्रिप्राण के प्राचुर्य को देखकर अपने अनुकूल देखकर नररूप अत्रि ने भी चिरकाल तक वहाँ तपस्या की । तपश्चर्या का आशय है अत्रिप्राण का प्रसारण अत्रिप्रधान स्थान से प्रारंभ होने के कारण परुष्णी में अत्रिकन्या होने का आरोप है । वह अत्रिस्थान से प्रारंभ होकर अंगिरास्थान पर आई अत: विवाह की कल्पना की गई । अंगिरा का स्थान यज्ञ प्रधान होने से अग्नि की प्रचुरता वाला स्थान है । वह दृष्टवती आपया, सरस्वती शतद्रु विपाश और ऐरावती नदी वाला प्रदेश है । जैसा ऋ. 3/23/4 में कहा गया है ।

नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम् ।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि ॥

इस मंत्र में इडाया स्पंद इस पद से यज्ञाग्नि का दीपन प्रदेश ऐरावती नदी पर्यन्त था । अथवा ब्रह्मावर्त में ब्रह्मपरिषद् के अधिष्ठाता ये अंगिरा नामक ब्रह्मा थे । इन्होंने ऐरावती के दूर के प्रदेश को यज्ञों के लिये उपयुक्त स्थापित किया क्योंकि इरावती का प्रदेश यज्ञों के लिये रोचक नहीं है । अत: कहा गया है कि आत्रेयी को कटु वचन कहते हैं । अंगिरा यज्ञों से निवृत हो गया इसलिये कहा गया कि आत्रेयी ने अग्निगत आंगिरस को शान्त कर दिया । गंगा यह इरावती से मिलने वाली कोई नदी है । यह आधिदैविक वृत्तान्त आधिभौतिक आख्यान के रूप में उपनिषद्ध किया गया है । वास्तव में यह आत्रेयी परुष्णी नाम की मनुष्य रूप अत्रिकन्या नहीं थी । आध्यात्मिक और आधिदैविक वृत्तान्तों

का आधिभौतिक रूप से मिश्रित करके वर्णन करना पौराणिक स्वभाव है । जो कुर्म्मपुराण में उन्नीसवें अध्याय में कहा गया है —-

अत्रैः पुत्रो अभवद्ब्रहिनः सौन्दर्यस्तस्य नैध्रुवः ।
कृशाश्वस्य तु निप्रर्षेर्घृताच्यामिति नः श्रुतम् ॥

स तस्यां जनयामास स्वस्त्यात्रेयान्महौजसः ।
वेद वेदांगनिरतानतपसा हतकिल्बिषान् ॥

वह पाठ लेखक के दोष के कारण त्रुटित है अतः संशोधनीय होने के कारण उपेक्ष्य है । इन सोमदत्त और दुर्वासा के विषय में भी कुछ पौराणिक भ्रमवश बहुत सी भ्रान्त बातें कहते हैं । विष्णु पुराण में (1/10/8/9) एक ही अनसूया के गर्भ से तीनों की उत्पत्ति बताई गई है । भागवत (8/7) में कहा गया है कि ऋक्ष पर्वत पर तपस्या करते हुए अत्रि के तप से सन्तुष्ट ब्रह्मा विष्णु, महेश तीनों देवता साथ आकर आकाश मार्ग में अत्रि से बोले - हम तीनों देवता एक ही ईश्वर है इस तरह तुम्हारी ईश्वर की आराधना से प्रसन्न होकर हम अपने-अपने अंश से तुम्हारे तीन पुत्र होंगे । तब ब्रह्मा के अंश से चन्द्रमा, विष्णु के अंश से दत्तात्रेय तथा शिव के अंश से दुर्वासा इस प्रकार तीन पुत्र हुए यह कहा गया है । दूसरे कहते हैं अत्रि की पत्नी अनसूया पतिव्रता थी । उसके पातिव्रत्य की परीक्षा लेने के लिये तीनों देवता अत्रि के आश्रम में आये तथा नग्नावस्था में अनसूया से भिक्षा मांगने लगे । उनके उस चरित्र को देखकर पातिव्रत्य के प्रभाव से अनसूया ने उनको तत्काल छोटे बालक बना दिया । सावित्री लक्ष्मी व पार्वती के प्रार्थना करने पर शिशुभाव से मुक्त करके उनको सावित्री आदि को सौंप दिया तब उन तीनों देवों ने अपने-अपने अंश से एक मूर्ति बनाकर अनसूया का पुत्र बनना अंगीकार किया । उनके द्वारा दिये जाने के कारण उनको दत्तात्रेय कहते हैं । इस मत में दत्तात्रेय तीनों देवों के अंश से उत्पन्न अत्रिपुत्र हैं । पूर्व मत में वे केवल विष्णु के अंश से उत्पन्न माने गये हैं । वस्तुतः देवयुग में चिरन्तनकाल से अत्रि के ये सोम दत्तादि पुत्र माने गये हैं उस युग में ब्रह्मा विष्णु महेश तीनों देवों का एक ईश्वर रूप में आख्यान सुसंगत नहीं है । वेदमन्त्रों में कहीं भी उन तीनों का इस प्रकार साहचर्य उपलब्ध नहीं होता । इसलिये श्रुतिमूलक नहीं होने से यह आख्यान विश्वसनीय नहीं है । महाभारत के शांतिपर्व में 207 वें अध्याय में सोम और अर्यमा दो अत्रि पुत्र कहे गये हैं । उन अत्रि पुत्रों में अत्रि का प्रथम अत्रिपुत्र सोम था यह निस्संदिग्ध है ।

यहाँ कुछ यह कहते हैं सोम अत्रि का औरस पुत्र नहीं था किन्तु अत्रि के नेत्रों से उत्पन्न जल से उत्पन्न होने के कारण यह अनौरस पुत्र था । ऐतिहासिक समय (परम्परा) में उसका बार-बार स्मरण होता है । जैसे ब्रह्माण्ड पुराण के उपोद्घात में तथा हरिवंश पुराण में कहा गया है ।

सोम के पिता भगवान् अत्रि ऋषि ने ऊपर बांह उठाकर लकड़ी के तथा पत्थर समान निश्चल रहकर कठोर तपस्या तीन हजार वर्ष तक की। उस उर्ध्वरता के अनिमिष स्थित रहने पर उस महाद्वित ने सोमत्व को प्राप्त किया। उसके द्वारा भावना करने पर उनका सौगत्व ऊर्ध्वगामी हुआ तथा दोनों नेत्रों से बहने लगा तथा दसों दिशाओं में चमकने लगा। उस गर्भ को दश देवियों ने प्रसन्न होकर धारण किया किन्तु वे मिलकर भी उसे धारण न कर सकीं तब सर्वभावन चन्द्रमा लोकों को प्रकाशित करते हुए उनके साथ-साथ गिर पड़ा। लोक पितामह ब्रह्मा ने सोम को गिरते देखकर लोक हित की कामना से रथ पर बैठा दिया। उस सत्य प्रतिज्ञ धर्मात्मा वेदमय सोम ने सहस्र अश्वों से युक्त रथ पर बैठकर सागरान्ता वसुन्धरा की 21 बार परिक्रमा की। उसका बढा हुआ तेज पृथ्वी पर गिरा उससे तेज से प्रज्वलित औषधियां उत्पन्न हुई उनसे यह चारों प्रकार की प्रजाओं का वह पोषण करता है। क्योंकि सोम सभी जगत् का पोषक है इसलिये ब्रह्मा ने उनको बीज, औषधियों ब्राह्मणों एवं जलों का राजा बनाया है।

यही कथा मत्स्य और पदम् पुराण में भी आती है। सोम की उत्पति अत्रि की पत्नी समुद्रा के गर्भ से हुई है। अत: वे उनके औरस पुत्र हैं यह भी एक विभिन्न मत है।

नररूप अत्रि के नेत्रों से प्रस्रवित होकर नररूप सोम की उत्पति हुई इस पर तो विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि श्रुति, स्मृति और तर्क की दृष्टि यह कथानक भ्रामक प्रतीत होता है। नररूप अत्रि की धर्मपत्नी से नररूप सोम की उत्पति हुई तथा अनररूप अत्रि के नेत्रों के अश्रुजल से अनररूप सोम उत्पन्न हुआ। इस प्रकार सोम की द्विविध उत्पत्ति देखी जा सकती है।

वैदिक इतिहास श्रुतियाँ त्रिपथगामी हैं यह पहले भी कहा जा चुका है। वैदिक श्रुतियों का भाषान्तर पुराण नामक सृष्टि के इतिहास प्राय: आधिदैविक होने पर भी आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थ का भी बोध कराते हैं उनके चरित्र नामक देव ऋषि पितृ असुर गन्धर्वादि अर्थ भी अध्यात्म शरीर के प्रारंभ आधिदैविक रूप में ब्रह्माण्ड व्यापि निरूढ या यौगिक प्राण हैं। आधिभौतिक रूप सभी प्राणी अपेक्षित हैं उन आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक लक्ष्यों में जहां-जहां प्रक्रिया की समानता दिखाई देती है उन विषयों को पौराणिक इतिहास की मर्यादा से उपनिबद्ध कर देते हैं और जहां किसी अंश में वैषम्य दिखाई देता है वहां सर्वार्थ का सामंजस्य न होने से किसी एक पक्ष को ग्रहण करके संदर्भ योजना की जाती है। उसी के अनुरूप प्रस्तुत प्रकरण की उत्पत्ति के विषय में भी ब्रह्माण्ड पुराण में अधिभूत पक्ष को प्रधान बनाकर भद्रा नामक पत्नी से सोम उत्पत्ति की व्याख्या की है क्योंकि सिन्धु नदी के पश्चिम देश में रहने वाले गन्धर्वों को राजा सोम की अत्रि से ही उत्पत्ति हुई थी। फिर अधिदैवत पक्ष को प्रधान बनाकर तपस्या करने वाले अत्रि के नेत्र प्रस्रवण से सोम की उत्पत्ति बताई गई है। आधिदैविक सोम की जो इस पृथ्वी की परिक्रमा करता है उसी प्रकार अत्रिप्राण से उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार आधि-भौतिक नर जाति अत्रि से अपनी

धर्मपत्नी भद्रा अनसूया के गर्भ से उत्पन्न नररूप गन्धर्वराज चन्द्रमा भिन्न है । आधिदैविक अत्रिप्राण से नैत्र प्रसूत रस से उत्पन्न आकाश में प्रकाशमान पृथ्वी के चारों ओर परिभ्रमण करने वाला यह चन्द्रमा भिन्न है । उनकी उत्पत्ति में प्रकार भेद होने के कारण भी अत्रिजन्यता समान है ।

या रुक परात्रिजातस्य शशिनः सज्जनस्य च ।
न सा वै रात्रिजातस्य तमसो दुर्जनस्य च ॥

इत्यादि में आकाश स्थित चन्द्र के लिये जैसे अत्रि जात होना बताया गया है उसी प्रकार आधिदैविक दत्त दुर्वासा से जो आत्रेय होने के कारण भ्रातृभाव से युक्त है ऐसे नर विशेष चन्द्र की अत्रि जातता उपपन्न है । इसमें नर विशेष चन्द्र की अत्रि व अनुसूया से उत्पत्ति निर्विवाद है । आकाश स्थित चन्द्रमा की उत्पति कैसे हुई यह प्रकण इस सोमोत्पति वर्णन से स्पष्ट समझा जा सकता है ।

इस सोम की उत्पत्ति के विषय में विवेचन किया जाता है । जगद्व्यापि सूक्ष्म अव्यक्त कुछ अव्याकृत अर्थ है वह अशनाया की अवस्था में विक्षुब्ध हुआ । प्रारम्भ में अशनाया आत्मान्विती नहीं थी । उसने सोचा मेरे आत्मा हो । तत्पश्चात् स्वयं अर्कअशनायावान् बना तथा जल में सम्पूर्ण जगत का बीज हिरण्यगर्भ वायुमय ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुआ । जब तक अशनाया रही तब तक अग्नि व जल रहे इसे एक हिरण्यमयमण्डल कहा जाता है । अग्निरेतस् वस्तुओं की हिरण्य संज्ञा है । उसके गर्भ में जो नम्य आत्मा वायु है वह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा है । वही इस ब्रह्माण्ड में सृष्टिकर्ता है । वह अग्निमय और आपोमय द्विधा होकर स्त्री पुरुष रूप विराट् को उत्पन्न करता है । चित्य किञ्चित् परिच्छिन्न यज्ञमय, अन्न, अग्नि विराट है । उसे पृथ्वी कहते हैं । वह तप्त होकर अन्तर्गर्भ में चितेनिधे अग्नि को उत्पन्न करता है उस अग्नि को मनु कहते हैं । मनु से मरीचि आदि दस प्राण उत्पन्न होते हैं । यही अर्थ वाजसनेय श्रुति में कहा गया है —

"नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्-मृत्युवै वेदम पावृमासीत्-अशनायया । अशनाया हि मृत्युः । तन्मनोंऽकुरुत आत्मन्वी स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत् । तस्यार्चत आपोऽजायन्त । आपो वा अर्कः । तद्यपां शरआसीत् तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत् । तस्यामश्राम्यत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्ततााग्निरिती ।"

इसी प्रकार का वर्णन मनुस्मृति में भी उपलब्ध होता है । मनुस्मृति में हिरण्यगर्भ से उत्पन्न यह मनुविराट से भिन्न नहीं है चित्य और चितेनिधेय का समान आयतन होने से एक ही है । विराट् भी हिरण्यगर्भ से भिन्न है क्योंकि हिरण्यगर्भ प्राण की चिति से ही उसकी उत्पति । इसीलिये मरीचि आदि की मनुजन्यता के समान विराट् जन्यता या ब्रह्मजन्यता जो पुराणों में कही गयी है परस्पर विरुद्ध नहीं है । इन मरीचि आदि से भृगु अंगिरा और अत्रि की उत्पत्ति का निरूपण शौनक ने वृहद् देवता में किया है ।

प्रजापति ने त्रिसांवत्सरिक सत्र को प्रजा की कामना से साध्य विश्व देवों के साथ किया। उस यज्ञ में दीक्षणीया वारा अशरीरिणी उपस्थित हुई उस समय वरुण का शुक्र बहने लगा उसे उसने वायु तथा अग्नि में डाल दिया। उनकी ज्वालाओं से भृग तथा अंगारों से अंगिरा ऋषि उत्पन्न हुये। प्रजापति ने इन दोनों पुत्रों को देख कर वाग् हर्षित हुई तथा बोली इन दोनों से तीसरा पुत्र उत्पन्न हो। प्रजापति ने कहा ऐसा ही हो तथा सूर्य व अग्नि के समान तेजस्वी अत्रि ऋषि उनसे उत्पन्न हुए।

यहाँ सौर संवत्सर प्रजापति है। उसके त्रैवार्षिक पृथिवी के योग पर पार्थिव प्रजापति प्राण की महिमा वाग् निकल कर वायु आदि के समान अशरीरिणी होकर पृथिवी के वाहन की ओर प्रकट हुई। वहाँ दक्ष तथा वरुण के रस वायु रूप में संश्लिष्ट थे। दक्ष का अर्थ है दशों दिशाओं से स्वयं बहने वाले प्रचेता नाम वाले रसों के संयोग से उत्पन्न दिक् सोममय प्राण। वह निरन्तर पृथ्वी की ओर बहता है। इसी प्रकार सूर्य मण्डल के प्रकाश से बाहर चारों दिशाओं में परिव्याप्त अम्भः समुद्र से आपोमय प्राण जो पृथ्वी पर बहता है वरुण है। उन दोनों का पृथिवी के रस वाङ्मय प्राण में प्रस्रवण होता है। पञ्च भूतों में आदि भूत आकाश नामक तत्व सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होकर इस पार्थिव प्राण से संलग्न होकर उसी से उत्पन्न माना जाता है। उनके संघर्ष से अग्नि रूपी वसु उत्पन्न होता है। उस अग्नि स्वरूप में भृगु अंगिरा व अत्रि प्राण उत्पन्न होते हैं उसकी ज्वालाओं से भृगु उत्पन्न हुआ जैसा भृगुर्वारूपणि इत्यादि उल्लेखों से स्पष्ट है। अंगारों में अंगिरा उत्पन्न हुआ जैसा — "त्वमग्ने अंगिरा प्रथण ऋषि" इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। वरुण के अंश से भृगु तथा अग्नि के अंश से अंगिरा उत्पन्न माने जाते हैं। अग्नि पृथ्वी की आत्मा पृथ्वी से बाहर होता हुआ सांवत्सर है। उसका जो वाचिक भाग उत्पन्न हुआ है वह अत्रि नामक प्राण है। जिस प्रकार ज्वालाओं में विभाजनशील, पकता हुआ या पकाया जाने वाला वरुण का भाग भृगु नाम से उत्पन्न होता है जैसे पार्थिव काष्ठादि धन द्रव्यों में गर्भगत रूप अर्थ दहन काल में दिखाई देता है वह वास्तव में घने कृष्ण वर्ण का काष्ठादि अंगी का रस होने से अंगिरा शब्द से पुकारा जाता है वैसे ही जलते हुए काष्ठादि से बाहर स्थित वायु के रस को आस्वादन करने के लिये अपने आप में खींच कर जो आस्वादन करता है वह भोक्ता प्राण अदन (अद्+भक्षणे) प्रधान होने से अत्रि नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार अत्रि प्राण की उत्पत्ति कही गई।

इस विषय में कुछ लोगों का कथन है कि शौनक द्वारा कहा गया यह अत्रि जन्म का वृत्तान्त असंगत व अनुचित है। जैसे कि क्सायथ वरुणस्य यह कहते हुए शौनक पूर्व विद्यमान किस वरुण के योग से अत्रि की उत्पत्ति बता रहे हैं। वे दक्ष नामक प्रजापति कौन हैं। उस अत्रि वंश में उत्पन्न अर्वाक्कालिक प्राचीन बर्हि से सवर्णा सामुद्री से उत्पन्न दश प्रचेताओं से मारिषा नामक सोम कन्या में आधे सोम के अंश से तथा आधे प्रचेता के अंश से बाद में विष्णु पुराण के प्रथम अंश के पन्द्रहवें अध्याय व ब्रह्म पुराण के प्रथम अध्याय में बताई गई है। महाभारत के शान्ति पर्व में मोक्ष धर्म के स्वस्तिकं अध्याय में भी कहा गया है —

अत्रिवंश समुत्पन्नो ब्रह्मयोनिः सनातनः ।
प्राचीनबर्हिर्भगवाँस्तस्मात् प्रचेतसो दश ।
दशानां तनयस्त्वेको दत्तो नाम प्रजापतिः ।
तस्य द्वै नामनी लोके दक्ष क इति चोच्यते ॥

हविर्धान से घिषणा नाम की पत्नी से प्राचीन बर्हि उत्पन्न हुए। अन्तर्धान से शिखण्डिनी नाम की पत्नी से बहिर्धान उत्पन्न हुए। पृथु से अन्तर्धान, वेन से पृथु, अंग से वेन। अंग अत्रि वंश में उत्पन्न हुए इस प्रकार प्राचीन बर्हि अत्रि वंशज है। इस प्रकार अत्रिवंश में बहुत काल पश्चात् उत्पन्न हुए क से अति प्राचीन अत्रि की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है। इस विषय में हमारा यह कथन है। दक्ष दो हुए हैं। प्रथम स्वायम्भुवमन्वन्तर के ब्रह्मा के पुत्र। वे अत्रि के समान जन्मा मरीचि के भी पूर्वज थे। जैसा विष्णु पुराण में कहा गया है। महाभारत के शांति पर्व में भी मोक्ष धर्म के अन्तर्गत सर्व भूतोत्पति अध्याय में भी बताया गया है। दूसरे चाक्षुष मन्वन्तर के सोम के अर्द्धांश तथा दस प्रचेताओं द्वारा मारिषा नामक से उत्पन्न दक्ष जैसा महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है —

तेजोभिसदिता सर्वे महर्षि समतेजसः ।
दश प्रचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्यजनाः स्मृताः ॥

तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः ॥

"क" यह दोनों ही दक्षों का समान नामान्तर है। उनमें वरुण सहित पूर्ण दक्ष से अत्रि का जन्म हुआ तथा अत्रि के वंश में पुनः प्राचेतस दक्ष उत्पन्न हुए। इस प्रकार यहां कोई विसंगति नहीं है।

इस विषय में तीन मत हैं। प्रथम मत वाले कहते हैं कि प्रजापति कहे गये हैं। अतः कः शब्द प्रजापति का वाचक है। तथा प्रजापतित्व सामान्य को लेकर दक्ष को भी बताता है। दक्षादि प्रजापति अनेक हैं। उनका पति ब्रह्मा है। उसमें ब्रह्मा प्रजापति ही यहां अभीष्ट है। महाभारत के अनुशासन पर्व में 85 वें अध्याय में स्वर्णदानधर्म के प्रकरण में साधारण ब्रह्मा शब्द से ही उसका उल्लेख है। उनके कथन को संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया जाता है।

वशिष्ठ बोले — मैंने ब्रह्मा का दर्शन इस प्रकार सुना और पढ़ा है। ब्रह्मा परमात्मा का कथानक इस प्रकार है। महादेव रुद्र द्वारा वरुण के शरीर को धारण करते हुये जो यज्ञ प्रारम्भ हुआ उसमें अग्नि आदि सभी देवता हैं। उस यज्ञ में सभी देवता अग्नि में प्रविष्ट हो गये। इस कारण कहा जाता है अग्नि में ही सभी देवता हैं। तब परमात्मा ने स्वयं आहुति दी तथा अनेक रूप कल्याणकारी वह यज्ञ सुशोभित हुआ। रुद्र के उस वरुण यज्ञ में देवी दीक्षा भी थी। उसे देखकर स्वयंभू ब्रह्मा का वीर्य पृथ्वी पर गिरा। उस वीर्य के कणों को पूषा ने समेट कर उसी अग्नि में डाल दिया। तब प्रज्जवलित अग्नि के यज्ञ के चलने पर तथा ब्रह्मा के वीर्य के अग्नि में आहुति देने पर तीन पुरुष

अपने-अपने उत्पत्ति कारण के गुणों सहित उत्पन्न हुए। भृग इस नाम वाला पहले अंगारों से अंगिरा। इस प्रकार अत्रि ज्वालाओं से उत्पन्न को भृगु कहते हैं। अंगारों से आश्रय के कारण उसका नाम कवि भी है। अंगारों से अंगिरा उत्पन्न हुये। कुश समूह से बाल खिल्य मरीचियों से मारीच कश्यप हुए। तब वरुण पवन रूप महादेव बोले — यह सत्र मेरा है। अत: मेरी तीन सन्तान हैं। अग्नि बोला मेरे अंगों से मेरा आश्रय लेकर ये उत्पन्न हुए हैं। अत: मेरी सन्तान हैं। वरुण तो अवश रूप है। इस पर सब लोकों के पितामह व पूज्य ब्रह्माजी बोले ये मेरी ही सन्तान हैं क्योंकि मेरे ही वीर्य की यहाँ आहुति दी गई है। मैं ही इस सत्र का कर्ता व शुक्र का होता भी मैं ही हूँ। जिसका बीज होता है उसी का फल होता है। यह मेरा ही शुक्र है इसलिये मेरी ही सन्तान है। तब देवों ने आकर पितामह से कहा वरुण अग्नि आदि जो भी है सभी तुम्हारी सन्तान है। पूर्व सन्तान भृगु को वरुण रूप शिव ने ग्रहण किया। अत: प्रसव के कर्म को करने वाला भृगु वरुण की सन्तान माना गया। ईश्वर ने अग्नि की सन्तान अंगिरस को माना इसलिये अंगिरा नामक महायक्ष को आग्नेय कहा जाता है। ब्रह्मा से यशस्वी कवि उत्पन्न हुआ। ये सभी तीनों प्रजापति हैं तथा इन तीनों की सन्तान हैं यह निश्चित जानो।

यह वशिष्ठ ऋषि का कथन शौनक के समान अर्थ वाला है। इसलिये अत्रि के जन्म का दक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। वायुमय हिरण्यगर्भ से, विराट् से या अग्नि से तथा वैराज मनु से उसका सम्बन्ध इच्छित होने के कारण अथवा जिनके मत में दक्ष भी क का ही नाम है उसके अनुसार भी कोई दोष नहीं है।

यदि यह कहा जाये कि प्राचेतस दक्ष की भी अत्रि की भांति अत्रि के समान काल में हिरण्यगर्भ के पौत्र वैराज स्वयंभू मनु से उत्पति मनु स्मृति में बताई गई है। जैसा निम्न श्लोक में वर्णित है —

मरीचिमत्रयाङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्राचेतसं वशिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥

इसलिये अत्रि वंश में बाद में उत्पन्न हुए प्राचेतस ही दक्ष थे तो यह उचित नहीं है क्योंकि कि प्रचेताओं से उत्पन्न दक्ष को समान रूप से मनुजन्य कहा गया है अथवा ब्रह्मा के पुत्र दक्ष और प्राचेतस दक्ष के स्वरूपादि साधर्म्य के बोध हेतु वैसा कहा गया है।

अथवा पौराणिकों ने ही इसका समाधान कर दिया है। जैसे ब्रह्मपुराण के प्रथम अध्याय में "मारिषा नामक यह कन्या वृक्षा से निर्मित हुई यह सोमवंश को बढ़ाने वाली भाग्यशालिनी आपकी भार्या बने। तुम्हारे आधे तेज से और मेरे आधे तेज से इस कन्या से विद्वान् दक्ष नामक प्रजापति उत्पन्न होंगे। इस प्रकार सोम कहने पर उन प्रचेताओं ने क्रोध को दूर करके वृक्षों से धर्म पूर्व मारिषा को पत्नि बनाया। दश प्राचेताओं से मारिषा के गर्भ से सोम के अंश द्वारा दक्ष नामक तेजस्वी

प्रजापति उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दक्ष का प्राचेतसत्व निरूपित करने पर मुनिगण पूछते हैं। हमने महात्मा दक्ष प्रजापति की उत्पत्ति सुनली है कि ब्रह्मा के अंगुष्ठ से शुभव्रत वाले दक्ष का जन्म हुआ। फिर वह प्राचेतस किस प्रकार बने तथा सोम के दौहित्र होने पर भी श्वसुर कैसे बन गये। इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया गया है। हे ब्राह्मणों प्राणियों की उत्पत्ति और निरोध नित्य हैं। विद्यावान् पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होते। दक्षादि राजा प्रत्येक युग में जन्म लेते हैं तथा फिर मर जाते हैं। विद्वान् उस विषय में भ्रमित नहीं होते। पूर्व में हे ब्राह्मणो! उनमें ज्येष्ठता व कनिष्ठता भी नहीं थी तपस्या व प्रभाव ही महान् कारण होता था। इसलिये इन दक्षादि में युग भेद से पृथकता की विवक्षा के कारण सोम की दौहित्रता व श्वसुरता सभी संभव है। इस प्रकार विरोध का शमन हो जाता है।

हम इस विषय में कहना चाहते हैं कि पुराणों में कहे गये चरित्र-नायकोंका तीन प्रकार का सृष्टि कल्प होता है — तात्विक सृष्टि कल्प, आध्यात्मिक सृष्टि कल्प तथा मानुष सृष्टि कल्प। उनमें तात्विक एवं आध्यात्मिक कल्पों में जो पदार्थ विद्या रूप हैं यह व्यामोहन नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि पदार्थों की कहीं पुत्र-पौत्रादि, से भी पिता-पितामहोंकी उत्पत्ति देखी जाती है — जैसे "उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, तथा जल से पृथ्वी।" यहाँ तैत्तिरीयोपनिषद् में अग्नि से जल की उत्पत्ति वर्णित है। "किस गर्भ को पहले जलों ने ग्रहण किया" इस प्रश्नोपनिषद् में अग्निको जलों के गर्भ से उत्पन्न कहा गया है। अग्नि से आप: तथा आप: से पृथ्वी इस प्रकार पृथ्वी पौत्री है। किन्तु शतपथ ब्रह्मण में जो जलों का सारभाग था वह एकत्रित हो गया वह पृथ्वी बना। वह उसमें श्रान्त हुआ। उस श्रान्त तेज का रस रूप अग्नि निकला इस कथन में जल से पृथिवी तथा उससे अग्नि की उत्पत्ति बता कर अग्नि को पृथ्वी का पुत्र कहा गया है। ऋ. 10/156/40 में "अग्नि से अजर नक्षर सूर्य आकाश में मनुष्यों के लिये ज्योति धारण कर के आरूढ हुआ" इस प्रकार सूर्य को अग्नि जन्मा कहा गया है। दूसरी ओर —

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथा:।
तं जानन्नग्न आ सीदाथा नो वर्द्धया गिर:॥ ऋ. 3/29/10

ऋग्वेद के इस मंत्र में अग्नि का सूर्य से जन्म वर्णित है। इसी प्रकार अन्यत्र भी देखा जा सकता है। जिस प्रकार तन्तुओं से पट बनता है वैसे ही पट से भी तन्तु उत्पन्न होते हैं। जैसे अग्नि से जल कर अंगारे उत्पन्न होते हैं वैसे जलते अंगारों से अग्नि भी लोक में उत्पन्न होती है जैसा वाज संहिता में कहा गया है।

"स ए पिता पुत्र:। यदेषो अग्निमसृजत तेनैषो अग्ने: पिता यदेतम
अग्निसमधातु तेन तै तस्याग्नि: पिता।

यदेष देवनासृजत तेनैष देवानां पिता। यदेतं देवा: समदधु: तेनैतस्य देवा: पितर: उभयं हैतद् भवति पिता च पुत्र च। प्रजापतिश्चाग्निश्च-अग्निश्च प्रजापतिश्च प्रजापतिश्च देवाश्च देवाश्च प्रजापतिश्च (6/1/2) इसी प्रकार यहां वाग् दक्ष वरुण वायु तथा अग्नि के योग से दूसरा पांच्चजन्य अत्रि उत्पन्न होता है। अत्रिवंशज प्राचीनबर्हि से उत्पन्न दस प्रचेताओं से दूसरा दक्ष उत्पन्न होता है।

प्राचादि के बाद जो वायु शरीर वाला हिरण्यगर्भ ब्रह्मा है। इससे उत्पन्न वागादिमय शरीर से विराज जो स्वयंभू है उत्पन्न होता है उससे भी ये अत्रि और दक्ष उत्पन्न होते हैं। इस कारण से इनकी ब्रह्मजन्यता खंडित नहीं की जा सकती। उनमें हिरण्यगर्भ प्रजापति से या दक्ष प्रजापति से अत्रि उत्पन्न हो सकते हैं। दोनों ही प्रकारों में उस प्राण का पारदर्शकता का प्रतिबन्धक होकर सूर्यादि तेज पुत्रों की किरणों को परावर्तित करना साधारण धर्म है। इसी प्रकार ब्रह्मा के अंगुष्ठ से उत्पन्न होने वाला यह दक्ष हो सकता है। दोनों प्रकार के उसमें आदित्य के साठ प्रकार के प्राणों का जनक होना तथा क्रतु सहचारिता समान धर्म है। उनमें अदिति आदि का स्वरूप निरूपण ब्रह्म विज्ञान के रजोवाद में विशदता से देखा जा सकता है। क्रतु और दक्ष का स्वरूप वाजसनेयी संहिता में वर्णित है। "क्रतूदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ। एतन्नवध्यात्मम्। स य देवमनसा कामयेते - इदं मे स्यादियं कुर्वीयेति स क्रतु:। अथमदस्मै तत् समृद्धयते स दक्ष:। मित्र एवं क्रतु: वरुणो दक्ष:"। (शतपथ 4 कांड 4 ब्राह्मण) यह अध्यात्म रूप ही है। अधिदैवत रूप रजोवाद में व्याख्या किया गया है। यदि कोई कहे कि दक्ष ब्रह्मा के अंगुष्ठ से उत्पन्न हुए यह कोई प्राणरूप दक्ष नहीं हो सकते तो उसका खण्डन किया जाना चाहिये। ऐतरेय उपनिषद् में जलों से उत्पन्न कोई आद्य/महापुरुष कहा गया है वह यह जगद्व्यापी ईश्वर है। तस्मात्परं नापरमस्त किञ्चित् तस्मान्नाणीयो न ज्यांयोअस्ति किंचित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ यही सबका जन्मदाता व प्राणधन है। वही अग्निमय होने से विराट एवं विष्णु कहा जाता है। वही वायुमय होने से हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा कहलाता है। वही इन्द्रमय होने से सर्वज्ञ और शिव कहलाता है। तीनों देवता एक ही मूर्त्ति है। वह वायु से सम्पूर्ण जगत् का सृजन करता है। अग्नि से सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करता है, ज्ञानोत्पत्ति पर हृदय की ग्रन्थि खोल कर सम्पूर्ण जगत् का संहार करता है यही पौराणिक मर्यादा है। उत्तर दिशा इसका सिर है, दक्षिण दिशा इसका चरण है। पूर्व दिशा इसका दक्षिण हाथ है, पश्चिम दिशा इसका बांया हाथ है अथवा पूर्व दिशा सिर, पश्चिम चरण, दक्षिण दाहिना हाथ और उत्तर बांया हाथ है। यह भी कुछ लोग कहते हैं। प्रधान अंगुलि के वाचक अंगुष्ठ शब्द से हाथ का भाग विशेष अभिप्रेत है। वह दक्षिण होने से दक्ष का और उत्तर होने से दक्ष पत्नी का जन्म होता है। यहां भी ब्रह्म शरीर के भागों से उत्पन्न पदार्थों की पौराणिक परिभाषा देखी जा सकती है।

अत्रि उत्पत्ति के प्रसंग से यहां दक्ष की उत्पत्ति कही गई है। अब प्रकृत विषय पर फिर आते हैं। यह आदि पुरुष त्रिविध माना जाता है - मनोमय, प्राणमय और वाङ्मय। इसी पुरुष से यह सब

उत्पन्न होता है । उस उत्पत्ति में मनोमय निमित्त कारण है प्राणमय असमवायिकारण है और वाङ्मय समवायि कारण है । वाक् दो प्रकार की होती है । अमृता और मर्त्या । अमृता से सारे देवता और मर्त्या से सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं । उस पञ्चभूतों में आदिभूत आकाश नाम से प्रसिद्ध - वाक् से ही दक्ष वरुणादि अमृत के योग से अत्रि उत्पन्न होता है यह जानना चाहिये ।

उत्पन्न होने के बाद यह अत्रि प्राण जिस वस्तु में आरम्भक विधि से ग्रहण किया जाता है वह वस्तु पारदर्शकता से रहित हो जाती है उससे टकराकर सूर्य की रश्मि उस वस्तु के रूप को उत्पन्न करती है । वही रूपवान द्रव्य चक्षु से ग्रहण किया जाता है । ऐसा तेजस् आप्य और पार्थिव पदार्थों में होता है । काचादि पार्थिव द्रव्य में यह अत्रिप्राण अल्पमात्रा में होता है इसलिये सूर्यादि तेजो रश्मियों में से कुछ पराहत होती हैं । अधिक मात्रा में पार चली जाती हैं । वायु आदि अरूपवान् द्रव्यों का यह अत्रिप्राण प्रारम्भ नहीं है । अत: उसमें सूर्य रश्मियों का प्रत्याघात नहीं होता तथा रूप की उत्पत्ति नहीं होती । सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि जितने धन द्रव्य हैं उनमें यह अत्रिप्राण अधिकमात्रा में होता है इसलिये अत्रि से सोम की उत्पत्ति होती है जैसे कि प्रति संवत्सर काल में यह पृथ्वी सहस्रांश सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है तब सूर्य की किरणों से परितप्त पृथ्वी से प्रतिपल निकलता हुआ यह अत्रिप्राण पृथ्वी के पीछे परिसरण करता है । उस अत्रि प्राण के संवत्सर सहस्राशों से संयोग के कारण प्रत्यावृति परितप्त होती है । परिक्रमण की तीन आवृत्ति से तीन बार संवत्सर की सहस्रांशुओं के परिताप से इस अत्रिप्राण का शरीर सोमत्व को प्राप्त करता है । वह सोमभाग परितप्त होकर अश्रिनेत्र से बहता है । नेत्र शब्द यहां रश्मिपरक है । जब तक यह अत्रि का तनुभाग सोम रूप में परिणत होता है तब तक उर्ध्व व्योमी इस ओर के अत्रि से पृथक होकर सम्पूर्ण दिशाओं को व्याप्त करता हुआ पुन: पृथ्वी की ओर ही गिरता है । पृथ्वी की ओर गिरते हुए इस सोमराशि को हिरण्यगर्भ ब्रह्मा वायुरूप से चन्द्र की कक्षा के धरातल पर समेट कर इक्कीस बार परिक्रमा करता है । इन इक्कीस परिक्रमाओं के बाद क्रमश: इस सोमराशि को सब ओर से समेट कर सूर्य की तरह सहस्र किरणों वाला सोमपिण्ड बना देता है । वहीं यह चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा करता आकाश में दिखाई देता है । जिस प्रकार दिन में जल की राशि सूर्य से तपाये जाने पर ऊर्ध्वगामी होकर पृथिवी से उपर उठकर दिशाओं में व्याप्त होकर रात्रि में पुन: पृथ्वी पर ही गिरनी प्रारम्भ होती है किन्तु वह पृथ्वी के चारों और चन्द्र की कक्षा में उपलक्षित आकाश में हिरण्यगर्भ से उद्भावित वायुचक्रमय धरातल पर अवरुद्ध होकर पृथ्वीतल पर नहीं उतरती अपितु वहीं संचित होकर इक्कीस परिक्रमणों से अवच्छिन्न काल में पिण्ड रूप से परिणत होकर पृथ्वी के चारों ओर आज भी उस वायु से प्रेरित होकर परिक्रमा करती रहती है जिस प्रकार आकाशों में विकीर्ण किरणों वाला यह केतु क्रमश: पिण्ड रूप धारण करके सूर्य हो जाता है इसी प्रकार विकीर्ण सोम की किरणें क्रमश: संहत होकर चन्द्रपिण्डता को प्राप्त करती हैं। इस चन्द्रमण्डल की उत्पत्ति का रहस्य ब्रह्माण्डादि पुराणों में पौराणिकों ने बताया है । महाभारत के अनुशासन पर्व में दानधर्म प्रकरण में अत्रि के माहात्म्य प्रसंग

में अत्रि द्वारा ही चन्द्र बन कर अन्धकार के निवारण का निरूपण है। (महाभारत अनुशासन पर्व 261-86 वां अध्याय)।

जो यह चन्द्रमा है वह कभी सूर्य था। वह जल कर शान्त हो गया और अन्दर अग्नि धारण करके पृथिवी बन गया। सर्वथा अग्नि के परीक्षीण होने पर वह चन्द्रमा बन गया यह कुछ अर्वाचीनों का मत ब्रह्म विज्ञान के अहोरात्रवाद में व्याख्या किया गया है। वह भी एक मत है यह समझना चाहिये।

इस चन्द्रमा का जितना सोमभाग पृथिवी पर औषधि वनस्पति और प्राणिसमूह में संक्रान्त होता है तथा कम हो जाता है उतना ही यहां अत्रि से उत्पन्न सोम चन्द्रमण्डल में प्रवेश कर के परिपूर्ण हो जाता है। यह क्रम आज भी चलता रहता है। इस चन्द्रमा का रथचन्द्र की कक्षा में प्रसिद्ध रथ वायुमय मार्ग विशेष सहस्रांशु का समूह है। पुराणों में रथ का स्वरूप वर्णित है जैसे लिंगपुराण में 56 वें अध्याय में कहा गया है।

वीथी (परिक्रमण पथ) के आश्रय वाले नक्षत्रों और चन्द्रमा विचरण करते हैं उसका रथ तीन पहियों वाला तथा दोनों तरफ अश्वों वाला है। सौ आरों वाला तीन पहियों से युक्त श्रेष्ठ सफेद घोड़ों वाला है। जो घोड़े संख्या में दस हैं दुबले नहीं हैं असग अस्त वाले तथा मन के समान गति वाले हैं। इस रथ से देवताओं और पितरों के साथ-साथ वह गमन करता है। वह सोम अम्बुमय शुक्ल किरणों से युक्त है तथा शुक्ल पक्ष है प्रारम्भ में सूर्य के सम्मुख स्थित होकर क्रमण करता है। देवताओं द्वारा पिये गये क्षीण सोम को आप्यापित करता है। पन्द्रह दिन पिये गये सोम भाग को सूर्य एक-एक सुषुम्ण रश्मि द्वारा अनुक्रम से पूरा करता है। इस प्रकार सूर्य के पराक्रम से चन्द्र का शरीर पूर्ण होता है वह चन्द्रमा पौर्णमासी तिथि को सम्पूर्ण मण्डल वाला दिखाई देता है।

आदि नाड़ी, मध्य नाड़ी और अन्त्य नाड़ी इस प्रकार नक्षत्रों की नाड़ी के रूप में अभिप्रेत चन्द्रकक्षा में अवलम्ब भूतों के त्रिरूप होने से चन्द्ररथ को यहां से त्रिचक्र बताया है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। आकाश में उच्चमार्ग से मध्यमार्ग से तथा अतिनिम्न मार्ग से यह परिभ्रमण करता है। इसलिये चन्द्रकक्षा नामक रथ त्रिचक्र कहा गया है। यह कुछ अन्य व्यक्ति मानते हैं। सोमरस को पीने के लिये 33 सोम पीने वाले देवता चन्द्र की कक्षा में संक्रमण करते हैं इस प्रकार चन्द्र चक्र की त्रिविधता के कारण 99 रश्मियाँ बनती हैं। इसलिये रथ को सौ आरों वाला कहते हैं। अहो रात्र वृत को अश्व कहते हैं। पाँच दक्षिण दिशा से तथा पाँच उत्तर दिशा से इस प्रकार नाड़ी वृत से चनद्रमा के अहोरात्रवृत्तों के कारण रथ को दस घोड़ों वाला कहते हैं। उसमें इक्कीस बार पृथ्वी के परिक्रमणों के बाद इस चन्द्रमा से कुछ सोम का भाग चन्द्रमा से अलग होकर पृथिवी पर औषधादि से मिल कर उन अर्थों का उपादान होता है यह कहते हैं।

इस प्रकार आकाशचारी चन्द्रमा की उत्पत्ति का मूलभूत जो अत्रिप्राण है उसका जो प्रथम द्रष्टा था उसे ही विद्वान् अत्रिनाम से पुकारते हैं। अत्रि प्राण के परिद्रष्टा होने से अत्रि महर्षि के नाम से प्रसिद्ध इस विद्वान् को उस कीर्तियुक्त नाम के व्यवहार की बहुलता के कारण उनका व्यवहारिक नाम कहीं भी स्मरण नहीं किया जाता।

इन अत्रि की पुत्र परम्परा भी इसी अत्रि शब्द से पुकारी जाने लगी। अत्रि प्राणमय ब्रह्मा के वंशधर होने से तथा अत्रि प्राणमय होने से इन्हें भी अत्रि कहते हैं। इस प्रकार इन अत्रि की शिष्य परम्परा जो आत्रेय ब्रह्म परिषद् की अधिष्ठात्री थी उसी अत्रि शब्द से पुकारी जाने लगी। अत्रि प्राण के उपासक होने से अत्रि प्राण के आराधन परीक्षादि प्रयोग प्रधान वृत्ति होने से। उसके कारण यह अत्रि शब्द कुल परम्परा से रूढ होने के कारण जाति वाचक हो गया। इसलिये "जातेरस्त्रीविषयात्" इस सूत्र में गौत्र और चरणों को साथ-साथ वैयाकरण स्मरण करते हैं। इसलिये अनन्त अत्रि समय-समय पर भिन्न-भिन्न पुराण इतिहासादि में प्रसिद्ध हैं। उसमें पूर्वकाल में देवयुग में आत्रेय ब्रह्म परिषद् में दो अत्रि क्रमशः लोक शास्ता ब्रह्मा के आसन पर बैठे थे। भौम अत्रि तथा सांख्यात्रि। प्रथम ने केवल भूमि में स्थित अत्रि प्राण को देखा इसलिये भौम अत्रि प्रथम थे। वे ऋग्वेद के पंचम मण्डल के द्रष्टा महर्षि थे। उन्होंने 37 वें से लेकर कतिपय सूक्तों के मन्त्र का दर्शन किया था ये भौम अत्रि ही चन्द्रमा के पिता थे।

इसके बाद जो बाद में आकाश में उत्तर ध्रुव में सन्निहित सप्तार्षिमण्डल में चतुर्थ तारिका में अतिप्राण के द्रष्टा थे वे द्वितीय सांख्यात्रि थे। उस तारिका का निरूपण ब्रह्म संहिता में भी प्राप्त होता है। पूर्व भाग में भगवान् मरीचि दूसरे भाग में वसिष्ठ स्थित है उसके बाद अंगिरा तत्पश्चात् अत्रि उसके निकट पुलस्त्य पुलह तथा क्रतु क्रमशः हैं। अत्रि प्राणमय यह नक्षत्र होने से इसे अत्रि कहते हैं। ये आधिवैविक अत्रि हैं।

इसी प्रकार अध्यात्म में भी अत्रिप्राण का विनियोग है। जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण के बाइसवें और तीसवें अध्याय के प्रकरण में चार सहचारी प्राण प्रधानतया उत्पन्न होते हैं — नाभानेदिष्ट, बालखिल्य, वृषाकपि, एवयामस्त। स्त्री योनि में पुरुष का शुक्र जिसमें सींचा जाता है वह नाभानेदिष्ट है। उस शुक्रको बालखिल्य प्राण फैला कर शिर, ग्रीवा, हस्त, वक्ष, जठर, कटि, पैर आदि अंग प्रत्यंगों का निर्माण करने के लिये विभक्त करते हैं। उसके बाद वृषाकपि अपने आप को कल्पित करता है। लोम, त्वचा, मांस, अस्थि और मज्जा इस रूप में पञ्चधा विधान करता है। तब उसमें एवयामस्त कठोरता उत्पन्न कर के प्रतिष्ठित करता है। जब तक प्रतिष्ठित नहीं होता तब तक पराश्रित ही रहता है। इसलिये गर्भाशय को नहीं त्यागता। प्रतिष्ठा को प्राप्त करके अपने द्वारा अपने को धारण करने में समर्थ होकर गर्भाशय से बाहर आने का प्रयत्न करता है। जैसा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है "एवयामस्तै तवै कराति, तेनेदं सर्वमैनवैकृतमेति यदिदिं किञ्च।" इस प्रकार शुक्र, प्राण, आत्मा और प्रतिष्ठा ये

चारों अर्थ शरीर के आरम्भ के लिये आवश्यक होते हैं यह बात निश्चित। उसमें नाभानेदिष्ट शुक्र सोम है। वालखिल्य प्राणवायु है, वृषाकपि आत्मा विष्णु है। इसी प्रकार एवयामस्त प्रतिष्ठा है वह अत्रि है। पांचवे मण्डल के अन्तर्गत 87 वें सूक्त के एवयामस्त प्राण के निरूपक द्रष्टा हैं तथा एवयामस्त महर्षि के आत्रेय रूप में स्मरण किये जाने के कारण उनकी समानता से प्राण को भी एवयामस्त आत्रेय के रूप में स्वीकार किया गया है। प्राण व्यवस्था के अनुसार ही देवयुग में प्राणियों और विद्वानों की ब्रह्मा ने व्यवस्था की थी।

इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत में स्थान-स्थान पर सभी अत्रि प्राणों को दूसरे अर्थात् सांख्य अत्रि ने दर्शन किया था अतः स्थान-स्थान पर बड़ी संख्या में अत्रि की गणना करने के कारण उनको सांख्य अत्रि कहते हैं। सायण ने संख्य के पुत्र होने के कारण इनको सांख्य कहा है। ब्रह्मा के मानस पुत्र ये अत्रि किसी संख्या नामक व्यक्ति के औरस पुत्र रहे होंगे। बाद में उनको ब्रह्मा ने पूर्व अत्रि परिषद् के ब्रह्मासन पर अधिष्ठित किया। तथा द्वितीय अत्रि बनाया यह कहा गया है। यह सांख्य अत्रि दशम मण्डल के 143 वें सूक्त के द्रष्टा हैं। वहां ये पूर्व भौम अत्रि के बेडियों में डाल कर असुर के बन्धनादि पीड़ा के निवारक अश्विनी कुमारों की स्तुति करते हैं। वहाँ भी ये दूसरे अत्रि के रूप बताये गये हैं। इससे ये दोनों भौम और सांख्य अत्रि देवयुग कालीन ही प्रतीत होते हैं। दूसरे अत्रियों को कहीं भी मन्त्रकृत के रूप में स्मरण नहीं किया गया है। वस्तुतः वेदमन्त्रों के निर्माता ये केवल दो अत्रि ही रहे हैं। यह नहीं सोचना चाहिये कि देवयुग में और अत्रि हुए ही नहीं। महाभारत युद्धपर्यन्त देवयुग की प्रतिपत्ति होने से उससे पूर्व भी वेद प्रसिद्ध पुरु इत्यादि राजाओं के पितामह नहुष के काल में भी किसी अत्रि का उल्लेख किया गया है। अत्रि के वंश में इस अत्रि से छठवें देवनहुष मेरू पर्वत के निकट तपस्या करते हुए अत्रि के पास उपस्थित हुए। किन्तु उन अत्रि को वहां न देख कर इन देव नहुष ने अत्रि के स्थान पर देवनहुष पुरी निर्माण करवाई। इसी देवनहुष को "दिओन्यमि उस" कहते हैं तथा उनके नगर को दिओन्यसिवोपोलिस (Dionysiopolis) कहते हैं। ऐसी कुछ लोगों ने संभावना की है। नहुष ही बाद में देवों के राजा होकर देवनहुष कहलाते थे। अत्रि के पुत्र शांखायन के म्लेच्छ प्राय होने का पौराणिकों द्वारा उल्लेख होने से उनके वंशधर यही यवन हो सकते हैं। इसलिये इन यवनों के भी ये अत्रि पूज्य देवों में गिने जाते हैं। इसलिये इसे पांचजन्य नाम से पुकारा गया है जैसे ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में कहा गया है —

ऋषि नरावंहसः पाञ्चजन्य मृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन।
मिन्नता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषण चोदयन्ता॥ (1/117/3)

इस मन्त्र में पञ्चजनों के आदरणीय होने से इन अत्रि को पाञ्चजन्य कहा गया है। वे पंच जन ऋषि पितर आदि पञ्च प्राणियों की अपेक्षा उस अत्रि के वंशधर मनुष्यों के पांच विभाग ही अधिक संभव हैं। दूसरे एक मन्त्र में पांच आत्रेया की स्पष्ट परिगणना की गई है।

यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशे यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः ।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥ ऋ. 1/108/8)

ये पाँचों ययाति के पुत्र अत्रि के ही वंशधर तथा पांच चन्द्रवंशीय शाखाओं के प्रवर्तक थे । इसलिये इन आत्रेय शाखाओं में अत्रि पूज्यतम हैं । इसीलिये इन्हें पाञ्चजन्य कहा गया है । इन पांचों के समय में किसी अत्रि की अवश्य सत्ता प्रतीत होती है । मूल पुरुष भौम अत्रि की ययाति पुत्रों के काल तक सत्ता का कोई निश्चायक प्रमाण नहीं मिलता । इसलिये अति ब्रह्म परिषद् में समय-समय पर अन्य अत्रि अधिष्ठाता ब्रह्मा थे यह संभावना हम करते हैं ।

भौम तथा सांख्य अत्रि से भिन्न अनेक आत्रेय भी मन्त्रद्रष्टा रहे हैं जिनके नाम नीचे दिये जाते हैं ।

1. सदापृणः	11. गयः	21. यजनः	31. श्यावाश्वः आर्चनानसः
2. प्रतिक्षत्रः	12. हषः	22. उरुचकिः	32. अन्धीगुश्यावाविश्वः
3. ससः	13. क्सुश्रुतः	23. बाहुवृकिः	33. बुधः सौम्यः आत्रेया
4. वव्रिः	14. कुमारः	24. सत्यश्रवाः	34. विश्ववारा आत्रेयी
5. प्रतिरथः	15. गविष्ठिरः	25. एवयामस्त	35. अपाला आत्रेयी
6. प्रतिभानुः	16. धरुणः	26. स्वस्ति	36. मृक्तवाहा द्वितः
7. बभ्रुः	17. सुतम्भरः	27. गौपवनः	37. द्युम्नःविश्वचर्षणि
8. विश्वसामा	18. अवस्युः	28. सप्तवधिः	38. वसूयवः आत्रेयाः
9. श्रुतिवित्	19. गातुः	29. पौरः	39. प्रयस्वन्तः आत्रेयाः
10. प्रतिप्रभः	20. रातहव्यः	30. अर्चनाना	40. गौपायना लौपायाना वा आत्रेयाश्चत्वारः बन्धु सुबन्धु श्रुतबन्धु विप्रबन्धुश्च

इस प्रकार ये चालीस से अधिक आत्रेय हैं । ये सभी एक ही अत्रि के पुत्र या समकालीन नहीं हो सकते । अत्रिवंश के बिना इनको आत्रेय भी माना जा सकता था । इसलिये देवयुग और बहुत से बहित्र समय-समय पर हुए होंगे ।

जैसे अत्रि की शिष्य परम्परा में उत्तरोत्तर सभी अत्रि परिषद् के अधिष्ठाता अत्रिनाम से पुकारे जाते हैं उसी प्रकार सभी अत्रियों की जो पत्नियाँ रहीं वे भी अनुसूया नाम से पुकारी जाती रहीं क्योंकि प्राणरूप अत्रि का अनसूया शक्तिमता हेतु है । जिस पुरुष में यह अत्रिप्राण प्रकृति में विशिष्ट होता है वह अनसूयाशील होता है । अनसूया की परिभाषा इस प्रकार दी गई है —

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
न हसेच्चान्यदोषांश्च सानसूया प्रकीर्तिता ॥

जो गुणी व्यक्ति के गुणों को कम नहीं होने दे मन्दगुण वालों की भी प्रशंसा करे तथा दूसरे के दोषों पर नहीं हंसे उस गुण को अनसूया कहते हैं । सभी अत्रि अत्रिप्राण तथा अनसूया की समाराधना करते थे इसलिये उनकी पत्नियों के नाम भी अनसूया ही कहे जाने लगे । अनसूया शब्द अत्रि की भार्या का वाचक बन गया तथा अत्रि की तरह व्यक्ति विशेष में यदृच्छात्मक शब्द रूप नहीं रहा । इसलिये पञ्चम मण्डल के द्रष्टा भौम अत्रि की दस पत्नियों में भद्रा नामक अनसूया से सोम की उत्पत्ति मानी जाती है । उन अत्रि और अनुसूया से भिन्न अन्य कालों में भी अन्य अत्रि व अनसूया का इसीलिये उल्लेख मिलता है जैसे कि कभी ये निस्पृह वृत्ति वाले अत्रि ने निर्धनता के दारिद्र्य से व्याकुल पुत्र स्त्री आदि परिवार के योग क्षेम के लिये भोजनादि के कष्टों को देखकर धन की याचना के लिये पृथु वैन्य के अश्वमेध यज्ञ में जाने की इच्छा की । किन्तु याचना कर्म में दुख समझ कर तपस्या के लिये वन को जाने के लिये प्रवृत्त हुए । तब अनसूया द्वारा प्रार्थना किये जाने पर न चाहते हुये भी उसके अनुरोध से पृथु की यज्ञशाला में आये । तुम धन्य हो तुम ईश्वर हो इस प्रकार के चाटुवाक्यों से पृथुराज की प्रचुर प्रशंसा करने लगे । वह सुनकर परिक्रुद्ध महर्षि गौतम ने अत्रि से कहा कि तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये । यह राजा मनुष्य इसकी ईश्वर रूप में स्तुति उचित नहीं । ब्राह्मण को न तो चाटुकारी करनी चाहिये न झूठ बोलना चाहिये । इस प्रकार अत्रि को बहुत उलाहना दिया । तब वहां सनत्कुमार ने मध्यस्थ होकर विवाद को शान्त किया ।

मनुष्य समझ कर बालक होने पर भी राजा का अपमान नहीं करना चाहिये क्योंकि मनुष्य रूप में राजा महान् देवता है । जिसके ऊपर बैठे रहने पर सब नीचे बैठ कर उसकी उपासना करते हैं । उसमें ईश्वर का अंश होता है । ईश्वर से भिन्न की स्तुति नहीं होती । हाथ पैर समान होने पर भी जिस अंश से यह मनुष्यों का शासन करता है उसी अंश के कारण राजा ईश्वर है तथा मनुष्यों के लिये सर्वाधिक सम्मानीय है ।

इस प्रकार सनत्कुमार द्वारा अत्रि के कार्य को न्याय संगत स्थापित कर देने पर संतुष्ट राजा पृथु ने उन अत्रि को अलंकार सहित सहस्र दासियों, दस स्वर्णभार और एक अर्बुद स्वर्ग मुद्रायें दी । वे सब स्त्री पुत्रादि को भेज कर निःस्पृह भगवान् अत्रि गार्हस्थ से विरक्त होकर स्वयं तपस्या के लिये तपोवन में चले गये यह कथा महाभारत के वन पर्व में मार्कण्डेय समस्या प्रकरण में आती है । इन अत्रि के आंगिरस गौतम के समकालीन होने से ये आंगिरस के समकालीन प्रथम अत्रि से भिन्न थे यह स्पष्ट प्रतीत होता है । इस विशाल काल प्रवाह में और भी अत्रि अनसूया हुए । यह वेदमन्त्र द्रष्टा भौम नामक प्रथम अत्रि भी पंचम मण्डल के सताइसवें आदि सूक्तों से इन्द्रदेव की स्तुति करते हैं । किन्तु दूसरे पृथुकालिक अत्रि इस पृथु यज्ञ में विघ्न होने से देवों में अधम बताये हुये इन्द्र की बहुत

निन्दा करते हैं जैसा भागवत में चतुर्थ स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय में कहा है। देवेन्द्र के प्रति एक ही व्यक्ति के दो विरोधी भाव संभवन होने के कारण पृथु के समय में होने वाले अत्रि अनसूया और ही थे यह प्रतीत होता है। ये पृथु भी अत्रि के वंशधर थे यह बात पद्मपुराण के भूमि खण्ड के अठाइसवें अध्याय में कही गई है।

अत्रिवंश में अत्रि के समान सामर्थ्य वाले, सम्पूर्ण धर्म के स्रष्टा अङग नामक प्रजापति हुए। मृत्यु की पुत्री सुनीथा से उस अंग ने विवाह किया उससे धर्म निष्ठ करने वाला वेन नामक पुत्र हुआ। नाना (मृत्यु) के दोष से मृत्यु की पुत्री के पुत्र वेन अपने धर्म को त्याग दिया और अधर्म में निरत हो गया। तब महाबलशाली ऋषिवेन के पास आये और उसे बाँध कर उसके शरीर का मन्थन किया। उसके बायें हाथ के मन्थन से पहले पाप पुरुष निकला उसके वंशधर ये पाप पुरुष कहलाते हैं। निषाद्, किरात, भील और नाहलक, भ्रमर, पुलिन्द और जो दूसरी म्लेच्छ जातियाँ हैं। इस प्रकार पाप रहित हो जाने पर उस वेन के दाहिने हाथ का मन्थन करने पर पहले पसीना निकला तथा फिर विप्रों द्वारा दक्षिण भुजा का मन्थन किये जाने पर उससे शुभलक्षणों से लक्षित पुरुष उत्पन्न हुआ। उस पृथुनाम वाले को ऋषियों ने राजा पद पर उसे अभिषिक्त किया तथा उसका अभिषेक कर के सभी ऋषियों ने प्रस्थान कर दिया।

यदि यह शंका की जाये कि वामन पुराण के सैंतालीसवें अध्याय में इन पृथु को मरीचिका वंशज कहा गया है अत्रिवंशज नहीं। जैसे कि — इस जगत् के एक समुद्र रूप में परिणत होने पर स्थावर व जङ्गम प्राणी नष्ट हो गये तब विष्णु के नाभिकमल से सर्वलोक पितामह उत्पन्न हुए। उनसे मरीचि उत्पन्न हुए। मरीचि से कश्यप नामक पुत्र उत्पन्न हुए। कश्यप से सूर्य उत्पन्न हुए उससे मनु उत्पन्न हुए। मनु के मुख से क्षुवत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो चारों समुद्रों से युक्त पृथिवी का राजा तथा धर्म का रक्षक था। उसकी पत्नी भया नामक भयावहा थी। वह मृत्यु से उत्पन्न हुई थी तथा काल की पुत्री थी। उससे वेन नामक दुराचारी पुत्र हुआ जो वेद का निन्दक था। वह कालात्मजा का पुत्र नाना के दोष से दुष्टात्मा हुआ। इसके बाद पूर्ववत् ही है।

इसी प्रकार कुछ लोग कहते हैं यह पृथु का पिता वेन इक्ष्वाकु का पुत्र था। अंग का पुत्र नहीं तो ये शंकायें उचित नहीं है। वामन पुराण के लेखक पौराणिक को इस वेन के जन्म के विषय में भ्रान्ति के कारण यह उपेक्षणीय है।

"पितृ कन्या सुनीथा तु वेनमङ्गदजीजनद्" (पंचन अध्याय)

इत्यादि मत्स्य पुराणादि की तरह सभी पुराण महाभारतादि में पृथु के पिता वेन को अंग के पुत्र माना है इस प्रकार बहुत से पुराणों के साक्ष्य से वेन को अंग पुत्र ही मानना उचित होगा। उस अंग का अत्रिवंश में उत्पन्न होना बतलाने से वे साक्षात् रूप अत्रिपुत्र थे यह भी खण्डित हो जाता है। इससे

यह भी निष्कर्ष निकलता है कि पृथु और अत्रि के बहुत उत्तर कालिक थे । अतः उनके समकालीन अत्रि व अनसूया प्रथम अत्रि व अनसूया से भिन्न थे यह निश्चित होता है । इसी प्रकार इसके भी बाद के काल में कुछ अत्रि व अनसूया के उल्लेख मिलते हैं । रामचन्द्र के वनवास के समय अत्रि के आश्रम में उपस्थित सीता का केश संवरण अनसूया ने किया यह रामायण के प्रारम्भ में अरण्य काण्ड के द्वितीय सर्ग में उल्लेख मिलता है । राम अत्रि आदि के साथ गोदावरी के तट पर आये यह अग्नि पुराण (7/2) में कहा गया है । उससे उनके समय में भी अत्रि व अनसूया की सत्ता थी यह जाना जाता है । इन एक ही दम्पती की देवलोक में तथा दण्डकारण्य में सत्ता थी यह संभव नहीं लगता क्योंकि देश व काल की भिन्नता है । इसलिये दूसरे अत्रि व अनसूया भिन्न-भिन्न कालों में हुए यह मानना उचित है । इसके अतिरिक्त पौराणिक तीन अनसूयाओं का उल्लेख करते हैं । दक्ष कन्या, कर्दमकन्या और कर्दमश्वश्रु जैसे कि अग्नि पुराण में ख्याति आदि दक्ष कन्याओं से भृगु आदि ने विवाह किया यह कह कर सोम दुर्वासा और दत्त पुत्रों को अनसूया ने जन्म दिया यह कहते हुए दक्ष कन्या बताया है । भागवत में जो कर्द मसुता कही गई है ऐसी अत्रि की पत्नी अनसूया ने तीन अति यशस्वी पुत्रों को जन्म दिया, यह कह कर उसे कर्दमकन्या बताया है । ब्रह्माण्ड पुराण के पूर्वभाग के एकादश अध्याय में एक और छः सन्तानों वाली कर्दम की श्वश्रु को अनसूया बताया है । अनसूया विजज्ञे वै पञ्चात्रैयानकल्मषान् । कन्यां चैव श्रुतिं नाम माता शंखपदस्य सा ॥ कर्दमस्य तु पत्नी सा पौल प्रजापतेः ॥ पुलह पुत्र कर्दम का यह पुत्र शंखपद वेन के पुत्र अत्यन्त प्रसिद्ध पृथु महाराज का दक्षिण दिग्पाल था । इस अनुसूया से उत्पन्न पांच आत्रेय-सत्यनेत्र, हव्य, आपोमूर्ति, शनैश्चर और सोम बताये गये हैं । सत्येनेत्रादि के साहचर्य के कारण यह पांचवा सोम नामक पुत्र दुर्वासा दत्त आदि तीन अत्रि पुत्रों में से एक सोम से भिन्न था । यह भी सुनिश्चित है ।

अन्य अन्य अनसूयाओं से अन्य अन्य अत्रि पुत्र हुए । इसलिये अत्रि अनसूया के शब्द साम्य को देखकर अत्रि पुत्रों की उत्पत्ति के विषय में अनेक ऐतिहासिकों को भ्रम हो गया है । जैसे विष्णु पुराणादि के अनुसार सोम, दत्त व दुर्वासा के अनसूया के गर्भ से जन्म होने पर भी कुछ कर्दम कन्या अनसूया को ही इन तीनों की जननी कहते हैं । कुछ भद्राश्व नामक राजा की कन्या भद्रा नामक अनुसूया से सोम की उत्पत्ति बताते हैं । कुछ भद्राश्व की कन्या से दत्तादि की उत्पत्ति कहते हैं यह असंगत और भ्रान्त है । भद्राश्व की ये कन्यायें किस अत्रि की पत्नियाँ थी तथा किस अत्रि की कर्दमकन्या पत्नी थी यह विशिष्ट रूप में ज्ञात नहीं होता । फिर भी दत्त और दुर्वासा इत्यादि अत्रि पुत्र उत्तरकालिक अत्रि के पृथक्-पृथक् पुत्र थे यह संभव है । महाभारत युद्ध के समकालिक दुर्वासा आदि का अत्यन्त प्राचीन चन्द्र का सहोदय होना वर्णित नहीं है । अथवा विद्वानों को यह मानना चाहिये कि सोम के सहोदर दत्त और दुर्वासा महाभारत कालीन उत्तरवर्ती दत्त एवं दुर्वासा से भिन्न थे । सोम तो आद्य अत्रि के पुत्र थे यही उचित मान्यता प्रतीत होती है । सोम को लोकपालत्व का अधिकार प्रदान करने का कारण प्रधान ब्रह्मा के अधीन प्रधान ब्रह्मपुत्र अत्रि के पुत्र थे इसी बात का

मानना उचित है ।

जैसे भोम अत्रि का पुत्र सोम था उसी तरह सांख्य अत्रि के शांखायन नामक पुत्र था। शांखायन यह यदृच्छात्मक संज्ञा है । अपत्यप्रत्ययान्त नहीं । क्योंकि इसे अत्रि के प्रथम पुत्र के रूप में पुराणों में स्मरण किया गया है। यह अत्यन्त सुन्दर बलिष्ठ अत्यन्त उग्र स्वभाव का व अत्यन्त धार्मिक स्वभाव का था। वह पर्वतीय गुफाओं में रहता था तथा अभक्ष्य मांसादि भी खा लेता था। उसका भाई भी उसी प्रकार असभ्य होकर वनों में विचरण करता था । उनके उस आचरण से परिक्रुद्ध ये अत्रि उनको फटकारते थे तथा उन दोनों को शुद्ध आचरण के लिये अनेकों उपदेश देते थे । यहां वहां वन में विचरण करने के कारण उनके निवास के लिये अनेक स्थानों को अत्रि नाम से कल्पित कर के स्वयं वे अत्रि सिन्धु देश में देव निकाय गिरि पर जाकर वहीं रहने लगे । शांखायन तथा उसके भाइयों के वंशधर यवन हो गये ऐसा कुछ लोगों का कहना है ।

दूसरे अत्रि पुत्रों के म्लेच्छ प्राय होने पर भी आद्य अत्रि के पुत्र सोम का यह प्रकाशमय पवित्र वंश देव युग से लेकर अब तक अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तमान वैदिक धर्म का पालन करता हुआ आज भी देखा जाता है ।

पदनिरुक्त के आलोक में पदों की निर्वचन शैली

डॉ. श्रीकृष्ण शर्मा*

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

वेदविद्या के उद्धारक स्वर्गीय पण्डित मधुसूदन ओझा ने वेदाङ्ग समीक्षा - विभाग के अन्तर्गत निर्वचन शैली का बोध कराने के लिये 'वर्णसमीक्षा' तथा 'पदनिरुक्तम्' नाम से दो ग्रन्थ लिखे हैं। वर्ण-समाम्नाय तथा पद-समाम्नाय के भेद से समाम्नाय का दो प्रकार से विभाजन माना गया है। यद्यपि शिक्षा-ग्रन्थों में वर्ण-समीक्षा की गई है, तथापि विलक्षण शैली से 'वर्ण-समीक्षा' नामक ग्रन्थ ओझाजी ने जिस प्रकार रचा है, उसी प्रकार पद-समाम्नाय की भी व्याख्या व्याकरण एवं कोश-ग्रन्थों में बहुत्र समुपलब्ध होने पर भी बुद्धिवैशद्य के लिए 'पद-निरुक्तम्' की रचना की है। नव्य-न्याय-शास्त्र बुद्धिवैशद्य एवं सूक्ष्म निरूपण के लिए बहूपयोगी माना गया है, अतः यह ग्रन्थ भी नव्य-न्याय की शब्दावली से ओत-प्रोत है, जिससे ओझा जी की सर्वविध शास्त्रों में अप्रतिहत गति की साक्षात्कार प्रतीति होती है ।

'पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ'[1] न्यायभाष्यकार के इस कथन से तथा स्वानुभव से वाक्य में ही अर्थ का पर्यवसान होता है । अर्थबोधन की इच्छा से अर्थविशेष में संकेतित वर्ण अथवा वर्णसमूह को 'पद' तथा आकांक्षा-योग्यता-आसत्ति युक्त पद-समूह को 'वाक्य' की सञ्ज्ञा दी जाती है, अतः वाक्यार्थ बोध के लिए पदार्थबोध का महत्त्व स्वयं सिद्ध है, उन्हीं पदों की निरुक्ति के लिये, यास्क विरचित 'निरुक्त' की शैली को अपनाते हुए, इस ग्रन्थ के द्वारा मार्गदर्शन किया गया है । प्रकृत-ग्रन्थ में यद्यपि प्रतिज्ञात विषयों का सम्पूर्ण विवेचन उपलब्ध नहीं होने के कारण यह अपूर्ण है, तथापि उपलब्ध ग्रन्थ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है तथा विद्वानों को दिशाबोध कराने में सर्वथा समर्थ है। प्रकृत-ग्रन्थ में निम्नाङ्कित विषयों का विवेचन है —

1. 'पद' शब्द का नानार्थपरक विवेचन ।
2. भगवान् वेदपुरुषानुसारी नाम-आख्यात-उपसर्ग तथा निपात स्वरूप पद का चतुर्धा विभाजन ।
3. जाति-गुण-क्रिया तथा यदृच्छा — शब्द के रूप में चतुष्टयी शब्द-प्रवृत्ति के उल्लेखपूर्वक 'यदृच्छा' शब्द का जाति, गुण या क्रिया शब्द में अन्तर्भाव करते हुए उसका प्रत्याख्यान ।

---

* अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।

4. 'आख्यात' का निर्वचन प्रस्तुत करने के लिए सम्पूर्ण शब्द-जगत् का प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग तथा निपात के रूप में चतुर्द्धा विभाजन। इसी प्रकार 'क्रिया' शब्द का भी धातु, विभक्ति, विकरण एवम् आगम के रूप में चार प्रकार का विभाजन।

5. 'धातु' शब्द का निर्वचन तथा 'विभक्ति' शब्द के अभिप्रेत अर्थ का निर्देश।

6. प्रकृति-प्रत्यय का विशद विवेचन।

7. नाम-सम्बन्धेन अभिधीयमान तथा क्रियासम्बन्धेन अभिधीयमान विभक्तियों के रूप में विभक्ति का दो प्रकार का विभाजन। नाम-सम्बन्धेन अभिधीयमान विभक्ति के — प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा सम्बुद्धि — के रूप में आठ भेदों तथा क्रिया-सम्बन्ध से अभिधीयमान विभक्ति के भाव, कर्त्ता व कर्म के रूप में तीन प्रकारों का निरूपण।

8. धातुओं की अकर्मक एवं सकर्मक-व्यवस्था का निरूपण।

9. कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारक के लक्षण का निर्वचन।

10. आख्यात के कर्तृमुख्य-विशेष्यक, कर्ममुख्यविशेष्यक, कर्मकर्तृमुख्यविशेष्यक तथा कर्म-क्रियामुख्यविशेष्यक, शाब्दबोध के रूप में चार प्रकार के प्रयोगों का सोदाहरण विवेचन।

11. 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत् स कर्त्ताऽनाध्याने'[2] इस पाणिनि-सूत्र के सोदाहरण-विवेचन-प्रसङ्ग में कैयट-दीक्षित तथा नागेश के मतों का प्रदर्शन तथा उनका प्रत्याख्यान एवं स्वमत का प्रदर्शन।

उपरिदर्शित बिन्दुओं पर संक्षेप में यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है —

1. 'पद' शब्द के अर्थ का विवेचन —

अर्थ-बोधन की इच्छा से अर्थ-विशेष में सङ्केतित अः, इः-इत्यादि वर्ण तथा धनम्, वनम्-इत्यादि वर्ण-समुदाय भी 'पद' कहलाता है।

'पद्' धातु गत्यर्थक है, अतः जिसके द्वारा एकत्र स्थित व्यक्ति अन्यत्र पहुँच जाता है, वह भी 'पद' कहलाता है, जैसे चरणों के माध्यम से शरीर (शरीरान्तः स्थित आत्मा) देशान्तर में पहुँच जाता है, अतः 'चरण' को 'पद' कहते हैं।

चरणचिह्नों को पहचानकर ही कुशल व्यक्ति मृग (शिकार) या पशु अथवा चौर को प्राप्त कर लेता है, अतः चरण-चिह्न भी पद कहलाता है।

गतिशील प्राणी एक निश्चित स्थान से रवाना होकर लक्ष्य-प्रदेश को प्राप्त करता है, अत: 'स्थान' को भी 'पद' कहा जाता है ।

किसी अधिकारविशेष या अधिकार के सामर्थ्य को प्राप्त कर व्यक्ति किसी क्रिया अथवा क्षमता को प्राप्त करता है, अत: 'अधिकार' अथवा 'सामर्थ्य' को भी 'पद' कहते हैं ।

उपाधिविशेष को प्राप्त करके भी व्यक्ति योग्यता को प्राप्त कर लेता है, अत: 'उपाधि' भी 'पद' शब्द का अभिप्रेत है ।

प्रकृत में निश्चित अर्थ वाले वर्ण-समुदाय के द्वारा पदार्थ-विशेष बुद्धि का विषय बनता है, अत: उस वर्णात्मक या वर्ण-समुदायात्मक पद की ही निरुक्ति विवेच्य है ।

2. पद का चातुर्विध्य —

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण: ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या: वदन्ति ॥[3]

इस ऋङ्मन्त्र के अनुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात के रूप में 'पद' का चतुर्धा विभाजन स्वीकार किया गया है ।

3. शब्दों की अर्थगता प्रवृत्ति

भाष्यकार पतञ्जलि ने चार अर्थों में शब्दों की प्रवृत्ति मानी है[4]—

(क) जाति शब्द — घट, पट, पशु, पक्षी इत्यादि ।

(ख) गुण शब्द — स्थूल, कृश, शीघ्र, मन्द इत्यादि ।

(ग) क्रिया शब्द — धावक, पाचक, पचति, पठति इत्यादि ।

(घ) यदृच्छा शब्द — डित्थ, कपित्थ, सुमेक इत्यादि ।

'यदृच्छा' शब्द का खण्डन — उपर्युक्त चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति के अन्तर्गत 'यदृच्छा' शब्द को ओझाजी पृथग् रूप से स्वीकार नहीं करते हैं । उनका कथन है कि — अर्थगतप्रवृत्तिनिमित्तनिरपेक्ष होकर व्यक्तिविशेष में रूढ़ हो जाना ही यदृच्छा शब्द नहीं है, अपितु वह भी यदृच्छा शब्द कहलाता है जो स्वगत-प्रादेशिकत्व (प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन) से निरपेक्ष होकर ही अर्थ-विशेष में प्रयुक्त होता है ।[5] जिस क्रिया को आधार बना कर नाम रखा गया है, वह प्रादेशिक गुण कहलाता है । प्रदेश क्रिया को कहते हैं ।

धातु और प्रत्यय सब इसी द्वितीय 'यदृच्छा' लक्षण के अन्तर्गत आ जाते हैं, अत: धातु रूप, प्रत्यय रूप तथा इनसे बने हुए सभी शब्द 'यदृच्छा' शब्द कहलायेंगे, फलस्वरूप गुण-क्रियादि शब्दों का विभाग असङ्गत हो जावेगा। उदाहरण के लिए डित्थ शब्द किसी क्रिया के आधार पर अन्वर्थक नहीं है, अत: वह यदृच्छा शब्द है, उसी प्रकार शुक्ल शब्द में 'शुक्' शब्द और 'ल' शब्द भी दिखाई पड़ रहे हैं। यदि यह कहा जावे कि 'शुक्ल' शब्द में तो 'शुक्' शब्द और 'ल' शब्द सर्वथा अप्रादेशिक नहीं हैं, अपितु 'शुक्ल' शब्द प्रादेशिक (व्युत्पन्न) ही है, किन्तु 'डित्थ' शब्द में प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन सर्वथा नहीं होने के कारण वह 'यदृच्छा' शब्द ही है तथा 'शुक्ल' शब्द के गुणवाचक होने के कारण 'यदृच्छा' शब्द का विभाजन संगत है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'डित्थ' 'डवित्थ' आदि शब्दों में भी प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन हो सकता है - ऐसा निर्वचनकर्त्ताओं का मत है।

अत: निर्वचन-पद्धति से सम्यग् ज्ञान-पूर्वक व्युत्पत्ति तलाशने में प्रयासशील व्यक्ति साफल्य को प्राप्त कर सकता है। इसलिए जाति-गुण तथा क्रिया शब्दों के अतिरिक्त 'यदृच्छा' शब्द को स्वीकार करने में कोई तर्क नहीं है। ध्यातव्य है कि भाष्यकार ने भी अन्त में तीन प्रकार की शब्द-प्रवृत्ति स्वीकार की है।[6]

प्रकारान्तर से 'यदृच्छा' शब्द का खण्डन – उपर्युक्त शब्दचतुष्टयी की उपपत्ति संगत नहीं है, क्योंकि उक्त जात्यादि चतुर्विध प्रकारों में घटवान्, दण्डी इत्यादि शब्दों का सन्निवेश नहीं हो पाता है, अत: 'द्रव्य' शब्दों का भी संग्रह होना चाहिए। उक्त स्थल में यदि घट, दण्ड इत्यादि शब्दों के प्रकारतया भासित होने के कारण, उन्हें 'गुण' शब्दों में अन्तर्भावित किया जा सकता है तो 'जाति' और 'गुण' शब्दों को भी 'क्रिया' शब्दों में सन्निविष्ट किया ही जा सकता है। 'द्रव्य' शब्द को अतिरिक्त स्वीकार कर लेने पर भी निस्तार नहीं हो सकता है, क्योंकि च, तु, वा, ह इत्यादि अनर्थक शब्दों का कहाँ अन्तर्भाव करेंगे?

इसी प्रकार घटकार, चक्रधर, दण्डी - इत्यादि का द्रव्यशब्दत्व एवं क्रियाशब्दत्व से भेद तथा कर्तृ, कर्म, करण, कारकादि शब्दों का जातिशब्दत्व व क्रियाशब्दत्व से भेद सिद्ध कर पाना संभव नहीं होगा। शुक्ल, कृष्णादि शब्द द्रव्य, गुण, जाति, क्रिया - शब्दों में मिश्रित से प्रतीत होने लगेंगे। गुण समुदाय ही **द्रव्य** कहलाता है। शुक्लादि शब्द भी गुणत्वव्याप्य धर्मावच्छिन्न होने के कारण जाति शब्द ही ठहरते हैं।

अथवा सर्वशुक्ल सामान्य 'शुक्' के उपादानकर्म से भिन्न कोई 'शुक्लत्व' नाम की जाति भी नहीं है, क्योंकि 'शुक्' नाम है 'शुद्धिक्रिया' का, जो कि द्रष्टा के चित्त का प्रसादन करती है, अत: क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तक शुक्लादि शब्द 'क्रिया' शब्द ही कहलाएंगे। इस प्रकार द्रव्य-गुण-कर्म-जाति प्रभृति प्रकारों का भेद कर पाना ही संभव नहीं होगा।

अथवा द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय तथा अभाव रूप सप्त पदार्थों का विभाजन जिस प्रकार वैशेषिक करते हैं,[7] उसी प्रकार शब्दों का भी सप्तधा विभाजन हो सकता है, यथा—द्रव्य-गुण-क्रिया-जाति-यदृच्छा-सम्बन्धी तथा अभावरूपी सात प्रकार के शब्द क्रमश: दण्डी, ह्रस्व, लेखक, घट, कपित्थ, जननी तथा शून्य इत्यादि उदाहरणों के रूप में माने जा सकते हैं ।

अत: चार या पाँच भेद माने जा सकते हैं तो सात क्यों नहीं माने जा सकते ? यदि 'अभाव' का लोप, वर्जन आदि क्रिया शब्दों में तथा सम्बन्धवाचक शब्दों का जनन आदि क्रिया शब्दों में अन्तर्भाव हो सकता है तो चौबीस गुणों में 'शब्द' नामक गुण का पाठ होने के कारण यदृच्छा शब्द भी 'गुण' शब्दों में अन्तर्भूत क्यों नहीं हो सकते हैं ?

अथवा यह 'यदृच्छा' शब्द अवयवार्थ-निरपेक्ष होकर यदि अनेक व्यक्ति-परक माना जावे तो 'तिथि' प्रभृति के समान गो, महिष इत्यादि तथा स्थूल, मेचक इत्यादि अवयवार्थ-निरपेक्ष शब्द भी यदृच्छा कोटि में आ जावेंगे । इसी प्रकार इनके पर्याय शब्द भी 'यदृच्छा' शब्द ही माने जावेंगे । ऐसी स्थिति में जाति व गुण का विभाजन ही अनुपयुक्त हो जावेगा ।

यदि ये 'यदृच्छा' शब्द एकव्यक्तिपरक होंगे तो **तिथि** प्रभृति शब्दों के लिए अतिरिक्त विभाग की कल्पना करनी पड़ेगी । अनेक व्यक्तियों में संकेतित होने से यदि इन्हें जाति शब्दों में गिना गया तो 'यदृच्छा' शब्द भी 'जाति' शब्दों में अन्तर्भूत हो जावेंगे, अतिरिक्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी ।

इस प्रकार 'देवदत्त' शब्द भी यद्यपि यदृच्छाशब्द की कोटि में ही आता है, क्योंकि जिसके लिए 'देवा एनं देयासु:' ऐसी व्युत्पत्ति लागू नहीं होती है वह भी 'देवदत्त' कहलाता है, इसी प्रकार जो महामूर्ख है उसे भी पण्डितराज, निर्धन को लक्ष्मीनाथ, दरिद्र, शूद्र तथा वृद्ध को भी युवराज कहते हैं, जो कि जाति-गुण अथवा क्रिया के बोधक नहीं हैं, अपितु अवशिष्ट होने के कारण अप्रादेशिक 'यदृच्छा' शब्द ही कहलायेंगे। जिस प्रकार खूसर, बेचन, ठक्कन प्रभृति यदृच्छा शब्द तत्तदवयवात्मक अनेक व्यक्तिनिष्ठ हैं, उसी प्रकार उक्त देवदत्तादि शब्दसमुदाय भी अनेक व्यक्ति-निष्ठ होने के कारण 'जाति' शब्दान्तर्गत ही माना जा सकता है, पृथग् रूप से 'यदृच्छा' शब्द मानने की आवश्यकता नहीं है ।

इस प्रकार पण्डित ओझा ने यदृच्छा शब्दों का जाति, गुण अथवा क्रिया शब्दों में ही अन्तर्भाव करते हुए अर्थ में शब्दप्रवृत्ति जाति, गुण और क्रिया के रूप में स्वीकार की है ।

प्रकारान्तर से शब्द का चातुर्विध्य

जैसा कि पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है कि सभी शब्द — नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात — के रूप में विभक्त किये जा सकते हैं, किन्तु निरुक्तकार तथा शाकटायन प्रभृति वैयाकरणों का मत है कि सभी शब्द आख्यातज है[8] ।आख्यातज शब्द प्रकृति-प्रत्ययात्मक ही होते हैं, अतः शब्दों के प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग तथा निपात — ये चार प्रकार संभव हैं ।

'क्रिया' शब्दों का चतुर्धा विभाजन तथा 'धातु' शब्द का निर्वचन

'क्रिया' शब्दों के भी चार विभाजन सम्भव हैं — धातु, विभक्ति, विकरण तथा आगम । धातु 'क्रिया'-शब्दों की प्रकृति हुआ करती है । जो पदार्थ जिसके आधार से अपने स्वरूप को धारण करता है, वह **धातु** कहलाता है, जैसे — शरीर के आधार हैं — वात, पित्त और कफ अथवा रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, अतः ये तीनों या सातों धातु कहलाते हैं — यही धातु शब्द का अध्यात्म है । अर्थात् देहस्थित होने के कारण धातु का आधिदैहिक स्वरूप है ।

अथवा स्वर्ण, रजत एवम् ताम्र ये तीनों अथवा लौह, शीशकादि सातों भी इसी कारण धातु शब्द से व्यवहृत हैं — यही 'धातु' शब्द का आधिभौतिक स्वरूप है । इसी प्रकार अस्, भू, कृ प्रभृति भी शब्दप्रक्रिया में धातु कहलाते हैं । यही धातु का अधिशब्द स्वरूप है ।

विभक्ति, प्रकृति तथा प्रत्यय का विवेचन

धातु का अर्थ **क्रिया** होता है । क्रिया कारकों के विना अपने स्वरूप को धारण नहीं करती है, अतः क्रिया के स्वरूप की अभिव्यक्ति कारक-सापेक्ष है । चूँकि कारकों का क्रिया के साथ जन्य-जनकभाव आदि सम्बन्ध होता है, इस सम्बन्ध का बोधक क्रिया एवं कारक पदों में प्रयुक्त प्रत्ययभाग भी होता है, उसी प्रत्यय-भाग को **'विभक्ति'** शब्द की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि उस प्रत्ययभाग के द्वारा ही एक-एक धातु का अनेक प्रकार से विभाजन होता है, जैसे — भूयते, भवति, अभूत्, भविष्यति इत्यादि ।

इसी क्रम में **वेदान्तियों** का कथन है कि यद्यपि प्रत्यय (चैतन्य) तो एक ही है, अनेक नहीं हैं, प्रकृति ही सत्त्वादि अनेक गुणों के उद्रेक के कारण अनेक प्रकार से विभक्त होती है, अतः एक ही चिदात्मा अनेकधा विभक्त हुआ प्रतीत होता है ।

सांख्यों का मत है कि प्रत्ययों की तरह पुरुष भी नाना हैं । प्रत्येक पुरुष के अनुसार प्रकृति भी भिन्न-भिन्न हो जाती है ।

किन्तु विशदमतिमान् महामहिम शाब्दिकों का न किसी पक्षविशेष की ओर दुराग्रह है तथा न ही अन्य दार्शनिकों से किसी प्रकार का विरोध । शारीरक दर्शनानुसारी व्याख्या भी शाब्दिकों की इस

प्रकार है — लट्(लकार) एक ही है, वही प्रकृति-भेद के कारण अनेक प्रकार से विभक्त हो जाता है, यथा — जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, नश्यति — इत्यादि प्रकार से एक ही लट् लकार में विहित प्रत्यय (तिप्, त) का अनेक प्रकार से विभाजन दिखाया गया है ।

इसी प्रकार सांख्य-मत से भी शाब्दिकों का कोई विरोध नहीं है, यथा-दृश्यमान इस चराचर जगत् के दो भाग प्रतिभासित हो रहे हैं — चेतन तथा जड़ । जिससे चिदंश का ज्ञान होता है वही प्रकृति से अतिरिक्त प्रत्यय (ज्ञान) है । जहाँ से क्रिया की प्रतीति होती है, वह जड़ है जो कि प्रत्यय की प्रकृति ही है । इन्हीं अर्थों में सभी शब्दों का सङ्केत किया गया है । अतएव श्रूयमाण सम्पूर्ण वाक्य-समुदाय दो भागों में विभक्त होता है – क्रिया तथा चिदंश । जहाँ से क्रिया की प्रतिपत्ति होती है वह **प्रकृति** तथा जहाँ से चिदंश की प्रतीति होती है, वह **प्रत्यय** है ।

तार्किकों का भी यह सिद्धान्त है कि ज्ञान से जन्या इच्छा तथा इच्छा से जन्या कृति होती है एवम् कृति से जन्य कर्म्म (क्रिया) होता है, अतः चिदंश में ही कारकत्व होने के कारण 'रथो गच्छति' इत्यादि स्थलों में रथगति से सारथि का अनुमान कर लिया जाता है । अथवा यों समझिए कि वहाँ भी चैतन्य की सत्ता तो है, किन्तु इन्द्रियागोचर होने के कारण उपलब्धि नहीं होती है, अतः चिदंश का आश्रय ही कारक कहलाता है और प्रत्यय की प्रधानता के कारण वह **प्रत्यय** ही कहलाता है ।

प्रकारान्तर से प्रकृति-प्रत्यय का निर्वचन

उपरि प्रतिपादित चिदंश ही प्रत्यय है तथा उपादान कारण स्वरूपा प्रकृति है — इसके अतिरिक्त प्रकार से भी प्रकृति-प्रत्यय को समझा जा सकता है, यथा—क्रिया ही सबकी प्रकृति है, क्रिया से ही वस्तुओं में विकार उत्पन्न होता है, अतः क्रिया का वाचक यह शब्द का एकदेश भी **प्रकृति** कहलाता है । क्रिया को ही आधार मानकर 'कारक' **शब्द का** प्रयोग किया जाता है - करोतीति कारकम् । इसलिए क्रिया ही वहाँ की प्रकृति है । क्रिया के साथ तादात्म्य होने के कारण ही क्रियाविषयक सङ्केतित 'डित्थ' आदि शब्द भी **प्रकृति** ही कहलाता है । यह क्रिया जहाँ जहाँ प्रतीत होती है उसे 'प्रत्यय' कहते हैं । जड़ और चेतन दोनों में ही क्रिया की उपलब्धि देखते हैं, जैसे — सूर्य का अपत्य 'सौरि' कहलाता है अर्थात् सूर्य का अपत्य स्वरूप सम्बन्धी । यहाँ सूर्य शब्द तो प्रकृतिबोधक हुआ, वह सूर्य ही जनकत्व सम्बन्ध से यहाँ सूर्य के अपत्य में प्रतीत हो रहा है । अतः अपत्यवाचक ही यहाँ 'इकार' (शब्द भाग) प्रत्यय कहलाया ।

इसी क्रिया के सम्बन्धियों का आठ प्रकार से विभाजन माना गया है — भाव, कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध सामान्यवान् तथा अधिकरण । इन आठ प्रकार के विभागों में प्रत्यय का बोधक शब्द-भाग ही क्रिया सम्बन्धी विभाग का प्रकाशक होने के कारण '**विभक्ति**' शब्द से व्यवहार्य है ।ध्यातव्य है कि क्रिया की सिद्धावस्था को प्रकट करने वाले घञादि प्रत्यय विभक्ति नहीं कहलाते हैं ।

विभक्तियों का द्वैविध्य

विभक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं — क्रिया के सम्बन्ध से अभिधीयमान तथा द्रव्यसम्बन्ध से अभिधीयमान। 'रामकृष्णौ गच्छतः' यहाँ 'औ' विभक्ति है तथा 'तस्' भी। ये दोनों एक ही कर्तृकारक की अभिधायिका हैं, तथापि औकार, राम तथा कृष्ण में साक्षात् कर्तृकारक का अभिधायक है, जब कि 'तस्' विभक्ति गमनक्रियानिरूपित कर्तृकारकत्व की सत्ता का परम्परया बोध कराती है, यह विशेष बात है।

इनमें से द्रव्य के साथ जुड़कर कारक का बोध कराने वाली (द्रव्यसम्बन्धेन अभिधीयमान) विभक्ति आठ प्रकार की होती है — सम्बुद्धि, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी तथा सप्तमी। इनमें से 'सम्बुद्धि' क्रियासम्बन्धिविभाग की अवभासिका नहीं होने पर भी सादृश्यमूलक उपचार के कारण उसमें विभक्तित्व का व्यवहार होता है।

क्रियापदों के साथ जुड़ने वाली (क्रियासम्बन्धेन अभिधीयमान) विभक्ति तीन प्रकार की होती है — भाव, कर्त्ता, तथा कर्म। धातु से आगे करणादि कारकों की विवक्षा से विभक्तियाँ प्रयुक्त नहीं हुआ करती हैं, क्योंकि क्रिया का अपना स्वरूप लाभ कराने के लिए भाव, कर्त्ता तथा कर्म में ही प्रत्यय का सन्निकर्ष हुआ करता है, विलम्ब से उपस्थिति के कारण करणादि के साथ नहीं। इनमें से क्रियात्मक वस्तु की सत्तात्मक प्रतीति के लिए स्वरूपकथन को ही 'भाव' कहते हैं क्योंकि क्रिया की प्रतीति स्वमुख से ही होती है, अर्थात् कर्तृविभक्ति होने पर कर्तृमुखेन तथा कर्म विभक्ति होने पर कर्ममुखेन प्रवृत्ति देखने में आती है।

आशय यह है कि प्रायः शब्दों का अभिधान क्रिया के माध्यम से ही होने के कारण क्रिया में संकेतित शब्दांश ही **धातु** कहलाता है, क्रिया भी धातु से ही उपलब्ध होती है। वह क्रिया यद्यपि चेष्टास्वरूपा एक ही है, तथापि प्रकरण के भेद से नाम, क्रिया, धात्वर्थ — के रूप में नानात्व को प्राप्त कर जाती है।

धात्वर्थ का निर्वचन

सभी धातुएँ परस्पर विलक्षणक्रियारूप अर्थ वाली हुआ करती हैं। एक भी धातु समग्रतया किसी अन्य धातु का पर्याय नहीं हुआ करता है। जैसे — अस्, भू, कृ इत्यादि धातुओं में से 'अस्' धातु 'सत्ता' मात्र की बोधक है और सत्ता एक तथा नित्य होती है जो कि उत्पत्ति तथा विनाशातीत क्रिया है। उसमें इतर क्रियाएँ विशेष्य-विशेषणभावापन्न होने के कारण केवल कर्त्ता में ही विभक्तियाँ होती हैं, भाव या कर्म में नहीं। 'अस्ति' इस पद का अर्थ है 'सत्तावान्'। उक्त सत्ता का आधान ही 'भू' धातु का अर्थ है। 'भवति' का अर्थ है — 'सत्तां धत्ते' अर्थात् 'सत्ता को धारण करता है'॥ 'धा' धातु का अर्थ है — अवलम्बन। इसमें भी दो क्रियाएँ है — अवस्थानलक्षणा तथा अवस्थानानुकूलचेष्टालक्षणा।

इस प्रकार तीन क्रियाएँ भू धातु का अर्थ सिद्ध हुईं। 'घटो भवति' यहाँ पर घट में सत्ता अवलम्बित है और घट सत्तावलम्बनानुकूल चेष्टावान् है — यह अर्थ सिद्ध हुआ। जिस प्रकार सत्ता स्वयं में अवलम्बित है, उसी प्रकार 'घट चेष्टायुक्त है' यह भी अर्थ हुआ।

यदि यह कहा जावे कि सत्तावलम्बनानुकूल चेष्टाकाल में घट ही अप्रसिद्ध है, अतः धात्वर्थ ही सिद्ध नहीं हुआ, तो इसका समाधान यह हुआ कि कार्य-कारण में अभेद होने के कारण भविष्यमाण कार्य और उसके उपादान कारण में उपचारवश ऐसे प्रयोगों की सङ्गति मान ली जावेगी। जैसे — 'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय' (इन तन्तुओं से साड़ी बनाओ) इत्यादि प्रयोग होते ही हैं। अर्थात् तन्तुकाल में साड़ी के अप्रसिद्ध होने पर भी लौकिक व्यवहार में ऐसे प्रयोग औपचारिक रूप में होते हैं।

अथवा सत्तावलम्बनानुकूल चेष्टाओं में घट की अप्रसिद्धता तब सङ्गत होती, यदि घट बन रहा होता, क्योंकि तब यह प्रश्न होता कि बनते हुए घट के लिए पुनः सत्तावलम्बनानुकूल चेष्टा की क्या आवश्यकता है ? इसलिए बौद्ध रूप से मृत्तिका में अध्यारोपित असत् ही 'असतः सज्जायते' इस सिद्धान्त के अनुसार घट-सत्ता का अवलम्बन करने के लिए चेष्टा करता है।

अथवा समवायरूप से सिद्धि ही **भू** धातु का अर्थ है। जैसे — 'घटो भवति' इस प्रकार कहता हुआ व्यक्ति मृत्तिका को एकत्रित करता है तथा 'घटः सिद्ध्यति' ऐसा प्रयोग भी करता है। **सिद्धि** कहते हैं — 'प्रागभावध्वंसानुकूल चेष्टा' को। अतः 'मृत्तिकाम् अनुगच्छति' का अर्थ हुआ 'स्वप्रागभावध्वंसानुकूलं चेष्टते।' यहाँ पर भी भविष्यत्कालिक बुद्धिस्थ घट को अभिप्रेत करके ही 'चेष्टते' ऐसा प्रयोग किया गया है।

शारीरकनय के अनुसार तो द्रव्य कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, अपितु गुणसमुदाय में ही **'द्रव्य'** शब्द का प्रयोग होता है। अतः घट भी कोई द्रव्यविशेष नहीं है, किन्तु रूपविशेषवत् समवाय ही वह घट है, क्योंकि मृत्तिकाओं में बहुत से गुण हैं, उनमें से एक रूपविशेष है 'कपाल' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्तभूत। उसके अलावा विलक्षण रूप आविर्भूत होता है, अन्य गुण यथास्थित रहते हैं। इसके पश्चात् किसी एक गुण के अतिरेक से ही यह समवाय पूर्व वाले कपालादिसञ्ज्ञक समवाय से भिन्न हो जाता है उसी समवाय की **'घट'** सञ्ज्ञा हो जाती है। तद्वत तत्समवायभेद का प्रयोजक है पूर्ववर्ती विलक्षण रूपविशेष। उसी का प्रवृत्तिनिमित्त 'घटत्व' है। उससे अतिरिक्त कोई 'जाति' पदार्थ नहीं है।

समवाय का लक्षण

'अयमेकः, अयमेकः, अयमेक इतीमे बहवः सन्निहिताः सोऽयमेकः' इस प्रकार की परस्पर सन्निकर्ष से अनेक गुणों का युगपत् ग्रहण कराने वाली, बुद्धि ही **समवाय** है। अतः गणसमवाय भी **गुण** ही है। वही समवाय तत्तद्गुणानुगतबुद्धिविशेष के रूप में **'द्रव्य'** शब्द तथा घटादि शब्दों के द्वारा

व्यवहृत किया जाता है । इस प्रकार 'समवाय' सम्बन्ध भी कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है । इन गुणों के कारण ही शब्द की प्रवृत्ति होती है । अतः गुणों के उपचय और अपचय के कारण ही तत्तन्नाम, आख्यात शब्द प्रवृत्त और निवृत्त होते हैं ।

उक्त रीति से परिणति को प्राप्त कर होने वाली सिद्धि को ही 'भू' धातु का अर्थ समझना चाहिए । वहाँ सिद्धि भी प्रागभावध्वंसात्मिका नहीं होती है, क्योंकि

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥[9]

भगवद्गीता की इस उक्ति के अनुसार पूर्व में असत् घटादि का उत्पाद सम्भव नहीं है, अपितु तत्तद्गुणों से विशेषित समवायावच्छिन्न सत्ता का इतरगुणों से विशेषत समवायावच्छिन्नत्व रूप से बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाना ही **'सिद्धि'** शब्द का अभिप्राय है । तत्तद्गुणविशेषित समवायावच्छिन्न सत्ता का परिणाम तत्तद्गुणविशेषित समवायानवच्छिन्नत्व रूपा बुद्धि ही है। यावद्गुणविशेषितसमवायस्वरूपा मृत्तिका बुद्धि द्वारा परिगृहीत होती है, तदवच्छिन्न सत्ता 'घट' शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त रूपविशेष का तद्बुद्धि के द्वारा ग्रहण होने पर एतत्काल में वह मृत्तिका तावद्गुणविशेषित समवाय से अवच्छिन्न नहीं रहती है । अवच्छिन्नता किसी अवच्छेदक से हुआ करती है । **अवच्छेदक** कहते हैं अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धर्म को । अतः मृत्तिका-सञ्ज्ञक समवाय से अवच्छिन्ना सत्ता, घटत्व रूप से गुणविशेषों के द्वारा विशेषित घट-सञ्ज्ञक समवायावच्छिन्नता के रूप में बुद्धि द्वारा अनगृहीत होती है, यही घट का भाव (सत्ता) है । इस प्रकार मृत्तिका, ही परिणति को प्राप्त कर, घट का स्वरूप धारण करती है और 'मिट्टी ही घड़ा बन जाती है' — ऐसा प्रयोग व्यवहार में लाया जाता है ।

सकर्मक और अकर्मक धातु का विवेचन

धातुओं का दो प्रकार से विभाजन किया गया है — सकर्मक और अकर्मक । अर्थविशेष की अविवक्षा रहने पर तथा शब्दसामान्य की प्रसिद्धि रहने पर आकांक्षा उत्थित नहीं होती है, अतः वह **अकर्मक** धातु कहलाती है, जैसे — 'मेघो वर्षति' इस स्थल में पतनानुकूल चेष्टा 'वर्ष' धातु का अर्थ हैं, उसमें प्रकारीभूत पतन-क्रिया के आश्रय जलादि के सर्वजनीन होने के कारण उसके विशिष्ट ज्ञान के लिए आकांक्षा उत्थित नहीं होती है, अतः 'वर्ष' धातु अकर्मक है

इसी प्रकार जिस धातु के अर्थ में ही कर्म का उल्लेख हो रहा हो वह भी **अकर्मक** धातु कहलाती है । जैसे — 'अस्ति' इसका अर्थ है — सत्तां धत्ते अथवा सत्ताम्, अनुवर्त्तते अथवा सत्ताम् आश्रयति ।

का धात्वर्थतावच्छेदक कुक्षि में समुल्लेख होने के कारण 'सत्ता' पदार्थ के लिये आकांक्षा उत्थित नहीं होती है, अतः वह अकर्मक है।

मुख्यक्रियाविशिष्टत्व ही **सकर्मकत्व** है। अर्थात् 'स्वाकांक्षोत्थापकत्व' तथा 'स्वानभिधायकत्व' — इन सम्बन्धों से कर्मकारकविशिष्टत्व ही सकर्मकत्व है। जैसे — 'दृश्' धातु का अर्थ है चाक्षुषज्ञानविषयीकरण। चाक्षुषज्ञानविषयीभवनानुकूल चेष्टा ही मुख्य क्रिया है। 'दृश्' धातु चाक्षुषज्ञान का विषय बनने वाले घटादि पदार्थों की अनभिधायिका होने के कारण तथा घटाद्यर्थविषयक आकांक्षा की उत्थापिका होने से सकर्मक कहलाती है।

कारकलक्षण विवेचन

क्रिया कारकसापेक्षा हुआ करती है, अतः 'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्' ऐसा कारक का लक्षण प्रयुक्त करते हैं। ये कारक छः माने गये हैं — कर्त्ता, कर्म्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण।

यत्समवायेन चेष्टा उत्पन्न होती है, वह **कर्त्ता** कहलाता है।

प्रयोजक कर्त्ता का समवधान रहने पर प्रयोज्य-कर्त्ता ही कर्म्म कहलाता है।

प्रयोज्य और प्रयोजक के व्यापार यदि एक ही उद्देश्य से प्रवृत्त हो रहे हों तो प्रयोज्य-कर्त्ता ही **करण** कहलाता है।चेष्टा का उद्देश्यभूत अर्थ ही **सम्प्रदान** कहलाता है। चेष्टा में अपेक्षित पूर्वावधि ही **अपादान** है। क्रिया-कर्तृसम्बन्धी देश-काल-आकाश का व्याप्य देश-काल-आकाश से विशिष्ट **अधिकरण** कहलाता है।

प्रकारान्तर से भी कारकलक्षण प्रस्तुत किया गया है, यथा—'धातुविशिष्टक्रियाश्रयत्वम् कर्तृ-कारकत्वम्'। यहाँ क्रिया में धातु का वैशिष्ट्य 'स्ववाच्यत्व' एवम् 'स्ववाच्यक्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानाश्रयत्व' इन दो सम्बन्धों से माना गया है, यथा—विक्लित्त्यनुकूलव्यापार 'पच्' धातु का अर्थ हुआ करता है, उस 'पच्' धातु की शक्ति के निरूपक तीन हैं — विक्लित्ति, सिद्धि तथा चेष्टा। इन में से जब जिसकी विशेष्यता हो तब उसी के आश्रय को प्रथमकारक के रूप में कर्त्ता स्वीकार किया जाता है। जैसे—तण्डुलम् ओदन् पचति रामः — यहाँ चेष्टा में विशेष्यत्व विवक्षित होने के कारण चेष्टाश्रय राम में कर्तृत्व माना गया।

इसी प्रकार चेष्टाप्रयोज्य सिद्धि में विशेष्यता की विवक्षा रहने पर सिद्धि के आश्रय ओदन की कर्तृसञ्ज्ञा हो जावेगी, अतः 'ओदनः पच्यते रामेण' ऐसा भी प्रयोग होगा, जिसका शाब्दबोध इस प्रकार होगा — 'रामनिष्ठचेष्टाप्रयोज्यविक्लिद्य सिद्धियाश्रय ओदनः'।

इसी प्रकार 'तण्डुलं पच्यते रामेण' यहाँ पर विक्लित्ति में विशेष्यत्व होने के कारण तदाश्रय 'तण्डुल' की कर्तृसञ्ज्ञा सिद्ध हुई तथा 'रामनिष्ठचेष्टाप्रयोज्यविक्लित्त्याश्रयस्तण्डुलम्' ऐसा शाब्दबोध हुआ।

उपर्युक्त तृतीयाविभक्त्यन्त दोनों ही स्थलों में प्रयोजक की क्रिया=चेष्टा के, प्रकारतया उपस्थित होने के कारण, चेष्टा के आश्रय राम में तृतीयकारकत्व (करणत्व) की सिद्धि हुई।

जहाँ सिद्धि और चेष्टा अथवा विक्लित्ति और चेष्टा - इन दोनों के सामानाधिकरण्य की विवक्षा होगी, वहाँ पर वही 'पच्' धातु अकर्मक बन जावेगी, अतः दो प्रकार के प्रयोग होंगे। सिद्धि में विशेष्यता रहने पर प्रकारीभूत प्रयोजक क्रिया चेष्टा के आश्रय 'ओदन' पद में तृतीयकारकत्व (करणत्व) की व्यवस्था होगी, अतः वहाँ प्रथमाविभक्ति नहीं होने के कारण 'पच्यते ओदनेन' ऐसा प्रयोग होगा। 'ओदननिष्ठचेष्टाप्रयोज्या ओदननिष्ठा विक्लिद्य सिद्धिः' ऐसा शाब्दबोध वहाँ होगा।

जब प्रयोजक-क्रिया=चेष्टा में प्रथमकारत्व विवक्षित होगा तब चेष्टा के आश्रय ओदन में प्रथमकारकत्व (कर्तृत्व) होगा, यथा—पच्यते ओदनः - इत्यादि। 'विक्लिद्य सिद्ध्यनुकूलचेष्टाश्रय ओदनः' ऐसा वहाँ शाब्दबोध होगा। इसी प्रकार सर्वत्र 'धातुविशिष्टक्रियाश्रयत्वं कारकत्वम्' यह कारक का लक्षण भिन्न-भिन्न वैशिष्ट्यनियामक सम्बन्धों के कारण भिन्न-भिन्न कारकों का लक्षण बन जाता है।[10]

चार प्रकार के आख्यात के प्रयोग

इस प्रकार आख्यात के चार तरह के प्रयोग निष्पन्न हुए। रामः ओदनं पचते — यहाँ रामादिकर्तृ-मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध हुआ। रामेण ओदनः पच्यते — यहाँ ओदनादि कर्ममुख्यविशेष्यक शाब्दबोध हुआ। ओदनः पच्यते—यहाँ पर ओदनादिकर्तृमुख्यविशेष्यक तथा 'ओदनेन पच्यते' यहाँ कर्मक्रिया-मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध हुआ।

यहाँ यह विशेषतः बोद्धव्य है कि 'चतुर्धा आख्यातप्रयोगो भवति' इसका तात्पर्य यही है कि चार से अधिक प्रयोग नहीं होंगे, किन्तु चार से न्यून प्रयोग तो होंगे अर्थात् यथासम्भव चार प्रकार के प्रयोग हो सकते हैं, किन्तु यह सार्वत्रिक नियम नहीं है, चार से कम भी हो सकते हैं। अतः दृश्, स्था प्रभृति धातुओं के कर्तृप्रयोग ही होते हैं, कर्मप्रयोग अथवा कर्मकर्तृ प्रयोग नहीं होते हैं, क्योंकि जहाँ प्रयोज्य-प्रयोजक क्रियाओं में खण्डशः शक्ति स्वीकार की जाएगी, वहीं पर कर्म-प्रयोग होते हैं। अतः कर्मस्थ भाव तथा कर्मस्थ क्रियास्थलों में ही कर्मकर्तृ प्रयोग होता है, न कि कर्तृस्थ भाव और कर्तृस्थ क्रियास्थलों में भी।

भावलक्षण तथा क्रियालक्षण

अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थो भावः, यथा-दर्शनश्रवणादिः। सपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थः क्रिया, यथा—पाकादिः।

यद्यपि दर्शन में चक्षुरुन्मीलनादिस्वरूप परिस्पन्दन प्रतीत होता है, तथापि उस से भिन्न हाथ-पैरों के द्वारा की गई चेष्टा को ही यहाँ 'स्पन्दन' शब्द का अभिप्रेत समझना चाहिए।

'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत् स कर्ताऽनाध्याने'[11] इस सूत्र का संक्षिप्त विवेचन

अण्यन्तावस्था की क्रिया यदि ण्यन्तावस्था में प्रयुक्त की जावे तथा अण्यन्तावस्था का कर्म कारक ण्यन्तावस्था में कर्त्ता बन जावे तथा उत्कण्ठापूर्वक स्मरण स्वरूप आध्यान अर्थ विवक्षित नहीं हो, तो णिजन्त धातु का आत्मनेपद में प्रयोग होता है, यह इस सूत्र का फलितार्थ है।

भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र के कर्तृस्थभाव और कर्तृस्थक्रिया के उदाहरण दिये हैं। उन में से कर्तृस्थ भाव का उदाहरण चार अवस्थाओं में प्रयुक्त किया गया है — (क) पश्यन्ति भवं भक्ताः। चाक्षुषज्ञानविषयं कुर्वन्तीत्यर्थः। (ख) पश्यति भवः विषयो भवतीत्यर्थः। (ग) दर्शयन्ति भवं भक्ताः। पश्यन्तीत्यर्थः। (घ) दर्शयते भवः।

इन में से प्रथम और तृतीय प्रयोगों का तथा द्वितीय और चतुर्थ प्रयोगों का समान अर्थ है।उक्त उदाहरणों में से ओझाजी ने 'दर्शयते भवः' — इस उदाहरण की कैयट, दीक्षित तथा नागेश भट्ट-सम्मत विवेचनपूर्वक विशद समालोचना प्रस्तुत करते हुए अन्त में अपने मत का प्रदर्शन किया है।

ओझाजी की व्याख्यानुसार उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'कर्म' शब्द क्रियापरक है, न कि कैयटादिसम्मत पारिभाषिक कर्म्मकारकपरक। आशय यह है कि जहाँ ण्यन्तावस्था तथा अण्यन्तावस्था में एक ही कर्म के वहाँ अण्यन्तावस्था के कर्म को कर्त्ता हो जाने पर धातु से आगे आत्मनेपद के प्रत्ययों का प्रयोग हुआ करता है। जैसे — भक्त जब भव का दर्शन करते हैं तो दर्शनस्वरूपा साक्षात्कार क्रिया में भक्त तथा भव दोनों ही प्रयोजक बन जाते हैं, क्योंकि भव के साक्षात्कारविषय होने में भक्त प्रयोजक बन जाते हैं, कारण कि विना भक्तों के 'भव' साक्षात्कार-विषय किसका बनेगा? इसी प्रकार भक्तों के भवविषयक साक्षात्कारकरण कर्म में भव प्रयोजक बन जाते हैं, क्योंकि भव के विना भक्त किसका साक्षात्कार करेंगे?

इस प्रकार एक ही दर्शनक्रिया में भक्त और भव — दोनों की प्रयोजकता सिद्ध होती है। अतः भक्तों में प्रयोजकत्व की विवक्षा होने पर उन्हीं में क्रियाकर्तृत्व होगा, फलतः 'भक्ताः भवं पश्यन्ति' ऐसा प्रयोग होगा। 'भव' में प्रयोजकत्वप्रयुक्तकर्तृत्व रहने पर 'दर्शयते भवो भक्तान्' ऐसा प्रयोग होगा। क्योंकि अण्यन्तावस्था वाले पर्ववाक्य का कर्म ण्यन्तावस्था में कर्त्ता बन गया है, अतः द्वितीय वाक्य में (ण्यन्तावस्था मे) धातु से आगे आत्मनेपद के प्रत्यय (तङ्) का विधान हुआ है।

इस प्रकार पण्डित मधुसूदन ओझा द्वारा विरचित 'पदनिरुक्त' ग्रन्थ नव्यन्याय की शैली के द्वारा व्याकरण के विषयों का जहाँ प्रौढ़ विवेचन प्रस्तुत करता है, वहीं अनेक मौलिकताओं से भी ओत-प्रोत है, इसका परिज्ञान प्रकृत ग्रन्थ के अनुशीलन से ही विद्वज्जनसंवेद्य है।

(1) न्याय भाष्य,2.1.55

(2) अष्टाध्यायी,1.3.67

(3) ऋग्वेद 1/164/15

(4) 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः - जातिशब्दाः, क्रियाशब्दाः, गुणशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः,

— 'ऋलृक्' सूत्रभाष्य

(5) 'न केवलमर्थगतंप्रवृत्ति निमित्तमनपेक्ष्य व्यक्तिविशेषे प्रयुज्यमानः शब्द एवासौ यदृच्छाशब्दः, किन्तर्हि ? योऽपिस्वगतं प्रादेशिकत्वमनपेक्ष्यैवार्थविशेषे नियुक्तः सोऽपि यदृच्छाशब्दो भवितुमर्हति ।'

— पदनिरुक्त (सम्पादक — प्रद्युम्न शर्मा, वि.2009), पृ.3

(6) त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः — जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः ।

— 'ऋलृक्' सूत्र पर भाष्य ।

(7) 'द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् ।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥'

— कारिकावली, प्रत्यक्षखण्ड, कारिका-2

(8) 'तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरूक्तसमयश्च ।'

— निरुक्त,1.4

(9) श्रीमद्भगवद्गीता,2/16

(10) पदनिरुक्तम्, पृ.56-57

(11) अष्टाध्यायी,1.3.67

वर्णसमीक्षा : एक अनुशीलन

— डॉ. सत्यप्रकाश दुबे
सहायक आचार्य
संस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

मन्द-मन्द स्फुरत्तन्त्रीं निहन्त्रीं सकलापदाम् ।
स्फालयन्तीं मतिप्राप्त्यै सारदां शारदां नुमः ॥

विद्यावाचस्पति समीक्षा-चक्रवर्ती पण्डितश्रीमधुसूदन ओझा ने आचार्य-प्रवर सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पण्डितराज शिवकुमार शास्त्री के शुभाशीष से अनवरत सारस्वत-साधना में तल्लीन होकर वेदवेदाङ्गादि शास्त्रों में अन्तर्निहित वैज्ञानिकता को उजागर करने के लिये लेखनी उठाई तथा प्रतिपाद्य विषयों को पाँच भागों में विभाजित करके सौविध्य हेतु उनमें भी अवान्तर विषय-विभाग किया । इन ग्रन्थों के वर्ग-पञ्चक क्रमशः ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, इतिहास, वेदाङ्ग-समीक्षा तथा आगम-रहस्य नाम से जाने जाते हैं । इनमें ब्रह्मविज्ञान सम्बन्धी 40 ग्रन्थ, यज्ञ-विज्ञान सम्बन्धी 20 ग्रन्थ, इतिहास सम्बन्धी 18 ग्रन्थ, वेदाङ्ग समीक्षा के अन्तर्गत 30 तथा आगमरहस्य के कुल एक सौ बीस ग्रन्थ हैं । इन सभी ग्रन्थों का यहां संक्षिप्त भी परिचय दे पाना कठिन है, अतः केवल वेदाङ्ग-समीक्षा को आधार बनाकर विवेचनीय बिन्दु प्रस्तुत है ।

वेदाङ्गसमीक्षा सन्दर्भ में वाक्पदिका, ज्योतिश्चक्रधर, आत्मसंस्कारकल्प तथा परिशिष्टानुग्रह नामक चार विभाग किये गये हैं । जिनमें वाक्पदिका के अन्तर्गत पाँच अवान्तर ग्रन्थ हैं वर्णसमीक्षा, छन्दःसमीक्षा, वैदिककोश, वैदिक शब्दतालिका एवं व्याकरणविनोद । इन ग्रन्थों में वर्ण, अक्षर, पद वाक्य तथा भाषा-निरुक्ति का विस्तृत विवेचन है ।

"प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" के अनुसार वर्णसमीक्षा ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए विद्यावाचस्पति जी लिखते है —

धर्मादभ्युदयः सदाभ्युदयते धर्मश्चे साहित्यतो
विज्ञाप्योऽप्यविना कृतं तदपि वा वाक्यैश्च वाक्यं पुनः ।
संपद्येत पदैः, पदं पुनरिदं वर्णाहितं वर्ण्यते
तस्माद्वर्णनिरूपणं प्रथमतः कर्तुं समुद्यम्यते ॥
अथातो माधुसूदन्या सरस्वत्या प्रसन्नया ।
समीक्षाचक्रवर्तिन्या वर्णतत्त्वं समीक्ष्यते ॥[1]

भाषा स्रोतस्विनी से निर्झरित होकर उसी के लिए व्यवहृत होने वाले वर्णसमूह "मातृका" रूप से अभिहित होते हैं। इसी वर्णसमूह का "पथ्यास्वस्ति" वैदिक नामकरण किया गया है। जिसके अन्तर्गत ओझाजी ने कहा है कि 'अवयवपरिच्छेद ही मात्रा है तथा वर्ण ध्वनि के परिच्छेद हैं अतः इन वर्णों को 'मात्रा एव मात्रिका' व्युत्पत्ति से स्वार्थ में कप्रत्यय करके मात्रिका नाम से अभिहित किया जाता है। मात्रिका शब्द ही उच्चारण की समानता से 'मातृका' कहलाता है। अथवा यह वर्णमाला मातृवत् भिन्न-भिन्न देश भाषाओं की जननी है, इसी साम्य से वर्णमाला को मातृका कहा जाता है।[2] यद्यपि भाषाओं के अनन्त होने से उनकी मातृकायें भी उतने ही रूपों वाली हैं तथापि समीक्षाचक्रवर्ती उसे दो भागों में विभाजित करते हैं। आर्यमातृका तथा अनार्यमातृका। इनके भी भेद का कारण स्वर एवं व्यंजन वर्णों का एकीकृत तथा भिन्न रूपों में रहना है। स्पष्ट स्वर व्यंजन विभाग वाली आर्य मातृका है तथा संकीर्ण अर्थात् परस्पर मिश्रित वर्णों वाली अनार्य मातृका है। आर्यमातृका के अन्तर्गत चार अवान्तर मातृकायें हैं — ब्रह्ममातृका, अक्षमातृका, सिद्धमातृका एवं भूतमातृका। अनार्यमातृका विविध भेद प्रभेदों वाली होती हुई भी आचार्यों के द्वारा एक ही "होड़ामातृका" रूप में स्वीकार की गयी है। इस प्रकार ग्रन्थ के आदि में सर्वप्रथम मातृका-पंचम का ही निरूपण किया गया है।

ब्रह्ममातृका —

आचार्य पतञ्जलि ने ब्रह्ममातृका को ब्रह्मराशि एवं अक्षरसमाम्नाय के रूप में पौनःपुन्य वर्णित किया है यथा —

> वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्मवर्तते।
> तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते॥

"सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः। सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति। मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते"।

इस मातृका में इक्कीस स्वर एवं बयालीस व्यंजन को मिलाकर कुल तिरसठ वर्ण हैं। जिनमें अकारादि त्रयोदश समानाक्षर तथा एकारादि आठ सन्ध्यक्षर हैं इनमें भी अकारादि प्रथम पाँच ह्रस्व स्वर अनन्तर चार दीर्घ स्वर, चार प्लुत स्वर तथा चार दीर्घ प्लुत द्वन्द्व हैं। व्यंजनों में सर्वप्रथम स्पर्शसंज्ञक पच्चीस वर्ण हैं तत्पश्चात् चार वर्ण अन्तःस्थ संज्ञक, चार ऊष्मसंज्ञक, चार यम एवं चार ही अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अन्त में एक दुःस्पृष्ट वर्ण है। स्पर्शसंज्ञक व्यंजन वर्णों में ङ, ञ, ण, न, म अनुनासिक माने गये हैं वर्गों के चतुर्थ वर्ण-महाप्राण तथा नाद हैं वर्गों के तृतीय वर्ण अल्पप्राण एवं नाद तथा द्वितीय एवं प्रथम वर्ण क्रमशः महाप्राण एव श्वास और अल्पप्राण श्वास वर्ण हैं। शेष वर्ण यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय अयोगवाह कहलाते हैं। जो कि स्वर व्यंजन उभयविध होते हैं। यथा —

अथ यमानुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयानामयोगवाहसंज्ञानां व्यंजनत्वं स्वरत्वं चाचक्षते। तेन अयोगवाहा ऊष्माणोऽन्तःस्थाः स्पर्शाश्चेत्येतानि व्यंजनानि। अयोगवाहाः समानाक्षराणि सन्ध्यक्षराणि चेत्येते स्वराः।

इस तरह इस ब्रह्ममातृका में तिरसठ वर्ण स्वीकार किये गये हैं। कतिपय आचार्य प्लुत लृकार को भी इसमें सन्निविष्ट करते हुए चौसठ वर्ण गिनते हैं। आचार्य कात्यायन तो दीर्घ लृकार और नासिक्य हुंकार वर्ण का भी इसमें सन्निवेश करते हुए पैंसठ वर्णों वाली ब्रह्ममातृका मानते हैं। कहीं-कहीं गणनाक्रम में यम के वर्णों की व्यक्तिशः गणना करके इस मातृका की वर्णसंख्या उन्यासी तक मान ली जाती है —

एकोनाशीतिवर्णास्तु प्रोक्ताश्चात्र स्वयम्भुवा।
स्वरा द्वाविंशतिश्चैव स्पर्शानां पञ्चविंशतिः॥
यादयः शादयश्चाष्टौ यमा विंशतिरेव च।
अनुस्वारो विसर्गश्च क पौ चापि पराश्रयौ॥[5]

आर्यों की सर्वाधिक पुरातन यह ब्रह्ममातृका संस्कृत वाङ्मय एवं शिक्षातन्त्र में पूर्णरूप से व्यवहृत हुई है। इस मातृका की विकृतिरूपा नागरी या देवनागरी लिपि ही सम्प्रति प्रचलित है।

अक्षमातृका

कुमारक्रमसिद्धा 51 वर्णों वाली इस मातृका में कतिपय आचार्य क्षेत्रज्ञ शब्द को उपलक्षण के रूप में स्वीकार करते हुए त्र तथा ज्ञ को भी सन्निविष्ट करते हुए इनकी संख्या 53 स्वीकार करते हैं। कुछ सम्प्रदायानुयायी ळ को दुःस्पृष्ट वर्णों के उपलक्षण के रूप में मानते हैं किन्तु किसी-किसी सम्प्रदाय में यह दुःस्पृष्ट ळकार नहीं पढ़ा जाता है।

इस मातृका में 16 स्वर वर्ण नामिस्वर तथा सन्ध्यक्षर के रूप में हैं। 25 वर्ण स्पर्शसंज्ञक हैं जिनमें वर्गों के प्रथम द्वितीय एवं श ष स आदि 13 वर्ण जित संज्ञक हैं इनमें भी श ष स की मुदसंज्ञा तथा शेष व्यंजनों की धि संज्ञा है। यकारादि क्षान्त वर्ण व्यापक संज्ञक हैं जो कि आगम में प्रसिद्ध हैं।

इस मातृका में एक व्यवस्था यह बनायी गयी है कि अकारादि 16 स्वरों को ककारादि व्यंजनों से संयुक्त करके क का कि की इत्यादि रूप से पाठ किया जाता है। यह वर्णमाला अकारादि क्षान्त-पर्यन्त अक्ष अर्थात् अक्षमातृका कहलाती है जिसका आख्यान कुमार-मातृका वर्णसमाम्नाय आदि शब्दों से भी किया जाता है। कातन्त्रव्याकरण तथा तन्त्रादि शास्त्रों में इस मातृका का प्रचुर प्रयोग मिलता है। सम्पूर्ण आर्यावर्त में लिपि भेद होने पर भी समान रूप से व्यवहृत होने वाली इस मातृका की भी लिपि नागरी या देवनागरी है।

रुद्रमातृका

सिद्धक्रमसिद्ध के अन्तर्गत माहेश्वरी वर्णमाला के रूप में ख्यातिप्राप्त यह रुद्रमातृका मुख्यतः 43 वर्णों से अलंकृत है। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यम आदि आठ वर्ण अधिक माने गये हैं। शेष वर्णों का इन्हीं में अन्तर्भाव है।समीक्षाचक्रवर्ती ने इस मातृका के वैशिष्ट्य पर लेखनी चलाते हुए कहा है —

येषां तु सिद्धं सावर्ण्यं तेषां सर्वेषां पार्थक्येन मातृकापाठे पाठो नावकल्पयते, एकेनैव गृहीतेनान्येषामपि सर्वेषां सुग्रहत्वात्। स्थानबलातिरिक्तगुणसाम्ये तु सावर्ण्याभावेऽपि वर्णानां साधर्म्यं न परिहीयते। तत्र केषां कैः साधर्म्यमिति स्पष्टं प्रतिपिपादयितुमेषां वर्णानां विलक्षणपौर्वापर्येण सन्निवेशमुपकल्पयन्ति।[6]

वर्णसाधर्म्य के विलक्षण पौर्वापर्य को चित्रफलक के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया है कि इस वर्णमातृका के व्यवस्थापक निःसन्देह वर्णविद्या के रहस्य के पारदृश्वा एवं अक्षर शिक्षकों में शीर्षस्थ थे। पाणिनीय व्याकरण की आधारशिला यह वर्णमातृका,सिद्धमातृका, रुद्रमातृका, माहेश्वरी वर्णमाला आदि नामों से व्यवहृत होकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्यापक रूप से प्रचलित है।

भूतमातृका

कुलक्रमसिद्ध 42 अक्षरों वाली यह भूतलिपि भूतमातृका एवं कुलमातृका के नाम से जानी जाती है। आगमशास्त्र एवं कुलमार्गानुयायी इस लिपि का प्रचुर प्रयोग करते रहे हैं। कालक्रम से यह लिपि केवल इसी रूप में पायी जाती है।

होडाचक्र (हीनक्रम मात्रिका)

अनार्यमातृका के अन्तर्गत मान्य इस मातृका में स्वर के रूप में अकार का ही पाठ है। वर्णक्रम के व्यवस्थित न होने से यह हीनक्रम मातृका के रूप में समझी जाती है। इस मातृका के चारों पंचकों में एक-एक वर्ण को अ इ उ ए ओ - इन मात्राओं से संयुक्त करके पाठ करना अभिप्रेत है। प्रत्येक पंचक के मध्यम वर्ण को मात्राओं के मध्यम वर्ण तथा त्रिक के साथ जोड़ा जाता है जिससे 112 वर्ण निष्पन्न होते हैं जिज्ञासुजन वर्णसमीक्षा ग्रन्थ के हीनक्रम के शतपदचक्र का अवलोकन करें। होडामातृका के रूप में प्रसिद्ध इस मातृका पर चिन्तन प्रस्तुत करते हुए समीक्षाचक्रवर्ती जी लिखते हैं —

पाणिनिकात्यायनादि समकाले यवनानी शब्देन कस्याश्चिद् यवनलिपेरत्र देशेऽपि प्रसिद्धिरासीत्। सेयमेव तस्मिन् युगे यवनप्रान्तभुक्ता भवेदित्यनुमीयते। अथवा स्यादवाद्यारब्धा लान्ता विंशतिवर्णाश्चत्वारस्त्वन्ये वर्णा इत्येवं चतुर्विंशत्यक्षरा काचित्तदानीं यवनदेशीया मातृका ज्योतिर्विद्यासमासक्तानां विदुषां समाजभुक्तेति विज्ञायते...।[7]

अर्थात् पाणिनि कात्यायन आदि के समय में यवनानी शब्द से कोई यवन लिपि प्रचलित थी। यवनानी शब्द पाणिनि के 'इन्द्रवरुण'[8] सूत्र से ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् का आगम करने पर स्त्रीत्वविवक्षा में निष्पन्न होता है। इसमें वार्तिककार के 'यवनाल्लिप्याम्'[9] वार्तिक की प्रवृत्ति है जिससे यवनानी शब्द का अर्थ होता है— यवनों की लिपि (यवनानां लिपिः)।

इससे स्पष्ट है कि पाणिनि आदि के समय में यवनानी लिपि विद्यमान थी। समीक्षा-चक्रवर्ती जी ने उपर्युक्त कथन को ही आधार मानकर अपने विचार को स्पष्ट किया है कि अ व क ह ड आदि बीस वर्ण तथा ड ण ढ ब - ये चार वर्ण इस प्रकार कुल मिलाकर चौबीस वर्णों वाली यह लिपि रही होगी। सामान्यरूप से भी होरा शब्द चौबीस संख्या का वाचक है इसीलिए इसे होराचक्र या होडामातृका कहते हैं। होरा शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में आर्यदैवज्ञ वराहमिहिर ने बृहज्जातक नामक ग्रन्थ में लिखा है —

होरेत्यहोरात्र विकल्पमेके
वाञ्छन्ति पूर्वापरवर्णलोपात्।
कर्माजितं पूर्वभवे सदादि
यत्तस्य पंक्ति समभिव्यनक्ति॥[10]

अर्थात् अहोरात्र शब्द के आदि एवं अन्त्य वर्णों का लोप कर देने से होरा शब्द सिद्ध होता है। वैयाकरण "हुल्" संवरणे धातु से होरा शब्द की निष्पत्ति करते हैं। अहोरात्र चौबीस घण्टे का होता है यही होरा शब्द ही कालान्तर में होडा रूप में प्रयुक्त होने लगा। पण्डित ओझा जी ने बालिका अर्थ में होरा शब्द को स्वीकार किया है तथा बालिका द्वारा शिक्षणीय मातृका को "होला" कहा है। 'रलयोरभेदान्वयः' के अनुसार यही होला शब्द कालान्त में होरा तथा होडा कहलाने लगा।

इस तरह यह सुनिश्चित है कि यही अनार्यों (यवनों) की वर्णमातृका रही है जो कि इस समय ज्योतिष शास्त्र के रूप में भारत देश में पूर्ण सुरक्षित है। गर्गादि आचार्यों ने तो ज्योतिष शास्त्र में यवनों के पूर्ण निष्णात होने की भी बात कही है —

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥[10]

आचार्यश्री ओझा जी ने दो शाखाओं में विभक्त तथा आर्यों द्वारा उपयोग में ली जाने वाली पांच तरह की वर्णमातृकाओं से परिचय कराने के अनन्तर उससे सम्बन्धित चार स्वतन्त्र प्रकरण उपनिबद्ध किया है जो कि वैयाकरण, दार्शनिक, ज्योतिष एवं मान्त्रिक रूप हैं जिनमें वैयाकरण प्रकरण के प्रधान एवं सर्वोपकारक होने से वर्णसमीक्षा में मुख्यतः उसी का प्रतिपादन किया गया है।

मातृका शिक्षा के अन्तर्गत निम्न छः विषयों पर चिन्तन किया गया है। वर्णक्रमबन्ध, वर्णसंख्या, वर्णोच्चारणस्वरूप, वर्णलिपिस्वरूप, वर्णनिर्देशोपाय तथा वर्णधर्म। यहाँ वर्णधर्म के भेद से उच्चारण के स्वरूप में भी भेद दिखाया गया है तथा उच्चारण भेद होने से लिपि भेद स्वतः ही हो जाता है। (अवलोकनीय-वर्णसमीक्षा पृष्ठ 21) इस तरह इन सभी में भेद होना मातृका भेद का मुख्य हेतु है। वर्ण निर्देश के सम्बन्ध में आचार्य कात्यायन ने पूर्ण विचार किया गया है।[12]

इस तरह ओझा जी ने मातृका शिक्षा को व्यवस्थित करके उसे स्वर व्यंजन एवं अयोगवाह रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया है। "नान्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति" के आधार पर ही सर्वप्रथम स्वर तदनन्तर व्यंजन तथा अन्त में अयोगवाह के विषय में चिन्तन किया गया है। अयोगवाह अर्थात् "न विद्यते योगः सम्बन्धः वर्णसमाम्नाये येषां ते अयोगाः। वहन्ति ते वाहाः। अयोगाश्च ते वाहाश्चेति अयोगवाहाः" अक्षरसमाम्नाय में समाविष्ट न होने पर भी प्रयोगार्थ उपयोग में आने वाले अयोगवाह कहे जाते हैं। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय एवं यम ही अयोगवाह के रूप में स्वीकार किये गये हैं क्योंकि ये आश्रयस्थान भागी होते हैं —

अयोगवाहाः विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः (पाणिनीयशिक्षा, श्लोक 22)

तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार 'अविद्यमानो योगः प्रत्याहारेषु सम्बन्धोये षान्ते अयोगाः। अनुपदिष्टत्वात् उपदिष्टैरगृहीतत्वाच्च प्रत्याहारसम्बन्धशून्या इत्यर्थः।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी आयोगवाह के सम्बन्ध में विचार किया है। यथा—के पुनरयोगवाहाः, विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारानुनासिक्ययमाः। कथं पुनरयोगवाहाः यदयुक्ताः वहन्त्यनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते। (व्याकरणमहाभाष्य, वाराणसी, 1/1/5 सूत्रस्थभाष्य)

तात्पर्य यह है कि विसर्जनीय-जिह्वामूलीयादि अक्षरसमाम्नाय में समाविष्ट न होकर भी तत्तत्प्रत्ययमूलक कार्य का निर्वाह करते हैं।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के 'अथायोगवाहाः' सूत्र के भाष्य में उवट तथा अनन्तभट्ट ने यह स्पष्टरूप से कहा है कि 'अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः सन्त एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्तीत्ययोगवाहाः।

योगवहत्वं चेत्थम्-योगेन अकारादिवर्णसमुदायेन सहिताः सन्त आत्मानञ्च वहन्त इत्ययोगवाहाः। (वाजसनेयिप्रतिशाख्य, ८-१८ सूत्रस्थ उवट एवम् अनन्तभट्टकृतभाष्य)

इस अयोगवाह के अन्तर्गत निम्नलिखित नौ विषयों पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है —

विवृति, स्वरभक्ति, यम, अनुस्वार, रंङ्ग, हुङ्कार, नाद, अन्तःस्थ तथा ऊष्मा । इन विषयों की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है —

विवृत्ति

अकारानुरूप प्रतीयमान वर्ण विवृतिसंज्ञक होता है जो कि य, व आदि वर्ण की तरह अन्तःस्थ संज्ञक एवं कण्ठस्थानीय माना जाता है इसीलिए अर्धमात्रिक व्यंजन के रूप में होने से यह दो स्वरों की सन्धि का प्रतिबन्धक होता है । उदाहरणार्थ - हर इह इत्यादि प्रयोग में अकार तथा इकार के मध्य विच्छेद उत्पन्न करने वाला अस्पष्ट रूप से अवभासमान वर्ण का अनुभव होता है । यह विवृति संज्ञक वर्ण प्रायः यकार अथवा वकार स्थानी ही होता है, परन्तु कहीं-कहीं रेफ के स्थान पर भी देखा जाता है ।

आचार्य शाकल्य के विचार से यकार अथवा वकार का लोप होने से दो स्वरों का विच्छेद होना ही विवृत्ति है । यह विवृति कोई वर्ण विशेष नहीं होता है, वैचारिक धरातल पर यह कथन तर्कसंगत नहीं लगता क्योंकि यकार अथवा वकार के अदर्शन से ही वहां लोप शब्द प्रयुक्त होता है । हरी इह, विष्णू इह इत्यादि उदाहरणों में विवृत्ति की कल्पना उचित नहीं है क्योंकि वहां स्वरों की प्रगृह्य एवं प्रकृतिभाव संज्ञा होने से कोई विकार उत्पन्न नहीं होता ।(अवलोकनीय-याज्ञवल्क्यशिक्षा वर्णप्रकरण, सन्ध्यधिकार श्लोक 9)

स्वरभक्ति

स्वरभक्ति शब्द का अर्थ स्वर का भाग है न कि पूर्ण स्वरः ।अतः वह अर्धमात्रिक ही होता है अर्थात् अर्धमात्रिक अथवा उससे भी अल्पमात्रा वाले अ इ उ ऋ लृ ए् - इन छः वर्णों की समानता की प्रतीति कराने वाले स्वर एवं व्यंजन दोनों के समान धर्मवाले व्यंजनों के सहभाव में नियत ध्वनिविशेष ही स्वरभक्ति कहलाते हैं । इस स्वरभक्ति के सम्बन्ध में कात्यायन प्रातिशाख्य में भी महत्वपूर्ण चिन्तन प्रतिपादित किये गये हैं । आचार्य याज्ञवल्क्य ने स्वरभक्ति को पांच वर्गों में विभाजित किया है ।

करिणी कुर्विणी चैव हरिणी हारिणीति च ।
तथा हंसपदा नाम पञ्चैताः स्वरभक्तयः
करिणी रहयोर्योगे कुर्विणी लहकारयोः ।
हरिणी रशयोर्योगे हारिणी लशकारयोः ॥
या तु हंसपदा नाम सा तु रेफषकारयोः ॥[13]

नारद तथा आचार्य माण्डूक्य ने स्वरभक्ति से सम्बन्धित कुछ और भी स्पष्टीकरण दिया है। इनके अनुसार श ष स में संयोग के कारण होने वाली स्वरोदय स्वरभक्ति तथा हकार में व्यञ्जनोदय स्वरभक्ति होती है।

इस स्वरभक्ति के विषय में समीक्षाचक्रवर्ती जी ने अनेक आचार्यों का विचार प्रस्तुत किया है जिनमें कतिपय आचार्य तो सर्वत्र ही पद के आदि में होने वाले संयोग का आरम्भ स्वरभक्ति से ही मानते हैं। अन्य के मत में पद के आदि में ही स्वरभक्ति का नियम नहीं है अपितु जहां भी संयुक्त वर्णों का प्रयोग होगा वहां सर्वत्र स्वरभक्ति की स्थिति होगी।

आचार्य शौनक के अनुसार "न संयोगं स्वरभक्तिर्विहन्तीति" अर्थात् संयुक्त वर्णों की स्थिति में स्वरभक्ति में कोई विघ्न नहीं आता।

यम

यति, विराम, विच्छेद, अवष्टम्भ आदि यम के पर्याय हैं। कात्यायन प्रातिशाख्य (4/163, 64) में निबद्ध "अन्तः पदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदम्। ऊष्मभ्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः।"[14] सूत्र की व्याख्या करते हुए वर्णप्रदीपकार ने "विच्छेद इति यम संज्ञा" कहा है। वस्तुतः दो स्वरों के विच्छेद की विवृति संज्ञा एवं दो व्यञ्जनों के विच्छेद की यम संज्ञा होती है। आचार्य पराशर ने अमोघनन्दिनी शिक्षा में यम को अशरीरी कहा है —

जकारौ द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थितः।
अशरीरं यमं विद्यात् सम्माञ्जर्मीतिनिदर्शनम्।
(शिक्षासंग्रह, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1989, पृष्ठ 78)

याज्ञवल्क्य के अनुसार जब एक ही पद में पञ्चमाक्षरों से भिन्न वर्ण पञ्चमाक्षरों से संयुक्त होते हैं तब वहां यम की स्थिति बनती है।

आचार्य पाणिनि "अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिन"[15] वचन से आश्रयस्थानभागी को ही अयोगवाह के रूप में स्वीकार करते हैं। यद्यपि यम संख्या में बीस हैं तथापि मूलतः चार यम का ही व्यवहार होता है।

"चत्वारो यमाः कुं खुं गुं घुं इति" ।(ऋग्वेदप्रातिशाख्य-6/29)

कुछ और आचार्य यम को वर्णापत्ति के रूप में मानते हैं। इस प्रकार यम के सम्बन्ध विभिन्न पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

अनुस्वार

अनुस्वारो विसर्गश्च स्वरात्परौ तु तिष्ठत: ।
अनुस्वार: शिरो बिन्दु: पार्श्वे बिन्दू विसर्गक: ॥[16]

अकारादि स्वर के पश्चात् नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण अनुस्वार कहलाता है । अनुस्वार की प्रतीति नकार की तरह ही होती है अन्तर इतना ही है कि नकार मृदु स्पृष्ट वर्ण है जबकि अनुस्वार ईषत्स्पृष्टवर्ण । जिस प्रकार स्पर्शसंज्ञक वर्णों के अति अल्पमात्रा में कहीं आभासित होने पर यम संज्ञक स्पर्शभक्ति होती है उसी प्रकार ङ् न् म् - इन तीन वर्णों के अत्यल्प मात्रा में कहीं आभासित होने पर ये नासिक्यभक्तिरूप समझे जाते हैं । स्वरभक्ति एवं स्पर्शभक्ति वर्णों की तरह ही नासिक्य भक्तिवर्ण भी उच्चारण हेतु वर्णविशेष की अपेक्षा रखते हैं । ऊष्मसंज्ञक वर्णों के परे होने पर अनुस्वार का उच्चारण तीन प्रकार का होता है । अनुस्वार का नकार ध्वनि की तरह उच्चारण बह्वृच के अध्येता (ऋग्वेदपाठी) करते हैं । पाणिनीय शिक्षा में भी कहा गया है —

अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल: स्वरानुग: ।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं हो: श ष सेषु च ॥[17]

अर्थात् श, ष, स, ह के पश्चाद्वर्ती होने पर तूंबी वीणा के शब्द के समान दन्तमूल भाग से उच्चरित होने वाले स्वरपश्चाद्भावी वर्ण का अनुस्वार के रूप में उच्चारण करना चाहिये । यथा - वंन्श:, कंन्स: । तवर्ग के पञ्चम वर्ण नकार की अनुस्वार संज्ञा की तरह ही पवर्ग के पञ्चम वर्णवाली ध्वनि की मकार संज्ञा की जाती है । कवर्ग के पञ्चम अक्षर ङ की ध्वनि वाले वर्ण की गु संज्ञा है । यह गु संज्ञक वर्ण ह्रस्व से परे होने पर गुरु होता है तथा उच्चारण में ग से युक्त ङकार की तरह आभासित होता है । इस प्रकार यह विदित होता है कि जो वर्णविशेष नासिक्यभक्ति के हैं वे ही अनुस्वार मकार एवं गुंकार भेद से तीन तरह के माने गये हैं । नासिक्य उच्चारण के इन तीन भेदों में अपने-अपने आम्नाय उच्चारण के वैशिष्ट्य से याज्ञिक आचार्य सम्प्रदाय प्रचलन के अनुसार एक-एक का ग्रहण करते हैं । लौकिक व्यवहार में संस्कृत, प्राकृत में जिह्वामूलीय, दन्तमूलीय एवं ओष्ठमूलीय रूप से वैकल्पिक व्यवहार होता है ।

रङ्ग

विशुद्ध आकार के पश्चात् नकार के स्थान पर उच्चार्यमाण विशेष तरह का व्यञ्जन वर्ण ही रङ्ग कहलाता है । यथा — "स देवा एह वक्षति" । रङ्ग वर्ण नासिका से उत्पन्न होकर कांस्यपात्र के स्वर की तरह मृदु और द्विमात्रिक स्वर वाला होता है । प्रदेश विशेष में उत्पन्न होने से रंङ्गवर्ण पाँच तरह का होता है —

पञ्चरङ्गाः प्रवर्तन्ते घातनिर्घातवज्रिणः ।
अहीनश्च प्रहीणश्च आ ई ऊ ऋ निदर्शनम् ॥[18]

आचार्य माण्डूक्य ने रङ्ग के विषय में व्यवस्था दी है —

रक्तवर्णं यदा पश्येद् विवृत्या सह संस्थितम् ।
व्यञ्जनान्तं विजानीयाद् गोमाँ इति निदर्शनम् ॥[17]

अर्थात् विवृति के साथ रक्तवर्ण के दिखायी पड़ने पर उसे व्यञ्जनान्त मानना चाहिये ।

रङ्ग वर्ण के उत्पन्न होने पर पूर्व अक्षर को ग्रसित नहीं करना चाहिये अपितु दीर्घ स्वर का प्रयोग करके नासिक्य वर्ण जैसा आचरण करना चाहिये ।

रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन् नो ग्रसेत् पूर्वमक्षरम् ।
दीर्घस्वरं प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥[20]

यह रङ्ग वर्ण लोक वेद उभयत्र एक तरह का है । वैदिक प्रयोगों में तो दो स्वरों के मध्य में यह डकारवत् होता है । कहीं विलक्षण नासिकास्थानीय नकार होता है जो स्वर एवं व्यञ्जन दोनों के धर्मवाला वर्ण विशेष हो जाता है ।

नाद

नाद के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए ओझा जी ने घोष तथा अघोष भेद से दो रूपों में वर्णों का विभाजन किया है । घोष वर्ण बीस एवं अघोष तेरह हैं । घोष वर्णों में वर्ग के पञ्चम वर्ण अनुनासिक कहे जाते हैं इनमें हकार, वर्ग के तृतीय चतुर्थ एवं पञ्चम वर्ण नाद कहलाते हैं । हकार जब रेफ से संयुक्त होता है तो नाद संज्ञक हो जाता है, परन्तु रेफ से भिन्न वर्ण से संयुक्त होने पर वह नाद संज्ञक नहीं होता है —

हकारो रेफसंयुक्तो नादो भवति नित्यशः ।
द्वितीयेन यदाक्रान्तो न तु नादः कदाचन ॥[21]

नकार एवं मकार गुरुदशा में नाद कहलाते हैं, लघु होने पर अनुनासिक और संयोग तथा विसर्ग की स्थिति में नाद कहलाते हैं ।

नमो गुरू नादसंज्ञौ लघू चैवानुनासिकौ ।
संयोगौ च विसर्गौ च नादावेतौ प्रकीर्तितौ ॥[22]

बहुत से आचार्य भिन्न-भिन्न स्थितियों में नाद का पृथक् शिक्षण करते हैं। उनके कथन के वैशिष्ट्य पर ग्रन्थ में पूर्ण विचार किया गया है।

हुङ्कार

"हुं"आकार वाला वर्ण विशेष ऋग्वेद की शाखाओं में प्रसिद्ध है। वेदमन्त्रों के सस्वर पाठ की स्थिति में 'हुं' की ध्वनि का उच्चारण किया जाता है। इस हकार उकार एवं अनुस्वार को एक में सन्निविष्ट करके उच्चार्यमाण ध्वनि की "हुं" संज्ञा है।

अन्तःस्थ

स्वर तथा व्यञ्जन के मध्य में दिखायी पड़ने वाला वर्ण अन्तःस्थ संज्ञक होता है अर्थात् अ इ उ ऋ लृ आदि स्वर अस्पर्शसंज्ञक हैं तथा व्यञ्जन पूर्ण स्पर्शसंज्ञक होते हैं, परन्तु अन्तःस्थ संज्ञक वर्ण न तो पूर्ण स्पर्शवाले ही होते हैं और न ही स्पर्शसंज्ञक किन्तु मन्द स्पर्श वाले होने से वे अन्तःस्थ कहलाते हैं। अन्तःस्थ संज्ञक वर्ण ईषत्स्पृष्ट तथा दुःस्पृष्ट रूप से दो तरह के होते हैं। ईषत्स्पृष्ट में प्रथम कण्ठस्थानीय होतें हैं जो कि विवृत्तिचिह्न से युक्त रहते हैं। जैसा कि याज्ञवल्क्य का उपदेश है—

आकाशस्था यथा विद्युत् स्फुटिता मणिसूत्रवत्।
एषच्छेदो विवृत्तीनां यथा बालेषु कर्तरी ॥[23]

दुःस्पृष्ट कण्ठस्थानीय वर्ण उरोभाग से उद्‌भूत होने के कारण कण्ठ के स्थान विशेष से उत्पन्न समझा जाता है जो कि य व र ल तथा म न ण वर्णों के दिखायी देने पर ही स्पष्ट होता है। इस विषय में कात्यायन ने अपने प्रतिज्ञासूत्र में तथा याज्ञवल्क्य ने अपने ग्रनथ में इसकी व्यवस्था बतलायी है।

ऊष्मा

ऊष्म संज्ञक वर्णों के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये हैं। प्रथम मत में ह ह श ष स ह ह ये सात ऊष्मसंज्ञक वर्ण हैं आदि हकार औरस्य, द्वितीय जिह्वामूलीय एवं तृतीय उपध्मानीय स्वरूप वाला तथा चतुर्थ विसर्जनीय स्वरूप वाला है। कतिपय विद्वान् केवल विसर्ग स्वरूप हकार को अयोगवाह के रूप में स्वीकार करते हैं तथांपि समानक्रम होने के कारण इनका विसर्ग से स्वरूप भेद नहीं होता।

अन्य आचार्यों के विचार से ऊष्मा दो तरह की होती है एक तो स्वरादि या व्यञ्जनान्त होती है जिसे विसर्ग कहते हैं। द्वितीय ऊष्मा पूर्व में व्यञ्जनयुक्त तथा पश्चात् स्वरवर्णवाली होती है। इन दोनों लक्षणों के संयोग की दशा में वही ऊष्मा आठ प्रकार के विकारों को प्राप्त करती है। ओभाव, विवृति, श ष स, रेफ, जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय।

ओभावश्च विवृतिश्च श ष सा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण: ॥[24]

अन्य और विचारकों के अनुसार ऊष्मा नामक एक अव्यक्त तत्त्व है उसका विशेष वर्णों के साथ सान्निध्य होने के कारण पूर्वाङ्ग या पराङ्ग रूप में उच्चारण होने से तथा वर्णविशेष रूप में परिणमित होने से वहाँ दो तरह का विकार क्रम कार्य करता है ।

एक क्रम में तो अयोगवाहों को आश्रयस्थान का भागी समझना चाहिये, द्वितीय विकारक्रम में उच्चारण जब पूर्व उच्चरित वर्ण के रूप में होगा तब ऊष्मा के सभी स्थानों पर निपातपूर्वक उच्चरित होने से उसका परिणाम विसर्जनीय हकार के रूप में ही होगा नाना वर्णों के रूप में नहीं ।

इस प्रकार समीक्षाचक्रवर्ती जी ने विवृति, स्वरभक्ति, यम, अनुस्वार, रङ्ग, हुङ्कार, नाद, अन्त:स्थ एवं ऊष्मासंज्ञक नौ अयोगवाहों का वैज्ञानिक रीति से व्याख्यान प्रस्तुत किया है ।

अनन्तर आचार्यश्री ने वर्णस्वरप्रस्ताव प्रकरणों के अन्तर्गत स्वरों के भेदोपभेद का चिन्तन करते हुए वाक्य एवं पदों के प्रयोग हेतु स्वर सम्बन्धी नियमों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है ।

गुण प्रकरण के अन्तर्गत वाग्विज्ञान का विवेचन करते हुए समीक्षा-चक्रवर्ती जी ने मन, प्राण एवं वाक् तत्त्व में प्राण तत्त्व की ही वास्तविक सत्ता स्वीकार की है क्योंकि इसी प्राणतत्त्व से ये मन एवं वाक् उत्पन्न होकर उसी में प्रतिष्ठित रहते हैं ।

आध्वर्यव (शतपथ) श्रुति के अनुसार प्राण को ऋषि के रूप में स्वीकार किया गया है । यह प्राणतत्त्व ही तेजोमय होता हुआ वाक् रूप हो जाता है ।

आत्मा वाङ्मय, प्राणमय तथा मनोमय है । प्राणमय आत्मा कारणात्मा एवं कार्यात्मा रूप से दो तरह का होता है । कारणात्मा मुख्य प्राण है जो साक्षात् मन तथा वाक् रूप में आता है । कार्यात्मा प्राण, मन तथा वाक् को मध्यस्थ रखकर उसी से प्रादुर्भूत होता है । वाक् को वाक् प्राण इसलिए कहते हैं कि वह प्राणरूप होता हुआ वाक् छन्द हो जाता है ।

"अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" अर्थात् अग्नि वाक् बनकर मुख में प्रविष्ट हो गया । ऐतरेयोपनिषद् के इस मन्त्र के आधार पर आग्नेयी वाक् की स्थिति बनती है । यह अग्नि रूप प्राण भी कारणात्मा एवं कार्यात्मा भेद से दो तरह का होता है । प्रश्नोपनिषद् के —

"प्रजाकामो वै प्रजापतिस्तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते - रयिं च प्राणं च । एतौ मे बहुधा प्रजा: करिष्यत:" वचन से यह सिद्ध होता है कि प्राण ही अग्नि है तथा रयि शब्द सोम का वाचक है । यही दोनों 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' में कारणद्रव्य है इसलिए प्राण का अग्नि पद से कथन किये जाने से यह आग्नेयी वाक् प्राणमूलक है ।

कौषीतकि श्रुति के "प्रज्ञा वै इन्द्रः वायुः प्राणः" वचन से यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रज्ञा तथा वायु के विना वाक् की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। वाक् का मूल कारण वायु है। प्रज्ञा अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करके अक्षरों के विभाग द्वारा पद और वाक्य के रूप में वायु का विशकलन करती है।

कृष्णयजुर्वेद के अनुसार "वाग् वै पराच्य व्याकृता अवदत्। अर्थात् पराची वाक् अव्याकृता रूप में व्यवहृत होती थी इन्द्र के द्वारा वाणी के मध्यभाग का विच्छेद कर दिये जाने से यह विभक्त वाक् कहलाने लगी। इस तरह प्राणात्मक होने से भी वाक् का ऐन्द्री होना सिद्ध हो जाता है। अथवा एक अन्य विवेचन के आधार पर वाक् इन्द्रिय है। इन्द्रिय के बिना इन्द्र का सम्बन्ध ही नहीं बनता। अतः इन्द्रिय से सम्बन्धित होने के कारण वाक् ऐन्द्री कहलाती है। इन्द्र ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। इस इन्द्र प्राण से उत्पन्न होने के कारण यह वाक् ऐन्द्री होती हुई प्राणजन्य मानी जाती है। इस प्रकार आत्मा बुद्धि से सम्बन्ध स्थापित करता हुआ अर्थों को एकत्रित करके बोलने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है वह मन काया में स्थित अग्नि को आहत करता है, वह कायाग्नि वायु को प्रेरित करता है तब वायु ऊपर उठकर स्थान विशेष से टकराता हुआ वर्णों की उत्पत्ति का कारण बनता है। इस क्रम में अग्नि के व्यापार से वाक् की उत्पत्ति होती है। यथा —

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम्।

(पाणिनीपशिक्षा, ६-७)

इस तरह विभिन्न श्रुतियों के प्रमाण वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि प्राणतत्त्व ही रूपान्तर से वाक् रूप हो जाता है।

अनन्तर ओझा जी ने स्वरसमीक्षाप्रकरण के अन्तर्गत नौ प्रकार के स्वरों की व्यवस्था बतलायी है जो कि श्वास, नाद, विवार, स्थान, व्यक्ति, गेहम्, श्रुति, सवन तथा भागलक्षण के रूप में जाने जाते हैं। इन स्वरों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हुए स्वरूपतः इनके अवबोधार्थ पशु पक्षियों के स्वरों को भी वर्णित किया गया है। नारदीय वचन के अनुसार —

षड्जं रौति मयूरो गावो रम्भन्ति चर्षभम्।
अजा विरौति गान्धारं क्रौञ्ची नदति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः॥25

इन स्वरों के समुचित व्यवस्थापन हेतु आचार्य भरत एवं अन्य आचार्यों ने अपने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये हैं।

निष्कर्षतः यह विदित होता है कि लोक में व्यवहृत होने वाली भाषाओं का स्वर व्यञ्जन रूप से दो प्रधान वर्णविभाग किया गया है। प्रातिशाख्यकारादि आचार्य समानाक्षर एवं सन्ध्यक्षर रूप से स्वरों को दो भागों में विभाजित करते हैं। अकारादि ऋकारपर्यन्त स्वर समानाक्षर संज्ञक (समानमेकमक्षरं येषु) होते हैं। एकारादि औकारान्त सन्ध्यक्षररूप से जाने जाते हैं। नियमतः समानाक्षरादिसंज्ञक स्वरों को तीन भागों में विभाजित करना ही उचित प्रतीत होता है। (1) समानाक्षर, (2) स्वरव्यञ्जनोभयात्मक तथा सन्ध्यक्षर। ऋ एवं लृवर्ण को स्वरव्यञ्जनोभयात्मक रूप ही जानना चाहिये।

व्यञ्जन वर्ण भी स्पर्श, अन्तःस्थ तथा ऊष्म-संज्ञा के रूप में जाने जाते हैं ककारादि मान्त स्पर्शसंज्ञक हैं। यकारादि वान्त अन्तःस्थ तथा शकारादि वर्णचतुष्टय विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार आदि मिलकर आठ वर्ण ऊष्मासंज्ञक है ऋग्वेद प्रातिशाख्य का वचन है —

"उत्तरे अष्टावूष्माण:"[26]

स्पर्श वर्णों के उच्चारण के समय जिह्वा का तत्तद् स्थानों से स्पर्श होने के कारण स्पर्शसंज्ञा ऊष्म एवं स्पर्शसंज्ञक वर्णों के मध्य अन्तःस्थ वर्णों का पाठ होने से अन्तःस्थ संज्ञा तथा शकारादि वर्णों के उच्चारण के समय वायु में उष्णता के आधिक्य होने से उनकी ऊष्मा संज्ञा की जाती है। यह वर्णों का सामान्य विभाजन है।

पाणिनीय शिक्षा में पाँच रूपों में वर्णविभाग किया गया है —

वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तं निबोधत॥[27]

अर्थात् उदात्तादि स्वरभेद से, मात्रादि कालभेद से, कण्ठादिस्थानभेद से तथा आभ्यन्तर एवं बाह्यप्रयत्न भेद से वर्ण विभाग किया गया है।

यद्यपि पाणिनीय शिक्षा में स्वरों से ही अकारादि वर्णों का विभाग किया गया है तथापि अष्टाध्यायी में उदात्तादि संज्ञा विधायक सूत्रों से पहले निमेषादिकाल से नियन्त्रित ह्रस्वादि संज्ञाविधायक सूत्रों का उपदेश करने के कारण सर्वप्रथम काल से ही वर्णविभाग करना न्यायसंगत है।

एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम् ॥[28]

इस याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार अकारादि अक्षरों में काल की स्थिति चार रूपों में देखी जाती हैं । अर्धमात्राकाल, एकमात्राकाल, द्विमात्राकाल एवं त्रिमात्राकाल । इनमें व्यञ्जन अर्धमात्रिक होता है । स्वर एकमात्रिक, द्विमात्रिक एवं त्रिमात्रिक रूप में देखे जाते हैं जो कि क्रमश: ह्रस्व दीर्घ प्लुत रूप में व्यवहृत होते हैं । जैसा कि आचार्य पाणिनि ने ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुत:[29] सूत्र में ऊकाल शब्द का ही उपदेश किया है न कि उकाल का । याज्ञवल्क्य शिक्षा में एक स्थल पर मात्राकाल को तीन रूपों में विभक्त किया गया है —

निमेषो मात्राकाल: स्याद्, विद्युत्कालस्तथा परे ।
अक्षरात्तुल्ययोगाच्च मति: स्यात् सोमशर्मण: ॥[30]

उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित भेद से स्वर तीन प्रकार के माने गये हैं । ये उदात्तादि संज्ञायें अकारादि स्वरों के ही धर्म हैं जो कि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत रूप से अकारादि स्वरों का बोध कराते हैं इसलिए उदात्तादि भेद से अकारादि स्वरों का ही विभाग सम्भव है न कि व्यञ्जनों का । जैसा कि उच्चैरुदात्त:, नीचैरनुदात्त:, समाहार: स्वरित: आदि पाणिनीय सूत्रों में उपदिष्ट है । ये उदात्तादि संज्ञायें ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से तीन-तीन तरह की होकर नौ रूपों वाली हो जाती हैं, पुन: अनुनासिक तथा अननुनासिक भेद से ये अट्ठारह प्रकार की हो जाती हैं । लृकार की स्थिति दीर्घ के रूप में होने से वह बारह प्रकार का ही होता है तथा ए ऐ ओ औ में ह्रस्व का अभाव होने से ये भी बारह-बारह प्रकार के होते हैं । शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य में लृकार को भी दीर्घ रूप में मान्यता प्रदान करने से वह भी अट्ठारह प्रकार का होता है ।

वर्णाभिव्यक्तिप्रक्रिया के अन्तर्गत वायु को ही शब्द रूप में मान्यता प्रदान करने वाले शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि घट-पदादि शब्दों के उच्चारण की इच्छा से अन्त:करण में विद्यमान प्राणवायु कण्ठताल्वादि स्थानों पर टकराता हुआ शब्द रूप में परिणमित हो जाता है । वाक्यपदीयकार आचार्य श्री भर्तृहरि ने भी प्राणवायु को ही वर्णों का उपादान कारण स्वीकार किया है —

लब्धक्रिय: प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना ।
स्थानेष्वभिहतो वायु: शब्दत्वं प्रतिपद्यते ॥[31]

अर्थात् वक्ता के बोलने की इच्छा होने पर उसके द्वारा किये गये प्रयत्न से प्राणवायु में क्रिया उत्पन्न होती है और वही वायु कण्ठ-तालु आदि स्थानों से टकराकर शब्द उत्पन्न करती है ।

वस्तुत: श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य अकारादि वर्ण प्राणवायु के परिणाम नहीं हैं अपितु प्राण तथा बुद्धि में स्थित होकर अर्थावबोध कराने वाली एक ऐसी शक्ति है जो उसमें व्यवस्थित रूप से विद्यमान रहती है, वही कण्ठ, तालु आदि स्थानों से अकारादि रूपों में व्यक्त होती हुई क, ख आदि भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होती है ।

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता ।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते ॥[32]

इस प्रकार प्राण तथा बुद्धि में रहने वाली शब्द की शक्ति ही कण्ठ आदि स्थानों से व्यक्त होती हुई क, ख आदि भेदों का कारण बनती है ।

वर्णों के स्वरूप सम्पादन हेतु नाभिप्रदेश से जन्य वायु सर्वप्रथम जिस स्थान पर आघात करके क्रमण करती हुई वर्णों को उत्पन्न करती है वे वर्ण प्रक्रम रूप से अभिहित होते हैं । शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार वह प्रक्रम त्रिविध होता है ।

त्रीणि स्थानानि वर्णानामुर: कण्ठ: शिरस्तथा ।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के "वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसो: सन्धाने" वाचन के अनुसार कण्ठ तथा उर: प्रदेश के मध्य शब्दों की उत्पत्ति होती है कण्ठादि स्थानों से तो उसकी प्रतिध्वनि मात्र सुनाई पड़ती है ।

पाणिनीयादि शिक्षाग्रन्थों में अकारादि वर्णों के कण्ठताल्वादि आठ स्थान माने गये हैं —

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर: कण्ठ: शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥[33]

आधुनिक शब्दशास्त्रज्ञों के अनुसार 27 वर्णोच्चारणोपयोगी अंग माने गये हैं —

अन्नप्रणाली, स्वरयन्त्र, स्वरतन्त्री, काकल, अभिकाकल, श्वासप्रणाली, मुखविवर, अलिजिह्वा, नासिकाविवर, कण्ठ, श्वासमार्ग, कोमलतालु, मूर्धा, जिह्वा, कठोरतालु, वर्त्स, ऊर्ध्वदन्त, श्वासग्राहक, उत्तममार्ग (नासिकामध्य) नासिका, ऊर्ध्वोष्ठ, अधरोष्ठ, अधोदन्त, अधोवर्त्स, जिह्वाग्रभाग, मध्यजिह्वा, पश्चजिह्वा तथा जिह्वामूल । परन्तु इन सभी अंगों का कण्ठादि स्थानों में अन्तर्भाव होने मात्र आठ ही स्थान प्रधान होते हैं जैसा कि पूर्व में पाणिनीय शिक्षा द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

इस प्रकार समीक्षा-चक्रवर्ती पण्डितश्री ओझाजी ने वर्णसमीक्षा ग्रन्थ के अन्तर्गत वर्ण सम्बन्धी विविध विषयों पर सप्रमाण सारगर्भित चिन्तन प्रस्तुत किया है । इस ग्रन्थ में विद्यमान मौलिकताओं से इसकी उपादेयता स्वत: सिद्ध है । अत: यह "वर्णसमीक्षा" नामक ग्रन्थ न केवल वैयाकरण के लिए अपितु भाषाविज्ञान के अध्येताओं के लिए भी सङ्ग्रहणीय है ।

टिप्पणी —

1. वर्णसमीक्षा - पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर, 1991, पृष्ठ 1

2. अवयवपरिच्छेदो मात्रा। ध्वनिपरिच्छेदानां वर्णत्वमिति वर्णात्मिका परिच्छित्तिर्मात्रिका भवति। उच्चारणसामान्यान्मातृका। अपि वा जनन्यां मातृशब्दः प्रसिद्धः। जनयित्री हीयं वर्णमाला तत्तद्देशभाषाणामिति मातृकाख्यायते। पथ्यास्वस्ति, राजस्थानप्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर, 1969, पृष्ठ 21

3. व्याकरणमहाभाष्य- मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1964, पृष्ठ 116 प्रथम अध्याय-प्रथमपाद द्वितीय आह्निक

4. वर्णसमीक्षा - ब्रह्ममातृका पृष्ठ 3

5. वर्णसमीक्षा-ब्रह्मातृका पृष्ठ 3-4

6. वर्णसमीक्षा - रुद्रमातृका पृष्ठ 9

7. वर्णसमीक्षा - होडाचक्र (हीनमात्रिका) पृष्ठ 15

8. अष्टाध्यायी - 4.1.49

9. अष्टाध्यायी - 4.1.49 सूत्रस्थ वार्तिक

10. वराहमिहिरकृत बृहज्जातक

11. वर्णसमीक्षा - होडाचक्र (हीनमात्रिका) पृष्ठ 15

१२ वर्णसमीक्षा - मातृका विचार पृष्ठ 22

13. वर्णसमीक्षा - स्वरभक्ति प्रकरण पृष्ठ 28

14. वर्णसमीक्षा - यम प्रकरण.पृष्ठ 35

15. पाणिनीयशिक्षा-22

16. श्लोकसिद्धान्तकौमुदी-संज्ञाप्रकरण, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1982, पृष्ठ 7

17. पाणिनीयशिक्षा- 23

18. वर्णसमीक्षा - रङ्ग प्रकरण पृष्ठ 50

19. वर्णसमीक्षा - रङ्ग प्रकरण पृष्ठ 49

20. पाणिनीयशिक्षा-27

21. वर्णसमीक्षा - नाद प्रकरण पृष्ठ 53

22. वर्णसमीक्षा - नाद प्रकरण पृष्ठ 53

23. वर्णसमीक्षा - अन्तःस्थ प्रकरण पृष्ठ 57

24. पाणिनीयशिक्षा-14

25 शिक्षासंग्रह-नारदीय शिक्षा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1989 पृष्ठ 340

26. ऋग्वेदप्रातिशाख्य-पटल 2 सूत्र 10

27. पाणिनीयशिक्षा-10

28. शिक्षा संग्रह-याज्ञवल्क्य शिक्षा 13 पृष्ठ 2

29. अष्टाध्यायी 1.2.27

30. शिक्षासंग्रह-याज्ञवल्क्य शिक्षा 8 , पृष्ठ 2

31. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड कारिका - 108

32. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड - कारिका, 117

33. पाणिनीयशिक्षा-13

सृष्टि का उद्भव : अपरवाद, आवरणवाद तथा अम्भोवाद के सन्दर्भ में

1.1 पृष्ठभूमि : ऋग्वेद का नासदीय सूक्त

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की प्रथम दो ऋचाओं में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ होने से पूर्व (1) न असत् था न सद् था (2) न रजस् था (3) न व्योम था (4) न व्योम से परे कुछ था (5) क्या आवरण था ? कहाँ था किसके सुख हेतु था ? (6) क्या गहन अम्भस था ? (7) न मृत्यु थी न अमृत (8) न दिन न रात का कोई चिह्न (9) बिना वायु वह एक अपनी ही शक्ति से प्राणन कर रहा था, उसके अतिरिक्त और कुछ भी न था।[1] आगे इसी सूक्त में कहा गया है कि (10) देव भी सृष्टि के बाद में अस्तित्व में आये तथा (11) यह विविध सृष्टि वस्तुत: कहाँ से आयी ?[2] दूसरी ओर पुरुषसूक्त के सोलहवें मन्त्र में कहा गया है कि देवताओं ने यज्ञ से यज्ञ सम्पादित किया जो कि प्रथमधर्म था तथा वे महिमाशाली होकर उस स्वर्ग में गये जहाँ (12) पूर्ववर्ती साध्य देव हैं।[3]

1.2 पण्डित ओझा जी द्वारा प्रतिपादित 12 वाद तथा सिद्धान्तपक्ष —

नासदीयसूक्त तथा पुरुषसूक्त के उपर्युक्त वक्तव्यों के आधार पर पण्डित मधुसूदन ओझा ने यह निष्कर्ष निकाला कि वैदिककाल में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बारह मत थे जिन्हें उन्होंने क्रमश: (1) सदसद्वाद, (2) रजोवाद (3) व्योमवाद (4) अपरवाद (5) आवरणवाद (6) अम्भोवाद (7) अमृतमृत्युवाद (8) अहोरात्रवाद (9) ब्रह्मवाद अथवा सिद्धान्तवाद (10) देववाद (11) संशयोच्छेदवाद तथा (12) विज्ञानेतिवृत्तवाद नाम दिया। इनमें नवां ब्रह्मवाद सिद्धान्तपक्ष है, किन्तु शेष वाद भी पूर्वपक्ष नहीं हैं। यदि सदसद्वाद, रजोवाद आदि को ब्रह्मवाद-निरपेक्ष रूप में लें तो वे अपूर्ण हैं किन्तु, ब्रह्मवाद के साथ जुड़कर वे भी सृष्टि की गुत्थियाँ सुलझाने में सहायक होते हैं; अत: जहाँ इन मतों का खण्डन है उन अंशों को ब्रह्मवादनिरपेक्ष समझना चाहिये तथा जहाँ वादों का मण्डन है वहाँ उन अंशों को ब्रह्मवादसापेक्ष समझना चाहिये।

1.3 श्रुति में भिन्न-भिन्न वादों का खण्डन-मनन —

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन मतों के खण्डन-मण्डन परक वाक्यों की ऐसी संगति लगाने का आधार क्या है। श्रुति-साहित्य में इन मतों के खण्डनपरक तथा मण्डनपरक वाक्य ही नहीं

---

1. ऋग्वेद,10.129.1-2
2. वही,10.129.6
3. वही,10.90.16

मिलते अपितु इन मतों का विस्तृत विवेचन भी मिलता है । उदाहरणत: प्रथम सदसद्वाद को लें तो स्वयं शतपथब्राह्मण में एक ओर सृष्टि के प्रारम्भ में असत् की स्थिति बतलायी जा रही है, दूसरी ओर ताण्ड्यब्राह्मण में सत् की स्थिति बतलाकर असत् की स्थिति का निषेध किया जा रहा है - 'असद्वा इदमग्र आसीत्'[4] और 'सदेवेदमग्र आसीत् । कथं त्वसत: सज्जायेतेति' ।[5] यही नहीं शतपथब्राह्मण में आगे चलकर सत् असत् दोनों के अस्तित्व का खण्डन है — नैव वा इदमग्रेऽसदासीन्नैव सदासीतिति ।[6] पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने अपनी हिन्दी-गीता-विज्ञान-भाष्य-भूमिका के द्वितीय खण्ड के "ग" विभाग में दशवादरहस्य पर लिखते समय उपर्युक्त सभी वादों के पक्ष में श्रुतियों के प्रमाण एकत्र कर दिये हैं, अत: उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है ।

1.4 पण्डित ओझा की वेदों के प्रति ऐतिहासिक विकास की दृष्टि —

पण्डित मधुसूदन जी ओझा वेदों को पौरुषेय मानते थे तथा उन्होंने पश्चिमी विद्वानों के समान ही वेदों में विचार का क्रमिक विकास भी माना है । उनका कहना है कि वेद के निर्माण के पूर्व भी एक संस्कृति थी जिसे हम आज की भाषा में वैज्ञानिक संस्कृति कह सकते हैं । इस संस्कृति के मानने वाले ही वे साध्यदेव हैं जिनका उल्लेख हमने ऊपर पुरुषसूक्त में बताया है । इन साध्यदेवों ने सृष्टि के उद्भव के सम्बन्ध में जो चिन्तन किया उसका समावेश सदसद्वाद आदि में हो गया किन्तु नासदीयसूक्त तक आते-आते वैदिक ऋषि ने यह पाया कि ये सभी वाद सृष्टि का उद्भव किसी न किसी ऐसे तत्त्व से मान रहे हैं जो स्वयं सृष्टि का अंग है जबकि सत्य यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व सृष्टि का कोई अंग भी कैसे अस्तित्व में आ सकता है ? अत: नासदीयसूक्त ने इन सब वादों का खण्डन किया तथा सिद्धान्तपक्ष ब्रह्मवाद की स्थापना की । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शेषवाद सर्वथा निरर्थक हैं । वे सब तत्त्व भी जिनका वर्णन इन वादों में है सृष्टि की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं ।

1.5 पण्डित ओझा का सम्बद्ध-साहित्य

पण्डित ओझा ने इन सभी वादों पर न केवल अपने ग्रन्थ "दशवादरहस्य" में संक्षेप में प्रकाश डाला बल्कि एक-एक वाद पर पृथक-पृथक् विचार करते हुए अलग-अलग ग्रन्थ भी लिखे जिनमें विज्ञानेतिवृत्तवाद, अमृतमृत्युवाद तथा दैववाद नामक तीन ग्रन्थ तो हमारे देखने में नहीं आये किन्तु

---

4. शतपथ 6.1.1.1
5. ताण्ड्यब्राह्मणोपनिषद् 6/2
6. शतपथ.10.4.1

शेष सभी वादों पर ग्रन्थ मुद्रित रूप में उपलब्ध हैं।[7] ओझा जी के जीवनकाल में ही प्रकाशित होने वाले अहोरात्रवाद (प्रकाशन वर्ष 1926) के मुखपृष्ठ पर बारह ग्रन्थों की सूची से यह अनुमान किया जा सकता है कि इन तीन वादों पर भी उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे थे जिन्हें मुद्रित न करवा पाने का दुःख उनके पौत्र पण्डित प्रद्युम्न शर्मा ओझा ने सन् 1952 में व्योमवाद-अपरवाद-आवरणवाद-अम्भोवाद नामक ग्रन्थचतुष्टय की भूमिका में अभिव्यक्त किया है। निश्चय ही इन तीन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों की खोज पूरे मनोयोग से ही होनी चाहिये। इस बीच शेष उपलब्ध ग्रन्थों को ही पुनः प्रकाशित करवाने का कार्य शीघ्रातीशीघ्र कर लेने योग्य है क्योंकि ये ग्रन्थ भी आज बाजार में उपलब्ध नहीं हैं। इस दिशा में श्री कर्पूरचन्द जी कुलिश सिद्धान्त पक्ष के ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धान्त को पुनः प्रकाशित करवाकर कार्य का श्रीगणेश भी कर चुके हैं। यह ग्रन्थ डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल की अंग्रेजी भूमिका तथा ओझाजी के शिष्य महामहोपाध्याय गिरधरशर्म्मा जी की संस्कृत टीका सहित बनारस से पहले प्रकाशित हुआ था जिस संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद अब गिरधरशर्म्मा जी के ही सुपुत्र पण्डित देवीदत्त जी शर्मा ने किया है जो राजस्थान पत्रिका प्रकाशन के रूप में प्रकाशित हुआ है।

1.6 अपरवाद, आवरणवाद तथा अम्भोवाद का
पं. अनन्तराम शर्माकृत सटिप्पण हिन्दी अनुवाद —

श्री कर्पूरचन्द जी कुलिश ने ही ओझा जी के शिष्य स्वामी सुरजनदास जी के शिष्य पण्डित अनन्तराम शर्मा से तीनवाद-अपरवाद, आवरणवाद तथा अम्भोदवाद का हिन्दी अनुवाद तो करवाया ही है, विद्वान् अनुवादक ने अपने अनुवाद के अन्त में महत्त्वपूर्ण टिप्पण भी जोड़ दिये हैं। इन तीनों ग्रन्थों की छाया प्रतिलिपि इस निबन्ध के लेखक के पास है। आशा है ये शीघ्र ही प्रकाशित हो जायेंगे। प्रस्तुत निबन्ध में इन तीनों ग्रन्थों की विषयवस्तु पर ही क्रमशः संक्षिप्त विचार किया जायेगा। किन्तु उससे पूर्व इन सभी वादों के सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिये कि सिद्धान्तवाद तथा शेषवादों के बीच एक विभाजक रेखा दिक्-देश-काल की है। सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपाद्य ब्रह्म

7(अ) सदसद्वाद (सम्पा. आद्यादत्त ठक्कुर), लक्ष्मणपुर, 1926
(आ) अहोरात्रवाद (सम्पा. आद्यादत्त ठक्कुर), लखनऊ, 1926
(इ) संशयतदुच्छेदवाद (सम्पा. आद्यादत्त ठक्कुर), लक्ष्मणपुर, 1927
(ई) व्योमवाद-अपरवाद-आवरणवाद-अम्भोवाद (सम्पा. पद्मलोचन शर्मा) जयपुर (द्वितीयावृत्ति), वि.सं. 2008
(उ) दशवादरहस्य (सम्पा. पद्लोचन शर्मा) जयपुर (द्वितीया आवृत्ति), वि.सं. 2008
(ऊ) रजोवाद (सम्पा. वासुदेवशरण अग्रवाल) वाराणसी, अगस्त 1964
(ए) ब्रह्मसिद्धान्त, पं. गिरधरशर्मा चतुर्वेदी कृत संस्कृत टीका के पं. देवीदत्त शर्मा चतुर्वेदीकृत हिन्दी अनुवाद सहित राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर, 1990

दिक्-देश-कालाद्यनवच्छिन्न है तथा शेषवादों के प्रतिपाद्य सत्, असत् आदि दिक्-देश-काल से अवच्छिन्न हैं।

1.7 सिद्धान्तपक्ष तथा अन्यवाद : दिक्-देश-काल के सन्दर्भ में

सद्वाद असद्वाद आदि शब्दों में सद्, असत् का भी एक पारिभाषिक अर्थ है जो ब्राह्मण-ग्रन्थों में दिया गया है। उदाहरणत: असत् का अर्थ है ऋषि-प्राण — तदाहु: किं तदसदासीदिति। ऋषयो वाव-तेऽग्रे असदासीत् तदाहु: के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषय:।[8] इसी प्रकार सत् तथा असत् दोनों के न होने का पारिभाषिक अर्थ है - मन का होना; क्योंकि मन न सत् है न असत्-नैव ही सन्मनो नैवासत्।[9] किन्तु यदि इन पारिभाषिक अर्थों में न जाकर इन शब्दों का सीधा अर्थ लिया जाये तो इन सभी वादों का दिक्-देश-काल से सम्बन्ध जुड़ेगा।

1.8 दशवादों की दिक्-देश-कालावच्छिन्नता

सद् का सीधा सम्बन्ध दिक्-देश-काल तीनों से है क्योंकि किसी पदार्थ के अस्तित्व का अर्थ ही है कि वह पदार्थ देश के किसी बिन्दु पर किसी काल में हैं। बिना दिक्-देश-काल के हम पदार्थ की कल्पना ही नहीं कर सकते। असत् का दिक्-देश-काल से निषेधात्मक सम्बन्ध है। किसी पदार्थ के न होने का अर्थ है — उसका किसी दिक्-देश-काल में न होना। रजस् गति का वाचक है। गति का सम्बन्ध दिक् से है। गति का अर्थ है कि कोई पदार्थ देश के एक बिन्दु को छोड़कर देश के दूसरे बिन्दु से अपना सम्बन्ध स्थापित कर ले। व्योम तो स्वयं देश का ही नाम है। अपर का अर्थ है जिस दिक्-देश-काल में एक पदार्थ स्थित है उसी दिक्-देश-काल में स्थित पदार्थ। आवरण देश को बताता है। अम्भ: का पर्यायवाची है अप्। अप् का अर्थ है सर्वदेशव्यापी। मृत्यु तथा अमृतव का सम्बन्ध काल से है तथा अहोरात्र भी काल से ही जुड़े हैं। देवों को हम अमर कहते हैं किन्तु श्रुति ने उनके लिये "अर्वाक्" शब्द का प्रयोग करके यह घोषित कर दिया कि देव भी कालातीत नहीं है।[10] इस प्रकार दिक्-देश-काल की परिधि में ही सोचने का अभ्यस्त हमारा मन जब सृष्टि की उत्पत्ति किसी भी दिक्देशकालावच्छिन्न तत्त्व से नहीं खोज पाता तो संशय की भाषा में घोषित कर देता है कि पता नहीं इस सृष्टि के अध्यक्ष को भी यह मालूम है या नहीं कि यह सृष्टि कहाँ से आयी[11]।

---

8. शतपथ.6.1.1.1
9. शतपथ 10.5.3
10. ऋग्वेद,10.129.6
11. वही,10.129.7

1.9 सिद्धान्तपक्ष का ब्रह्म दिक्-देश-कालाद्यनवच्छिन्न

यह दिक्-देश-काल की सीमा के अन्दर रहकर सृष्टि के उद्‌भव को खोजने का इतिहास है जो इन वादों में अभिव्यक्त हो रहा है। सिद्धान्तपक्ष जब ब्रह्म का प्रतिपादन करता है जो कि दिक्-देश-काल की सीमा के बाहर है तब ही हमारी जिज्ञासा की तृप्ति होती है किन्तु ब्रह्मतत्त्व केवल दिक्-देश-काल से परे ही नहीं है, दिक्-देश-काल में व्याप्त भी है जैसा कि पुरुष सूक्त में कहा गया है - स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।[12] इसीलिये ब्रह्मवाद में दिक्कालाद्यवच्छिन्न सद्वाद आदि का निराकरण नहीं है प्रत्युत उनका समावेश है । यदि सद्वाद आदि का निराकरण अभिप्रेत होता तो न श्रुति और न पण्डित ओझा उनका इतना विस्तृत वर्णन करते । ब्रह्मवाद के साथ सद्वाद आदि का समन्वय ही विद्या से अविद्या का समन्वय है जिसे आज की भाषा में धर्म से विज्ञान का समन्वय कहा जा सकता है ।

अपरवाद

2.1 अपरवाद का अर्थ

श्रुति में अपरवाद के समर्थक अनेक वाक्य हैं ।[13] अपर का अर्थ है जो पर नहीं है अर्थात् स्व अथवा स्वयम् । सृष्टि के उद्गम खोजने वालों में एक मत था कि सृष्टि का मूल किसी पर में नहीं बल्कि स्वयं सृष्टि में ही है । ओझा जी ने अपरवाद का वर्णन स्वतन्त्र रूप में इसी नाम के ग्रन्थ में करने के अतिरिक्त दशवादरहस्य नामक ग्रन्थ में भी इस वाद पर तीन श्लोक लिखे हैं तथा वागम्भृणीसूक्त की 5 ऋचाएँ उद्धृत की हैं । अपरवाद ग्रन्थ में (1) लोकायतवाद, (2) परिणामवाद, (3) यदृच्छावाद, (4) नियतिवाद तथा (5) प्रकृतिवाद शीर्षकों के अन्तर्गत अपरवाद का वर्णन है ।[14] अपरवाद का इस ग्रन्थ में एक दूसरा नाम स्वभाववाद भी दिया है । इन सभी वादों के मूल में एक बात अवश्य है कि ये सभी सृष्टि का मूल सृष्टि के बाहर के किसी तत्त्व को न मानकर सृष्टि के भीतर ही सृष्टि का मूल खोजते हैं ।

---

12. ऋग्वेद,10.90.1

13. वही,6.47.15; 10.15.85 तथा 8.27.14

14. स्वभावमेतं परिणाममेके प्राहुर्यदृच्छां नियतिं तथैके ।
स्यात्पौरुषी वा प्रकृतिस्तदित्थं स्वभाववादस्य गतिश्चतुर्धा ॥
- अपरवाद लोकायवादाधिकरण,6

2.2 लोकायत मत

लोकायत मत है कि यह सृष्टि वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी से बनी दृष्टिगोचर होती है, अत: ये भूत ही इसके कारण हैं; इन्हीं से चेतना उत्पन्न हो जाती है। मरणान्तर कुछ शेष नहीं रहता।[15] बृहस्पति तथा उनके शिष्य चार्वाक इस मत के समर्थक थे। दशवादरहस्य ग्रन्थ में वाक्सूक्त के उद्धृत करने का भी प्रयोजन इसी लोकायमत का समर्थन है क्योंकि वेद में वाक्‌भूत का पर्यायवाची है।

2.3 परिणामवाद

भौतिक पदार्थों में स्वभावत: भिन्न-भिन्न परिणमन होते हैं जिनके कारण यह विविध प्रकार की सृष्टि बन जाती है।[16] पराशर का मत था कि इन विविध परिणामों का स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं। वह पुरुषार्थवाद का विरोधी था।[17]

2.4 यदृच्छावाद

यदृच्छावाद के अनुसार सब कुछ आकस्मिक है। उसका कारण ढूंढना व्यर्थ है। दो चीजों को बारम्बार साथ-साथ देखने से कार्यकारण की कल्पना हम कर लेते हैं। मिट्टी से पानी बन जाता है, पानी से मिट्टी - ऐसी स्थिति में किसे कारण कहें किसे कार्य ? सुख-दु:ख अकारण काकतालीय न्याय से प्राप्त होते रहते हैं। बादलों का घिर आना, आँधी का चलना आदि सभी कुछ तो अकस्मात् चाहे जब चाहे जहाँ अकारण ही होता रहता है। फिर कारण की खोज का क्या अर्थ है ?[18]

2.5 नियतिवाद

नियतिवादी पूरण काश्यप आदि का कहना है कि यदृच्छावाद नहीं है अपितु तिल आदि नियत पदार्थों से ही तैल आदि नियत पदार्थों की उत्पत्ति इस बात की सूचक है कि सब कुछ नियत है। सृष्टि का कारण कुछ भी हो वह नियति के अनुसार ही कार्य को जन्म दे सकता है, अत: नियति ही मुख्य है।[19]

---

15. एभ्यश्चतुर्भ्यः सहितेभ्य एव प्रोत्थाय विज्ञानघनः कदाचित्
तान्येव चान्वेष विनश्यतीति न प्रेत्य संज्ञास्ति गतिश्य नास्ति।
वही,3

16. स्वभावतः सर्वमिदं प्रजायते - वही, परिणामवादाधिकरण,3

17. प्रत्यब्रुवरन पौरुषवादमेषां मत स्वभावोऽनतिलंघनीयः - वही,5

18. न कारणं कार्यमिहास्ति तस्मादिदं कुतो नेति न शंकनीयम्।
अतर्कितं भावय यद्यथेदं यदृच्छायैवेदमुदेति स्वम्॥
- अपरवाद, यदृच्छावादाधिकरण,5

19. रूपेण सर्वे नियतेन भावा भवन्ति तस्मान्नियतिं पृथग्वत्।
मन्यामहे कारणमीश्वरो वाणुर्वेतरो वा नियतेर्वशे स्युः॥
- वही, नियतिवादाधिकरण,3

2.6 प्रकृतिवाद

आसुरि तथा पंचशिख प्रकृतिवादी सांख्यमतानुयायी हैं । उनके अनुसार पुरुष तथा गुणों का अयुतसिद्ध सम्बन्ध है । कर्तृत्व गुणविशिष्ट पुरुष में होता है । वस्तुतः कर्तृत्व प्रकृति में ही है, पुरुष में नहीं ।[20] अहंकारवश पुरुष अपने में कर्तृत्व मान लेता है । गुणों में काल सम्मिश्रण करता है, स्वभाव परिणमन करता है, तथा कर्म सृष्टि करता है, ये काल, स्वभाव तथा कर्म गुण के हैं, पुरुष के नहीं । इन गुणों में सत्त्व पुरुष के निकटतम है । सत्त्वगुण स्थिति का हेतु है, रजस् प्रवृत्ति का तथा तमस् निवृत्ति का ।[21] जब तक ये गुण साम्यावस्था में रहते हैं, प्रकृति कहलाते हैं, विषमता के प्राप्त होने पर ये ही गुण महत् कहलाने लगते हैं । महत् से अहंकार उत्पन्न होता है, जिसके तीन भाग हैं — द्रव्य, क्रिया तथा ज्ञान । द्रव्य पदार्थ है, क्रिया बल तथा ज्ञान प्रज्ञा । सत्त्व द्रष्टा है, तम दृश्य; रजस् इन दोनों को जोड़ने वाला सूत्र । अहंकार से त्रिविध सृष्टि होती है — रजोगुण से इन्द्रिय, अथवा तेज, अथवा प्राण, तमोगुण से भूत तथा सत्त्व से देवसृष्टि । भूतसर्ग हैं - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध । इन्द्रियसर्ग हैं — वाक्, कर, पाद, उपस्थ, पायु श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, दृक् तथा त्वचा । इनमें प्रथम पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, अन्तिम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ । दिक् श्रुति का, वायु त्वचा का, रवि दृष्टि का, प्रचेता जिह्वा का अश्विनी घ्राण का अग्नि वाक् का, इन्द्र कर का विष्णु पाद का प्रजापति उपस्थ का तथा मित्र पायु का देवता है । विकल्प से प्रचेता के स्थान पर वरुण, अश्विनी के स्थान पर पृथ्वी, अग्नि के स्थान पर बृहस्पति तथा दिक् के स्थान पर व्योम को रखा जाता है । अन्य मतानुसार भूत पाँच हैं तो इन्द्रियों भी पाँच ज्ञानेन्द्रिया ही हैं तथा उनके देवता भी अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा दिशा - ये पांच ही हैं । द्रव्य से उत्पन्न शक्तियुक्त भूत है, ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति से युक्त इन्द्रियाँ हैं । शरीर की लोमत्वगादि में कुमाराग्नि काम कार्य कर रही है, इन्द्रियों में तैजस देवता । कौमार सर्ग मर्त्य है, तैजस् अमृत । अधिप्रज्ञा से 5 देव, अधिप्राण से 5 इन्द्रियाँ तथा अधिभूत से पंचतन्मात्रायें होती हैं । पंचतन्मात्राओं में क्रमशः एक-एक की वृद्धि से पंच महाभूत बनते हैं । शब्द से आकाश, शब्द तथा स्पर्श से वायु, शब्द, स्पर्श तथा रूप से अग्नि; शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस से जल एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से पृथ्वी होती है ।

सर्ग नौ हैं — महान्, अहंकार, तन्मात्र, ऐन्द्रियक, वैकारिक, महाभूत, मुख्य, तिर्यक् तथा सुकृत । इनमें मुख्य का अर्थ है स्थावर, जो छह हैं — तृण, गुल्म, वीरुत (पृथ्वी पर फैलने वाली), लता, (पेड़ों पर चढ़ने वाली), औषधि (फलपाक के साथ ही समाप्त हो जाने वाली) तथा वनस्पति (पुष्प सहित) । तिर्यक् एक शफवाले,दो शफवाले, पंचनख, पंकों वाले - इस प्रकार चार हैं । सुकृत मनुष्य हैं ।

---

20. लोके हि सर्वत्र गुणैः प्रकृत्या कर्माणि सर्वाण्यवशं क्रियन्ते ।
- वही,प्रकृतिवादाधिकरण,6

21. हेतुः स्थितेः सत्त्वमथो रजस्तद्धेतुः प्रवृत्तौ च तमौ निवृत्तौ ।
- वही,10

सृष्टि का संचरक्रम यह है — प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से मात्रा, तथा मात्रा से अनुग्रह सर्ग उत्पन्न होता है। अनुग्रहसर्ग से धातुसर्ग होता है। धातुसर्ग का अर्थ है शरीर-घटक त्वक् रुधिरादि। प्रतिसंचर अर्थात् प्रलय का क्रम इसके विपरीत है।[22]

2.7 वाक् तथा अपरवाद

अपरवाद ग्रन्थ में दिये इस वर्णन के अतिरिक्त दशवादरहस्य में यह कहा गया है कि जल का भी कारण वाक् ही है जो कि जगत् का मूल है जैसा कि वाक् सूक्त में घोषित किया गया है कि वाक् ही जगत् को उत्पन्न करती है। वाक् सूक्त की वाक् अपरव्योम से जुड़ी है क्योंकि अपरव्योम ही निरुक्त है; पर-व्योम तो अनिरुक्त है। अपरव्योम से जुड़ा होने के कारण वाकसिद्धान्त भी अपरवाद में ही समाविष्ट हो गया।[23]

2.8 अपर का अपरत्व

अपरवाद के उपर्युक्त सभी प्रकार सृष्टि को मूल सृष्टि के भीतर ही खोज रहे हैं, किसी पर, (अव्यय) पुरुष में नहीं, अतः ये सभी अपरवाद में समाहित हैं।

आवरणवाद

3.1 आवरण : वयोनाध अथवा छन्द

वयुन पदार्थ है, वय उस पदार्थ का आन्तरिक रूप है, वयोनाध उसकी सीमा है। वय प्राण है, छन्द वयोनाध। छन्द भी प्राण ही है। शतपथब्राह्मण में कहा गया है — प्राणा वै देवा वयोनाधाः। प्राणैर्हीदं सर्व वयुनं नदवम्।[24]

3.2 प्राण का महत्व

प्राण को ऋग्वेद में गोपा कहा गया है।[25] तित्तिरि के अनुसार गोपा बहिःप्राण है[26], ऐतरेय के अनुसार गोपा अन्तःप्राण है।[27] ऐतरेय में प्राण की महिमा विस्तार से वर्णित है। प्राण कभी शयन

---

22 य संचरस्तत् प्रतिसंचारात्पुनर्लयः प्रकृत्यामखिलस्य जायते
- अपरवाद,प्रकृतिवादाधिकरण,36

23. वागेव सा व्योमपदप्रसिद्धा व्योमा परं तत् परमं च भिन्नम्।
तत्रापरं व्योम निरुक्तमेतद् वागाम्भृणी या खलु सास्ति मर्त्या ॥
-दशवादरहस्य,अपरवाद,3

24. शतपथब्राह्मण,8.2.2

25. ऋग्वेद,1.164.31

26. तैत्तिरीय,4.7.1

27. ऐतरेय,2.1.6

नहीं करता । यह आवागमन करता ही रहता है । आकाश जैसे बृहती प्राण से व्याप्त है, उसी प्रकार समस्त भूत प्राणों से आवृत है । यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि आकाश से पृथिवीपर्यन्त कुछ भी प्राणों के बिना क्रिया नहीं कर सकता ।[28] छान्दोग्योपनिषद् में उषस्ति चाक्रायण[29] तथा कौषीतक ब्राह्मणारण्यकोपनिषद्[30] में दिवोदास काशिराज राजर्षि प्रतर्दन ने प्राणों की महिमा बताई है । भूत प्रज्ञा में टिके हैं तथा प्रज्ञा प्राणों में टिकी है । न प्राण साधु कर्म से बढ़ता है न कलुषकर्म से हीन होता है ।[31] प्राण ही सब इन्द्रियों की प्रेरणा है ।

3.3 पांच भाव

छन्द वस्तु की सीमा बांधता है । छन्द ही आच्छादन भी है । धर्म का भेद तथा आवरण का भेद ही वस्तु को वस्त्वन्तर से भिन्न करता है । वस्तु के धर्म हैं वय तथा वयोनाध । वय और वयोनाध ही वस्तु का स्वरूप है । जिन पाँच भावों के कारण वस्तु-भेद होता है, वे पाँच भाव हैं — (1) आलम्बन भाव, (2) प्राकृत भाव, (3) भूत भाव, (4) अनुभाव तथा (5) व्यभिचारिभाव ।[32]

3.4 आलम्बन तथा प्राकृतभाव

(1) देव, मनुष्य, पितर तथा असुर प्राण संहत होकर वस्तु का आलम्बन भाव बनते हैं । (2) इनके तारतम्य से प्राकृतभाव बनते हैं । मनुष्य, तुच्छ पितर विरक्त, असुर उग्र तथा देव दयावान् होते हैं ।[33] इन्हीं प्रकृतियों के मेल से 16 प्रकृतियां बनती हैं । (1) इनमें सत्त्वप्रधान सात प्रकृत्तियाँ हैं — ब्रह्मा, ऋषि, गन्धर्व, कुबेर, इन्द्र, यम तथा वरुण (2) रजःप्रधान छह प्रकृतियाँ हैं — राक्षस पिशाच असुर प्रेत सर्प और पक्षी । (3) तमःप्रधान तीन प्रकृतियां हैं — मत्स्य, पशु तथा वृक्ष । देवशरीर सत्त्व-प्रधान, मनुष्यशरीर रजःप्रधान तथा पशुशरीर तमःप्रधान है । स्वभाव तीन प्रकार का है — जन्म, कर्म तथा वर्त से उत्पन्न । जन्म स्वभाव से बलवत्ता है । कर्मज तथा व्रतज स्वभाव से दुर्बल हैं ।[34]

---

28. यजुर्वेद,1.7.14
29. छान्दोग्य,1.11
30. कौषीतकब्राह्मणारण्यकोपनिषद्,3
31. प्राणो न भयानिह साधुकर्म्मणा न वा कनीयात् कलुषेण कर्मणा । - आवरणवाद,प्राणव्याख्या,11
32. आवरणवाद,छन्दोव्याख्या,9
33. देवा मनुष्याः पितरो सुरा वा संहत्य चालम्बनतां व्रजन्ति
तत्तारतम्यात् प्रकृतिर्विभिन्ना तुच्छामनुष्याः पितरो विरक्ताः
अथासुरी सम्पदिहोग्रकर्मा दैव्यानृशंस्यं किल सम्पदा स्यात् ॥
- आवरणवाद,छन्दोव्याख्या,12-13
34. स्वभाव एष त्रिविधः प्रवृत्तः स्याज्जन्मकर्मव्रतधारितत्वात्
स्वतस्तु योऽभूत्सहजः समुख्यः संस्कारसंकल्पवशात्परौ द्वौ ॥
- वही,18

3.5 छन्द तथा संस्कार

संस्कार से निष्पन्न बल छन्दों से संकेतित होते हैं। छन्दों का स्वरूप निम्न तालिका से स्पष्ट होता है।

छन्द	सम्बद्ध धर्म	सम्बद्ध देव	सम्बद्ध वर्ण	अक्षर	उपनयन की आयु
गायत्री	ब्रह्मवर्चस्	अग्नि	ब्राह्मण	आठ	आठ
उष्णिक्	आयु				
अनुष्टुप्	स्वर्ग				
बृहती	श्री-यश				
पंक्ति	यज्ञ				
त्रिष्टुप्	इन्द्रियवीर्य	इन्द्र	राजन्य	ग्यारह.	ग्यारह
जगती	पशु	विश्वेदेव	वैश्य	बारह	बारह
विराट्	अन्न				

इन छन्दोऽनुसार तीन वर्ण व्रत अर्थात् संकल्प द्वारा ब्रह्मवर्चसादि की सिद्धि करते हैं तथा शरीर यात्रोपयोगी अर्थ की सिद्धि भी करते हैं जिनमें तीन मुख्य हैं — अन्न, जल और वायु। प्राकृतभाव आलम्बन से उत्पन्न होते हैं।[35] सरस्वती से वाक्, पूषा से पशु, अग्नि से तेज, वरुण से ओज, भग से श्री, त्वष्टा से रूप, सविता से प्रेरणा तथा सोम से द्युम्न भाव होते हैं।

3.6 भूतभाव

पंचभूतों से शरीर का निर्माण भूतभाव है। ये भूतभाव ही स्थायी भाव हैं। आलम्बन, प्राकृत तथा स्थायीभाव ही आत्मा हैं। आलम्बनभाव जीवात्मा है, प्राकृत अन्तरात्मा, स्थायी भूतात्मा।[36] ये तीनों आत्मधर्म हैं। अनुभाव आत्मानात्मरूप हैं तथा व्यभिचारिभाव अनात्मरूप हैं।

3.7 अनुभाव

अनुभाव चार हैं — वस्तु की प्रतिष्ठा प्रमा, अनुरूपता प्रतिमा, संख्या मा तथा शेषधर्म अस्त्रीवि

---

35. आलम्बनं हि प्रकृतिस्तदुत्थाः स्युः प्राकृतार्था इह जन्मसिद्धात्। - आवरणवाद, छन्दोव्याख्या, 32
36. आलम्बनं स्यादिह जीव आत्मा यः प्राकृतः सोऽन्य इहान्तरात्मा।
यः स्थायिभावः स तु भौतिकात्मा प्रत्यर्थमात्मत्रयमेवमूह्यम्। - वही, 36

कहलाते हैं ।37 संख्या ही वस्तु में भेद करती है ।38 सृष्टि का विकास संख्या क्रम से ही है — एक से दस, दस से शत तथा शत से सहस्र बनता है । इसी प्रकार तन्मात्रा से भूत, भूत से भौतिक तथा भौतिक से विश्व बनता है । छन्द की इकाई अक्षर है । चार-चार अक्षरों के बढ़ने पर 24 से गायत्री, 28 से उष्णिक्, 32 से अनुष्टुप्, 36 से बृहती, 40 से पंक्ति, 44 से त्रिष्टुप् तथा 48 से जगती छन्द बनता है । गायत्री अग्नि को, त्रिष्टुप् इन्द्र को तथा जगती आदित्य को बताती है ।

3.8 गायत्री का सर्वमयत्व

शरीर के भूत, प्राण तथा प्रज्ञा — ये तीन पाद हैं । उसमें ऊपर भी चार प्राण तथा नीचे भी चार प्राण, इस प्रकार 8 प्राण हैं । यही 8 प्राण त्रिपाद् होकर 24 अक्षरों वाली गायत्री होती है । भूत गायत्री के आठ अक्षर हैं — अप्, फेन, ऊष (क्षार), सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः तथा हिरण्य । इस गायत्री के तीन पाद हैं — भूत, प्रज्ञा तथा तैजस् जो क्रमशः वाक्, गौ तथा द्यौ भी कहलाते हैं । आदित्य गायत्री के आठ अक्षर हैं — मित्र, वरुण, भग, अंश, धाता, अर्यमा, सविता तथा विवस्वान् । द्यु गायत्री के तीन पाद हैं — ज्योतिः, गौ तथा आयु । सर्वात्मिका गायत्री के आठ अक्षर हैं — पृथिवी, अप्, अग्नि, वायु, विद्युत्, सोम, रवि, आत्मा । लोक गायत्री के 24 अक्षर हैं — व्याघ्र, सिंह, महिष, वराह, ऋक्ष, मतंग, कपि - ये सात आरण्य पशु; गौ, अवि, अज, अश्वतर, अश्व, रासभ, मनुज - ये सात ग्राम्य; पशु; वृक्ष, गुल्म, लता, प्रतान, तृण - ये पांच उद्भिज; वाङ्मय, पार्थिव, तैजस् आप्य और वायव्य - ये पांच जीव । वर्ष के 12 मास के 24 पर्व भी गायत्री के 24 अक्षर हैं । पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक के 8-8 दिशायें मिल कर 24 दिशायें भी गायत्री के 24 अक्षर हैं । इस प्रकार सब कुछ गायत्रीमय ही है ।[39]

3.9 विराट् के दश अक्षर

विराट् के दश अक्षर हैं। अग्नियाँ भी दस हैं। आठ धिष्ण्य तथा दो आहवनीय एवं गार्हपत्य ।[40] अक्षर-ब्रह्मवाक्रूप है । इसका परिच्छेद विशेष ही छन्द है जिसके अनेक भेद हैं ।[41] संवत्सर पुरुष है । उसके पीछे ऋग्वेदियों का अग्नि है । ये तीन वेद समुद्र हैं जिनके पीछे छन्द हैं, उनके पीछे लोक तथा लोकों के पीछे आत्मा ।

---

371. प्रमा प्रतिष्ठा प्रतिमानुरूपं संख्या तु माऽस्त्रीवय तदन्यत् । - वही,39

38. भेदः सजातीयकृतः क्वचित्स्यात् क्वचिद् विजातीयकृतोऽथवा स्यात् तथा क्वचित्स्वगतार्थनिष्ठस्त्रिष्वस्तिसंख्याप्रतिपत्तिहेतुः । - वही,42

39. पादैस्त्रिभिः सम्प्रति भाति गायत्र्येषा ततः सर्वमिदं बभूव । - आवरणवाद, छन्दोव्याख्या,68

40. वही,69

41. वागक्षरं ब्रह्म वदन्ति तस्यच्छन्दः परिच्छेदविशेषसिद्धिः ।
बिभ्वक्षरं छन्दसि दृश्यते यत् पृथक्-पृथक् तेन च वस्तुसिद्धिः ॥ - वही,70

3.10 विश्व की आकृतिमूलकता

बुद्धि में अन्तःस्थित घट प्रमा है। वह अविनाशी है। यही आन्तरिक घट बाह्यघट की प्रतिष्ठा है।[42] वस्तु का आवरण ही उसे वस्त्वन्तर से भिन्न करता है।

मिट्टी घड़ा नहीं है, आकृति ही घड़ा है। अन्यथा मिट्टी के बने तो दीपक भी हैं। हाथी घोड़ों से आकृति में ही भिन्न हैं, हाड़ मांस की दृष्टि से नहीं। सागर सरोवर नदियों के भेदक आकृतियाँ ही हैं, जल नहीं। आकृति ही पदार्थ की पहचान कराती हैं।

वस्तुओं की एक सहज कृति है जो बदली नहीं जा सकती अन्यथा वानर हाथी के प्रमाण का बन जाता। वानर के शिशु के छन्द की पूर्णता होने पर वह आगे नहीं बढ़ता किन्तु मनुष्य का बालक जन्म के समय वानर के बच्चे जितना होने पर भी बढ़ता रहता है क्योंकि दोनों का छन्दः परिमाण न्यूनाधिक है।

संसार के सभी पदार्थ मित हैं अतः छन्द हैं। वेदों में गिनवाये गये अनेक छन्द तो केवल उपलक्षण हैं, वस्तुतः छन्द असंख्य हैं। बालुकण अनन्त हैं उनके छन्द भी अनन्त हैं जिन्हें "समुद्रियः" कहा गया है।[43] ग्रहण किया हुआ आकाश देश है, ग्रहण न किया हुआ आकाश दिक् है।[44] सूर्योदय के निकट पूर्व दिशा, ध्रुव के निकट उत्तर दिशा है। सत्ता ही अपने अन्तराल में काल बनाती है। जब तक घट है तभी तक घट काल है। सूर्यकाल अहः है, उससे भिन्न निशा है।

छन्द अग्नि का वसन है। अस्त्रीवयः, प्रतिमा, प्रमा तथा मा से दैहिक अग्निमात्र आवृत है, अतः वे अग्नि का वस्त्र कहलाते हैं।

शिल्प दो प्रकार का है — अपूर्व तथा प्रतिरूप। ये शिल्प अनुभाव कहलाते हैं।

3.11 व्यभिचारिभाव

व्यभिचारी भाव अनात्मभाव है यथा - उष्णता, शीतलता, मलिनता, स्वच्छता आदि। ये आगमापायी हैं। ये नित्य नहीं हैं।

आना जाना आदि भाव उपचार हैं क्योंकि जो एक के लिये आना है वही दूसरे के लिये जाना है। अतः उनका आना या जाना नाम औपचारिक ही है, पारमार्थिक नहीं।

---

42. वही,77
43. समुद्रवद् या सिकता अनन्ताः समुद्रियं छन्द उशन्ति तासाम्। - आवरणवाद् छन्दोव्याख्या,107
44. गृहीत आकाश इहास्ति देशो न ये गृहीतास्त इमे दिशः स्युः। - वही,110

3.12 विश्व की छन्दोमयता

वेदों में छन्द का इतना सर्वव्यापक रूप दिया गया है कि समस्त जगत् ही छन्दोमय बन गया है। एक इस प्रकार का रूपक है सूर्यरथ का। इस सूर्यरथ के दो चक्र हैं — गायत्री तथा जगती। उष्णिक् तथा त्रिष्टुप् जुआ है। पंक्ति और अनुष्टुप् अश्व हैं। बृहती आसन का फलक है।[45] इस सूर्यरथ का एक चक्र भी बताया गया है। यह एक चक्र क्रान्तिवृत्त है। छन्द उसी रथ के अश्व हैं। कर्कवृत्त जगती है जो उत्तर में है, बृहती विषुवत् है जो मध्य में है, नीचे दक्षिण में गायत्री मकर है; गायत्री और बृहती के मध्य में उष्णिक् तथा अनुष्टुप् है उसके ही अनन्तर विषुवत् रूप बृहती है। बृहती तथा जगती के मध्य में त्रिष्टुप् तथा पंक्ति है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में आलम्बन, प्राकृत, स्थायी, अनुभाव तथा संचारीभाव होते हैं। अनुभाव छन्द है। संचारी अनात्मधर्म है शेष तीन आत्मधर्म। आत्मधर्म वय है तथा कुछ अनात्मधर्म भी वय हैं। अनुभाव वयोनाध है। उपचार धर्म भी वयोनाध है।

3.13 प्रमेय-मात्र मित है

सूर्य ही महेश्वर है। यह भी अनवच्छिन्न नहीं है, बल्कि मित है। इस मित से ही मित जगत् उत्पन्न होता है। छन्द अनन्त हैं किन्तु विभु तथा एक नहीं है। सभी पदार्थ मित हैं, अतः छन्दोवद्ध हैं। मित ही प्रमिति का विषय बनता है। आकाश भी मित होकर ही प्रतीति का विषय बनता है।[46]

न कुछ कारण है न कार्य। स्वस्तिक से रुचक तथा रुचक से स्वस्तिक बन जाता है। केवल रूप परिवर्तन करना होता है। अप् से पृथ्वी तथा पृथ्वी से अप् उत्पन्न होता है। मिट्टी से घट था घट से मिट्टी बनती है। सभी कारण अवान्तर हैं, आदि कारण कुछ भी नहीं है। अतः ब्रह्म की खोज निरर्थक है। जब सभी मित है तो अपरिमित ब्रह्म के होने का क्या प्रमाण है ?[47]

---

45. गायत्रिकेयं जगती च पक्षौ प्रष्टयौ रथस्योष्णिगियं च त्रिष्टुब्
पंक्तिस्त्वनुष्टुप् च रथस्य धुर्याबुद्धिर्बहत्येव रथः स ईदृक् ॥ - आवरणवाद, छन्दोव्याख्या, 129

46. छन्दोमितिर्यत्र मितिर्न विद्यते तद्वस्तु नास्तीति वयं प्रचक्ष्महे
मितामितग्राहि मतिर्न चामितं गृह्णाति तन्नास्ति न यत् प्रमीयते। - वही, 139

47. न कारणं किंचिदवान्तरं यन्न चाखिलारम्भणकारणं यत्
अकारणं विश्वमिदं ततोऽस्मिन्न ब्रह्म मृग्यं क्वचिदीश्वरो वा ॥ - आवरणवाद, छन्दोव्याख्या, 145

अम्भोवाद

4.1 अम्भोवाद का अर्थ

श्रुति में अनेकश: जल को सृष्टि को मूल बताया गया है ।[48] पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने इस तत्त्व को समझाने की प्रक्रिया इस प्रकार मानी है —

सृष्टि के दो पर्व हैं — लोक तथा लोकी । लोक शरीर है, लोकी प्राण । शरीर में जल तत्त्व ही मुख्य है । पृथ्वी भी पानी का ही रूपान्तर है, अन्तरिक्ष में भी प्राणात्मक पानी है, चन्द्र पानी के ही विरल रूप सोम का रूप है, सूर्य मरीचि पानी का संघात है, परमेष्ठी अप् रूप है ही तथा स्वयम्भू ऋत रूप होने से पानी है । शरीर में शुक्र शोणित जल रूप हैं । इधर लोकी रूप में प्राण भी आपोमय ही है ।[49] अत: लोक लोकी दोनों के ही आपोमय होने से यह विश्व आपोमय सिद्ध होता है । अत: आपोमय जगत् का मूल भी आपोमय ही होगा ।

4.2 अम्भोवाद के प्रमाण

सब देव अग्नि रूप हैं तथा अग्नि जल का ही पुत्र है (अपांनपात्) देवताओं ने अग्नि को जल में ही खोजा था ।[50] जल से ही सूर्य उत्पन्न हुआ जो कि जगत्का मूल है ।[51] प्राणों में दो ही मुख्य हैं — भृगु तथा अंगिरा ।

(1) परिधि से केन्द्र के प्रति गति आगति हैं । यही आगति भृगु प्राण है । केन्द्र से परिधि के प्रति गति अंगिरा प्राण है । यही दो प्राण आप् हैं तथा यही दो प्राण जगत् हैं । आगति को देव तथा गति को यति भी कहते हैं । ये दोनों एक-दूसरे के सहायक हैं ।[52] शतपथब्राह्मण में सृष्टि की यह प्रक्रिया बतलायी हैं - पहले जल था । जल ने सत्य की, सत्य ने ब्रह्म की, ब्रह्म ने प्रजापतिकी, प्रजापति ने देवों की तथा देवों ने सत्य की उपासना की ।[53] शतपथ में श्रम तथा तप द्वारा अप् सै हिरण्मय अण्ड की उत्पत्ति बतलायी गयी है ।[54]

प्रकृति की साम्यावस्था "नर" कहलाती है क्योंकि यही सृष्टि की ओर ले जाती है (नयतीति नर:) यह साम्यावस्था गतिहीन है । इसी में जब क्षोभ द्वारा गति उत्पन्न होती है तो अप् उत्पन्न होता है जो गतिशील हैं ।[55] यही अप् सृष्टि का मूल कारण है ।

---

48. ऋग्वेद 6.50.7; 10.75.1; 1.110.1; शतपथ-11.1.6.1; 1.1.1.14; 4.5.2.14.
49. छान्दोग्योपनिषद् 6.5.4
50. ऋग्वेद 3.1.3; 51. शतपथ,7.1.24
52. ऋग्वेद,10.136.4
53. शतपथ,1.4.9.1 54. वही,11.1.6.1 55. मनु.1/8; 1/10

यह त्रिलोकी अग्नि चतुर्थ लोक समुद्र के गर्भ में ही स्थित है । पृथ्वी के खोदने पर नीचे तथा आकाश में ऊपर जल ही है । अतः जल परमेष्ठी (परमे स्थाने तिष्ठतीति) है ।

4.3 द्रव की मुख्यता

संसार के समस्त पदार्थ तीन अवस्थाओं में देखने में आते हैं — तनु, द्रव तथा घन । इनमें द्रव तनु तथा घन रूप में परिवर्तित हो जाता है । अतः वही सबका मूल है ।[56] द्रव को अप कहते हैं क्योंकि यह विरल होने पर फैल कर व्याप्त हो जाता है । इसे वारि भी कहते हैं क्योंकि यही संकुचित होते हुए अपने अगों का वरण करके घन हो जाता है । घनता प्रेम का फल है, तनुत्व द्वेष का ।[57] वशिष्ठ ने वरुण अर्थात् जल के झूले का वर्णन करते हुए अन्तरिक्ष अर्थात् मध्य में स्थित जल की दो गतियाँ बताई हैं — वायु तथा हिम । इनमें वायु द्यौ की ओर क्रमशः सूक्ष्म होते हुए वाक्, प्राण तथा मन बन जाता है तथा हिम मिट्टी पाषाण और धातु । अप् की तनुता और घनता की ओर यह दुहरा गति ही वरुण का झूला कहलाती है ।[58] जिसके कारण सिन्धी समाज में वरुण का झूलेलाल नाम प्रसिद्ध हो गया । यदि बीच में कोई बाधा न पड़े तो मन पृथ्वी रूप में और पृथ्वी मन रूप में परिणत होता रहता है ।[59]

4.4 द्रव्य का त्रिविध प्रवाह

द्रव का प्रवाह त्रिविध है — (1) अन्न का वीर्य में परिणत हो जाना, द्रव का द्रव में परिणत हो जाना है । (2) दीपक के प्रकाश का अथवा शब्द का चारों ओर फैलना द्रव का देश में गति करना है । (3) अंकुर का वृक्ष रूप में परिणत होना द्विविध गति है क्योंकि यहाँ द्रव द्रव रूप में परिणत भी हो रहा है तथा देश में भी फैल रहा है । इस प्रकार द्रव ही मुख्य है ।

4.5 जल के चार प्रकार : समस्त सृष्टि के मूल चतुर्व्यूह

जल सत्य है क्योंकि यह नीचे की ओर जाता है और सत्य सदा विनम्र होता है ।[60] जल के चार रूप हैं — (1) अम्भ रूप में वह द्यौ में है । (2) मरीचि रूप में वह अन्तरिक्ष में है (3) मर रूप में वह पृथ्वी में है, (4) तथा आपः रूप में लोकपाल है । (1) अम्भ ऊर्ध्व गति है, (2) मरीचि तिर्यग् गति, (3) मर घनतानुगामी और (4) आपः घनानुषक्त ।[61]

---

56. घनं तनुप्रान्तगतो द्रवोऽन्तरा द्रवं तमः प्राप्य तर्योर्न पर्ययः
तस्माद् द्रवो मुख्यतमः प्रतीयते विपर्ययात् सोऽस्ति तनुर्घनोऽथवा-अम्भोवाद द्रवप्राथम्याधिकरण,2

57. प्रेम्णान्वितानां घनता प्रसज्यते द्वेषात् पृथक्तवेन तनुत्वसम्भवः । - वही,7

58. तुलनीय - ऋग्वेद,7.87.5

59. मनः क्रमात् स्यात् पृथिवी पृथिव्यपि क्रमान्मनः स्यान्ननिहन्ति कोऽपि चेत् -
अम्भोवाद, द्रवप्राथम्याधिकरण,18

60. आपो हि सत्यं तत एव निम्नं यान्त्याप एता इह सत्यधर्मात्-अम्भोवाद, चतुःसृष्टियधिकरण,2

61. यदूर्ध्वमायाति तदम्भ उक्त विषक् तिरश्चीनगतिर्मरीचि
मरः स्वभावाद् घनतानुगामी घनेऽनुषक्ताः कतिचित्स्युरापः ।.- वही6

इनमें आपः से लोकपाल बनते हैं जिनमें परमेष्ठी मुख्य है । परमेष्ठी आपोमय है जिसमें तप तथा श्रम से हिरण्मयाण्ड उत्पन्न होता है ।[62] इसी हिरण्मयाण्ड से समस्त देव उत्पन्न हैं अग्नि, वायु तथा रवि तो अग्नि रूप है तथा दिशा, सोम, मृत्यु, वनस्पति और आपः सोम रूप हैं । अव्यक्त स्वयंभू ही आपः में आकर हिरण्यगर्भ बन जाता है । जल में वायु फेन उत्पन्न करता है जल और वायु ही अपनी स्निग्धता खोकर मिट्टी बन जाते हैं । ये अनन्त फेन परमाणु रूप में मिट्टी बनते हैं ।[63] इस पृथ्वी का मूर्तरूप दस दिशाओं में पैल कर दशाक्षराविराट् बन जाता है ।[64] इनमें विराट्शरीर है जिसे मर्त्य चित्याग्नि कहते हैं और हिरण्यगर्भ आत्मा है जिसे चितेनिधेय अमृताग्नि कहते हैं ।[65] पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ में जो प्राण हैं वही हिरण्यगर्भ है । इसके दो रूप हैं — स्त्री रूप सोम है और पुरुष रूप अग्नि ।[66] इन्हीं दो के संयोग से समस्त सृष्टि बनती है । विराट् मूर्त है तथा पूर्ण घन है । हिरण्यगर्भ पेलव है तथा अग्नि रूप है । परमेष्ठी अर्ध घन रूप आपोमय है तथा स्वयंभू पेलव रूप अग्नि है ।[67]

4.6 विराट् व्यूह

शरीर में भ्रूण जीवाणु रूप से रहता है जो कि भ्रूणविराट् है । पृथ्वी पर जीव जन्तु विराट् के रूप में है, ब्रह्माण्ड में पृथ्वी क्षुद्र विराट् है तथा ब्रह्माण समुद्र में महाविराट् है और यह विश्वजगत् भूमा में है जो कि अति-विराट् है । भ्रूणविराट् जीवाणु, जन्तुविराट् जीव, क्षुद्र-विराट् ईश्वर, महाविराट् महेश्वर तथा अतिविराट् परमेश्वर है ।[68]

4.7 वैराज सृष्टि

अव्यक्त को विष्णु कहते हैं जिसके तीन रूप हैं — ब्रह्मा, परमेष्ठी और हिरण्यगर्भ । विष्णु जलशायी अव्यक्त आत्मा है, जिसकी नाभि के कमल से ब्रह्मा उत्पन्न होता है जो चिते-निधेय है । यही प्रजापति है जिससे शुद्ध प्राण ऋषि तथा मिश्रित प्राण पितर उत्पन्न होते हैं । हिरण्यगर्भ सबको उत्पन्न करने वाला ब्रह्मा, सबका पालन करने वाला विष्णु तथा सबका संहार करने वाला शिव है ।[69]

---

62. आपोमयोऽसोपरमेष्ठिनामा प्रजापतिः सृष्टिविधोन्मुखः सन्
अश्राभ्यदेवं स तपश्च तेपे संवत्सरेऽभूत् हिरण्यमयाण्डम् ।
-अम्भोवाद चतुःसृष्टियधिकरणे,10
63. अम्भोवाद, चतुर्व्यूहाधिकरण,12-13
64. मूर्तोऽयमर्थो दशदिग्भरिद्धा प्रगृह्यते न क्षरति क्वचित् सः .
मूर्त्तिर्विराट् तेन दसाक्षरेयं छन्दो विरार्लक्षयतेऽमुमर्थम् ॥ - वही,20
65. योऽयं विराड्यश्च हिरण्यमयोऽयं ततं वदन्त्यग्निमयं द्विधास्ति ।
मर्त्यः स चित्योऽग्निरिदं शरीरं चितेनिधेयोऽमृत एष देही ॥
66. सोऽभूद्द्विधा स्त्री पुरुषप्रभेदात् सोमं स्त्रियं प्राह पुंमांसमग्निम् । - वही,29
67. तुलनीय-चतुर्व्यूहाधिकरण की 32वीं कारिका के बाद दी गयी तालिका
68. तुलनीय-अम्भोवाद, विराट्व्यूहाधिकरण की 18वीं कारिका के बाद दी गयी तालिका
69. त्रयोपि देवा इम एक, मूर्त्तिब्रह्मा स विष्णुः स शिवः स एव - अम्भोवाद, विरड्व्यूहाधिकरण, उपासना,28

हिरण्यगर्भ से पांच प्राण उत्पन्न होते हैं — ऋषि, पितर, देव, असुर, गन्धर्व और मनुष्य। इन पाँच प्राणों का समूह वायु कहलाता है।[70] विराज से अनेक ऋषि उत्पन्न हुए इनमें अर्चि में रहने वाला प्राण भृगु है, अंगारों में रहने वाला प्राण अंगिरा है तथा स्त्री रज का प्राण अत्रि है। दक्ष और ऋतु में रहने वाले प्राण हैं। भृगु से जमदग्नि और गृत्समद, अंगिरा से घोरप्रगाथ, अथर्वा, कण्व, वत्, उतथ्य, संवर्त, बृहस्पति, अयास्य, गौतम, वामदेव, नोधा, नारद, पर्वत, भारद्वाज, आदि उत्पन्न हुए। अंगिरा से ही दक्ष उत्पन्न हुए जिनकी संतान में मरीचि तथा कश्यप आते हैं। कश्यप से समस्त प्रजा उत्पन्न हुई। ये सब नाम प्राणों के हैं किन्तु इनके द्रष्टा ऋषियों के भी ये ही नाम हो गये।[71]

इन ऋषि प्राणों के योग से पितृ प्राण बने जो सात हैं — जिनमें सोमषत्, वर्हिषत् और अग्निष्वात् अमूर्त हैं।[72] हविर्भुज, सोमप, आज्यप और सुकाल मूर्त हैं। इन पितरों के योग से देव और असुर प्राण बने।[73]

जो आहुति दिये जाने वाले हव्य के भक्षक हैं, वे देव हैं, तथा जो आहुति के खाने वाले हैं, वे असुर हैं।[74] देव पांच हैं।

1. बारह आदित्य
2. उनचास मरुत्
3. ग्यारह रुद्र
4. आठ वसु
5. दो सोम

जीवित प्राणियों का प्राण मनुष्य कहलाता है, मृत प्राणियों का प्राण गन्धर्व।[75]

---

70. प्राणा इमे सन्ति विराट् सुगूढाः संघो य एषां स हि वायुरुक्तः - अम्भोवाद, वैराजसृष्ट्यधिकरण,5

71. वही,15

72. वही,19

73. षां पितृणामपि यत्र नाना जातीय योगे फलितो विभिन्नः
युज्जानयोः(युञ्जानयोः ?) स्यादुपमर्दनेन ब्रुवन्ति देव (देवं ?) - तमिहासुरं वा। - वहि,19

74. देवास्त्रयस्त्रिंशदमी हुतादास्ते सोपमाः केचिदसोमपाः स्युः
ये चाहुतादा असुराभिधानां नवाधिका स्यान्नवतिश्च संख्या - अम्भावाद, वैराजसृष्ट्यधिकरण,21

75. प्राणो मनुष्यस्तु सचेतनानां गन्धर्व एषां स भवेन्मृतानाम्, - वही,22

4.8 प्रतिस्विकात्मा

हिरण्यमय अण्ड में तीन लोक हैं। पृथ्वी में अग्नि रूप से अंतरिक्ष में वायुरूप से और द्यौ में सूर्य रूप से हिरण्यमय ही प्रकाशित हो रहा है।[76] द्यौ अंतरिक्ष और पृथ्वी विश्व है। सूर्य, वायु और अग्नि नर है। ये दोनों मिलकर विश्वानर कहलाते हैं। इन तीनों विश्वानरों के परस्पर संघर्ष से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। इनमें अग्नि उष्मा है, वायु गति तथा इन्द्र प्रकाश।[77] आपः को नार कहते हैं क्योंकि उसके गर्भ में नर अग्नि रहता है। नार का अयन होने के कारण पुरुष को नारायण कहते हैं।[78] ये पुरुष अग्नि, वायु और सूर्य का भी नियन्ता है, यही प्रजापति है जिसका पुरुष सूक्त में वर्णन है। वैश्वानर अग्नि का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार है कि अंतरिक्ष, पृथ्वी और द्यौ-तीनों लोक इसी अग्नि के कर्म और व्रत-नियम का सेवन करते हैं। यह अपने नित्य प्रकाश को बढ़ाता है —

तव त्रिधातु पृथिवी उत द्यौवैऽश्वानर व्रतमग्ने सचन्त।
त्वं भासा रोदसी आ ततन्थाऽजस्रेण शोचिषा शोशुवानः।[79]

जब प्राण और अपान परस्पर घर्षण करते हैं तो उष्णता उत्पन्न होती है वह अध्यात्म वैश्वानर है[80] प्राण और अपान के संघर्ष में व्यान स्थिर बना रहता है। पुरुष का यह वैश्वानर अग्नि खाये हुए अन्न को पचाता है। सूत्रात्मा वायु त्रिलोकी को एक रूप में जोड़े हुए है। इस प्रकार सत्यात्मा वैश्वानर और सूत्रात्मा वायु ही त्रिलोकी के आधार हैं।

4.9 दिव्य अधिकरण : सूर्य नारायण का रूप

सूर्य के दोनों ओर आपः ही है जैसा कि कौषीतकि ब्राह्मण में लिखा है —

या रोचते परस्तात् सूर्यस्य याश्च अवस्तादुपतिष्ठन्त आपः।[81]

यह सूर्य समुद्र से उत्पन्न हुआ। नारों का अयन होने के कारण यह सूर्य ही नारायण कहलाता है। आपः सूर्य से चन्द्र में तथा चन्द्रमा से मेरु के शिखर में जाता है। ब्रह्म से जो द्रव उद्भूत हुआ वह परमेष्ठी कहलाता है। चन्द्रमा में यही आपः श्रद्धा कहलाता है अंतरिक्ष में मरीचि और यही जल मेरु

---

76. अम्भोवाद, प्रतिस्विकात्माधिकरण,3
77. उष्मायमग्निः पवते स वायुर्विद्योतते यावदयं स इन्द्रः - वही,9
78. नरोग्निरापो दधिरेतु गर्भं तं पूर्वमापस्तत एवं नाराः
नारा यदस्यायनमस्ति तस्मान्नारायणं तं पुरुषं वदन्ति - वही,10
79. ऋग्वेद,7.5.4
80. मैत्रायण आरण्यक,2-6
81. कौषीतकिब्राह्मण,24.4

शिखर से भूमि पर आकर गंगा कहलाता है। प्रत्येक ब्राह्मण में एक अग्नि, एक सूर्य तथा एक ही उषा है।[82] पूर्वाह्न का सूर्य ऋचाओं के साथ गति करता है, मध्याह्न में यजुर्वेद में स्थित रहता है और सायंकाल में सामवेद से पूजा जाता है।[83]

4.10 पंचदेवता

उपर्युक्त वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अप् से ही समस्त सृष्टि हुई, सलिल के श्रम और तप से हिरण्मय अण्ड उत्पन्न हुआ। तनु से घन बनता है जो द्रव रूप ले लेता है। घन में अग्नि उत्पन्न होती है। यह अग्नि वायुरूप में बाहर निकलती है। यही अग्नि हिरण्यमय अण्ड बनी। यह अण्ड जितने समय में परिपक्व हुआ उसे संवत्सर कहा जाता है। इस अण्ड से एक पुरुष उत्पन्न हुआ जिसने उत्पन्न होने के अनन्तर भूः, भुव, स्वः का उच्चारण किया जिससे क्रमशः पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौ लोक उत्पन्न हुए। प्रजापति की प्रतिमा संवत्सर कहलाती है उस संवत्सर से देव तथा असुर उत्पन्न हुए। प्रजापति ने मुख प्राण से देवों की सृष्टि से अवाङ् प्राण से असुरों की। देव प्रकाशरूप होने से अहन् हुए असुर अन्धकार रूप होने से रात्रि। इस प्रकाश और अन्धकार का युद्ध देवासुर संग्राम कहलाता है।[84] अप् अणु से अणुतर और महत् से महत्तर स्थान में व्याप्त है।[85] प्रजापति ने जो यज्ञ किया उससे प्राण उत्पन्न हुआ। प्रजापति के पुत्र इन्द्र ने जो यज्ञ किया उससे वाक् बनी। अग्नि के यज्ञ से अन्नाद और सोम के यज्ञ से अन्न उत्पन्न हुआ। इस प्रकार आपः, प्राण, वाक्, अन्नाद और अन्न ही यज्ञ से उत्पन्न होने वाले वे पाँच तत्त्व हैं जिनसे यह विश्व बना है।

ऊपर कहा जा चुका है कि पृथ्वी आपः के मर नामक विकार से उत्पन्न हुई। इस विषय का वर्णन तैत्तिरीयों ने किया है। आपः से सत्य, सत्य से विद्युत् और विद्युत् से प्रजापति उत्पन्न हुआ। सत्य का अर्थ है आदित्य। आदित्य द्यौ का, विद्युत् अंतरिक्ष का तथा अग्नि पृथ्वी का प्रजापति है।

---

82. ऋग्वेद,8.58.2

83. ऋग्भिः पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः
सामवेदे नास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः॥
-अम्भोवाद, दिव्याधिकरण 11

84. अहश्य रात्रिश्च बभूव ताभ्यां संवत्सरोऽथ प्रबभूव तस्मिन्
स्पर्द्धन्त एतेन्वसुराश्च देवास्तज्योतिषाकिन्तु तमो विलिल्ये।- अम्भोवाद, पंचदेवताधिकरण,13

85. अणोरणीयः परमं वदन्ति स्थानं तथा यन्महतो महीयः।
- वही,20

जब वायु जल में बंध जाती है तो फेन बनता है यह फेन ही क्रमश: मिट्टी, ऊष, सिकता, शर्करा, अश्म, अयस् और हिरण्य बनता है।[86] ये आठों तप करके उत्तरोत्तर पृथु भाव को प्राप्त होते हैं।[87] ज्यों-ज्यों पृथुता बढ़ती है अग्नि बढ़ती जाती है। शतपथ ब्राह्मण में पृथ्वी को पुष्कर-पर्ण कहा है। पुष्कर का अर्थ जल और पर्ण का अर्थ है भूमि अर्थात् भूमि जल पर ही टिकी है। यह बात यजुर्वेद में भी कही गयी है।[88]

4.11 वराहवायु

वायु ने पृथ्वी को जल से बाहर निकाला। शङ्कर अर्थात् मंगलमय होने के कारण जल से बाहर आने पर पृथ्वी शर्करा कहलायी। समुद्र में घिरी पृथ्वी को चारों ओर से वरण करने के कारण वायु वराह कहलायी। यही वराह का पृथ्वी के उद्धार करने का अर्थ है। पृथ्वी को आज भी चारों ओर बारह योजन तक वायु ने घेरा है। यदि वायु इसकी रक्षा न करें तो पृथ्वी अपने में स्थित अग्नि के विस्फोट से नष्ट हो जाये। इसी वायु को एमूषवराह कहा जाता है।

इस प्रकार जल के ही विस्तार से समस्त सृष्टि का उद्‌भव होता है। जल ही इसे थामे है तथा यह जल में ही लीन हो जाती है। अत: अम्भ: ही परतत्त्व है।

5.1 उपसंहार

अपरवाद, आवरणवाद तथा अम्भोवाद का इतना विस्तृत सटीक वर्णन इस बात का स्पष्ट संकेत है कि ये तीनों वाद भी सृष्टि की प्रक्रिया की गुत्थी को सुलझाने में सहायक अवश्य हैं किन्तु ये सृष्टि के मूलकारण ब्रह्म तक नहीं पहुंच पाते। यदि ये वाद ब्रह्मवाद से जुड़कर सृष्टि के उद्‌भव के रहस्य का उद्‌घाटन करें तो ये सृष्टि के रहस्य में एक वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं।

---

86. अम्भोवाद, एमूषाधिकरण, 7-10
87. वही, 16
88. यजुर्वेद, 11.29

पण्डित मधुसूदन ओझा कृत संशयतदुच्छेदवाद

हुकम चन्द पटयाल*

प्रकृत निबन्ध का मुख्य उद्देश्य पण्डित मधुसूदन ओझा कृत **संशयतदुच्छेदवाद** का समीक्षात्मक विवेचन करना है । पण्डितजी के अनुसार वेदों में मुख्यत: यज्ञ, इतिहास तथा विज्ञान से सम्बद्ध तीन विषयों का ही प्रतिपादन है । इनकी कृतियों को चार भागों में विभक्त किया जाता है — ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, पुराणसमीक्षा तथा वेदाङ्गसमीक्षा ।

प्रकृत रचना संशयतदुच्छेदवाद (ब्रह्मविज्ञानशास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के क्रम में एकादश है) । इस अनुक्रम में अन्य रचनायें हैं — (1) विज्ञानेतिवृत्तवाद; (2) सदसद्वाद; (3) रजोवाद; (4) व्योमवाद; (5) अपरवाद; (6) आवरणवाद; (7) अम्भोवाद; (8) अमृतमृत्युवाद; (9) अहोरात्रवाद; (10) दैववाद; (12) सिद्धान्तवाद) । इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् 1927 को लक्ष्मणपुर से हुआ है । आद्यादत्त ठक्कुर महोदय ने अपने सम्पादकीय वक्तव्य (पृष्ठ 1-3) में पण्डितजी की विचारधारा का परिचय दिया है ।

इस पुस्तक का विभाजन तीन भागों में किया गया है — (1) विज्ञानोपक्रमाधिकार = षट्पर्वा प्रथम: काण्ड: (पृ. 1-69); (2) संशयाधिकारो द्विपर्वा मध्यम: काण्ड: (पृ. 70-80) तथा (3) संशयोच्छेदाधिकारो द्विपर्वा उत्तम: काण्ड (पृ. 81-144) । इन तीनों काण्डों में दस उपनिषद् हैं । प्रथम काण्ड (1) मूलोपनिषद् (ब्रह्मकर्मोपनिषद्); (2) कृष्णोपनिषद् (कृष्णत्रिसत्योपनिषद्); (3) पूर्णोपनिषद् (पूर्णद्विसत्योपनिषद्); (4) प्रत्ययोपनिषद् (प्रत्ययैक-सत्योपनिषद्); (5) पुरुषोपनिषद् या पुरषैकसत्योपनिषद् (प्राणैकसत्योपनिषद्); (6) यज्ञोपनिषद् (यज्ञैक-सत्योपनिषद्); मध्यम काण्ड (7) संशयोपनिषद् (सन्दिग्धसर्वोपनिषद्); (8) मिथ्योपनिषद् (सर्वासत्यो-पनिषद्); उत्तम काण्ड ((9) विशिष्टोपनिषद् (विशिष्टत्रिसत्योपनिषद्); (10) ईश्वरोपनिषद् (ईश्वरैकसत्योपनिषद्) । प्रत्येक उपनिषद् का विभाजन प्रतिपाद्य विषय के अनुसार पर्वों या खण्डों में किया गया है ।

इस परिच्छेद में हम कतिपय उपनिषदों या उनके खण्डों या पर्वों पर विवेचन करेंगे ।

मूलोपनिषद् में 'आभु-अभ्व' को ही जगत् के दो मूल रूपों में माना गया है । दूसरे श्लोक में 'द्रष्टा' को 'आभु' माना है, तथा 'दृश्य' को 'अभ्व' माना है । आभु की कल्पना का आधार हम स्पष्टतया ऋग्वेद (10.129) में प्राप्त कर सकते हैं,जो कि नासदीय सूक्त के नाम से जाना जाता है । इसी सूक्त में एकात्मिक (अकर्तृक) ब्रह्माण्ड-सम्बन्धी सिद्धान्त (The monistic (imperssonal)

---

* डेक्कन कॉलेज,पुणे ।

cosmic principle) की कल्पना विद्यमान है । ऋग्वेद (10.129.1) 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्'— आदि में असत् नहीं था, सत् भी नहीं था, व्योम भी नहीं था, वायुमण्डल भी नहीं था । किसने हलचल की, कहाँ तक किसके अधीन था ? क्या जलसमूह एक अगाध रसातल था ? ऋग्वेद (10.129.3) में आभु शब्द का प्रयोग मिलता है । मंत्र इस प्रकार है :

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥

'(सृष्टि) के आदि में अन्धकार था, तथा वह अन्धकार में छिपा हुआ था; यह सब (ब्रह्माण्ड) एक अनिश्चित जलाधार (समुद्र) था । शून्यता से उत्पत्तिविषयक सिद्धान्त (शाब्दिक 'सत्ता का आगमन' आभु) आवृत था । तथा वह (स्रष्टा) अपनी ही तपस्या की शक्ति से उत्पन्न हुआ है ।' पुरुष तथा स्त्री शक्ति विप्लव के रूप में प्रकट होती है, तथा उसके पारस्परिक संयोग से इस आनुभविक जगत् या ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है (दे. ऋग्वेद 10.129.5) अभ्व (नं.) 'घोराकृति या विकराल (प्राणी); (वि.) घोराकृति या विकराल' (दे. ऋ. 1.39.8; शत व्रा. 3.2.1.26-27; तैव्रा. 2.8.4.8) । शत ब्रा. के अनुसार 'इन्द्र ने घोराकृति प्राणी को यज्ञ तथा वाक् के संयोग से उत्पन्न किया ।'

कृष्णत्रिसत्योपनिषद् (पृ. 3-21) के खण्ड हैं — (1) सच्चिदानन्दखण्ड (श्लोक 1-96); (2) जीवेश्वरखण्ड (श्लोक 97-138); (3) दुःख-प्रतिपत्तिखण्ड (श्लोक 139-234); तथा (4) उपासनाखण्ड (श्लोक 235-249) । सत्ता, चित्त, आनन्द में ही त्रिसत्य है । ये तीनों रूप विश्व हैं। पण्डितजी के अनुसार ज्ञान का विभाजन 'अस्ति' और 'नास्ति' के आधार पर दो प्रकार का है (श्लोक 19 अनु.) । सत्ता, चित्त और आनन्द यद्यपि तीन पृथक् तत्त्व हैं तथापि उनमें ऐकात्म्य प्रतीत होता है । उपखण्ड 12 (श्लोक 50-53) में पण्डितजी तीनों तत्त्वों में ऐकात्म्य होने पर भी उनमें विरूपता का आभास करते हैं । इस सत्ता को ही विज्ञान, आनन्द तथा सत्ता माना गया है (श्लोक 68) । तथा प्रत्येक के दो-दो भेद बताये गये हैं । जिसे लोक देखते हैं वह शुक्ल (विज्ञान), तथा जिसे लोक नहीं देखते हैं और जो अन्तर्हित (निण्य) है, वह कृष्ण (विज्ञान) है । आनन्द भी द्विविध है: शान्त तथा समृद्ध (श्लोक 69) । सत्ता भी द्विविध है: निर्विशेषा तथा सविशेषका ।

जीवेश्वरखण्ड में ओझा महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि सत्ता, चित्त तथा आनन्दमय जो आत्मा है, वह द्विविध है : जीवात्मा तथा परमात्मा (श्लोक 97 अनुक्रम) । एक जीव तथा ईश्वर के शरीर में बहुत से जीव विद्यमान हैं । वह आद्य जीव ही हिरण्यगर्भ है । पण्डितजी के अनुसार रस ही ज्ञान या ज्ञान तथा क्रिया है (श्लोक 127) । वह रस ही आनन्द है, वह रस जो सत्ता तथा विज्ञान जैसा प्रतीत होता है, वह एक ही है तथापि तीन प्रकार का है । सत्ता, चित्त तथा आनन्दमय आत्मा ही 'सच्चिदानन्द' नाम से प्रसिद्ध है (श्लोक 129) । वह परमेश्वर एक विभु है, तथा उसके असंख्य जीव

हैं। दुःखप्रतिपत्तिखण्ड (श्लोक 139 अनु.) में इस मौलिक प्रश्न पर विचार किया है कि आत्मा सदानन्दमय है या कभी दुःखमय भी है। रस तथा बल में दो पृथक् स्वभाव दुःख या भय के हैं। रस यह आत्मा है, बल आत्मशक्ति है, वह (आत्मा) रसत्व के कारण नित्य आनन्दमय है। (रसोऽयमात्मा बलमात्मशक्तिः स नित्यमानन्दमयो रसत्वात्, (श्लोक 140)। रस ही अमृत है (श्लोक 147)। संक्षेपतः यह आत्मा शोक, पीड़ा, जरा या काम-वासना से कभी भी आक्रान्त नहीं होता है। दुःख के भी तीन प्रकार बताये हैं (श्लोक 154)। ज्ञान (आत्मज्ञान) के कारण ही प्रसाद तथा सुख की प्राप्ति होती है, तथा अज्ञान (आत्मविषयक) के कारण दुःख उत्पन्न होता है। आत्मा में कामासक्ति की वृद्धि या इच्छा के कारण दुःख का प्रादुर्भाव होता है (श्लोक 185-190)। भय भी अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है, तथा ज्ञान से भय का अभाव होता है (श्लोक 213-7)। विज्ञान से ही प्रज्ञ की बन्धन से मुक्ति हो जाती है। प्रज्ञ का विज्ञान उसे कामनाओं से पराङ्मुख कर देता है। उपासनाखण्ड में उपासना के पांच भेद बताये गये हैं : (1) श्रद्धानमयानुध्यानमुपासना; (2) सत्यवती उपासना; (3) अङ्गवती उपासना; (4) अन्यवती उपासना; तथा (5) अङ्गवती तथा अन्यवती उपासनाओं का सामर्थ्य।

पूर्णद्विसत्योपनिषद् के प्रारम्भिक ब्रह्मकर्माधिकार (श्लोक 1-68, पृ. 22-26) में जगन्मूलैकत्वसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। किसी ध्रुव तथा नित्य का विकारभूत रूप जगत् है(सूत्र 1, श्लोक 1-4)। ब्रह्म ही आभु है (ओझाजी के अनुसार दृष्ट, प्रत्युत नासदीय सूक्त के अनुसार उत्पत्तिमूलक सिद्धान्त), तथा कर्म ही अभ्व (दृश्य) है। इसी कर्म को देवता माया कहते हैं। ब्रह्म तथा जगत् के कारण, विकार के विषय में छः मत प्रतिपादित किये हैं। (सूत्र 2, श्लोक 5-9)। ब्रह्म तथा जगत् के बीच में तादात्म्य स्थापित किया गया है। इस सूत्र के अन्त में ईशावास्योपनिषद् का शान्तिपाठ है: पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ इस शान्तिपाठ में यह बताया गया है कि ब्रह्म अनुभवगम्य, सर्वव्यापी है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से ब्रह्म पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। ब्रह्म और जगत् के मध्य पारस्परिक संयोग के कारण ऐकात्म्य बताया गया है (सूत्र 5)। ब्रह्म और कर्म की बीच 'जगद्रूप' को सहावस्थान बताया गया है (सूत्र 6)। निर्विकार पूर्ण ब्रह्म में 'पूर्णकर्मोदय' की कल्पना स्थापित की गई है (सूत्र 7)। बहुत से दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म, निर्विकार है (सूत्र 8)। श्लोक 68 में स्पष्टतया कहा है: 'कर्म त्वसद्, ब्रह्म सदित्थमाभात्यसच्च सच्च द्वयमेव विश्वम्।' इसी सत् और असत् को अहोरात्रवाद के नाम से जाना जाता है। ब्रह्मकर्मसम्बन्धाधिकार में यह बताया गया है कि जो ब्रह्म है वही रस है तथा बल ही कर्म है (श्लोक 3)। कर्म में पञ्चविध कर्मसम्बन्ध बताया गया है। ब्रह्म और कर्म के बीच 13 प्रकार का सम्बन्ध बताया गया है (देखिये तालिका पृष्ठ 28 के अन्त में)। खण्ड 16 (पृष्ठ 33) में यह स्पष्टतया बताया गया है कि 'रस में बल है या सर्वबल में रस है' (रसे बलं सर्वबले रसोवा)। अक्षर (अविनश्वर) कर्मात्मा का ही कारणत्व समवायिभेद के कारण उपलब्ध है, क्षर (नश्वर) का नहीं

(श्लोक 25, पृष्ठ 34) । ब्रह्मपुर को त्रिपुष्कर-युक्त (ये हैं : पुण्डरीक, दहर तथा पूर्ण) बताया है (श्लोक 22, पृष्ठ 39) । बल तथा रस में बलों के 18 प्रकार के भेद हैं । (देखिये तालिका पृष्ठ 41 पर) । पुरुष और प्रकृति के समन्वय से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है । यह ब्रह्म ही आत्मा है और उसमें यह पुरुष है, जो कर्म है वही यह प्रकृति है (श्लोक 2, पृष्ठ 42) । पुरुष की निरुक्ति श्लोक 3 में दी गई है : 'पुरस्थः पुरुषो रसः स ।' रस और बल के समन्वय से रसावतार अव्ययपुरुष की उत्पत्ति होती है । आत्मा के तीन भेद हैं : मन, प्राण तथा वाक् (श्लोक 17, पृष्ठ 43) । रसावतार पुरुष वाङ्मय, प्राणमय तथा मनोमय है । ब्रह्म = रसः पुरुषः तथा कर्म = बलं प्रकृतिः (दे. तालिका पृष्ठ 44 पर) । पूर्णद्विसत्योपनिषद् के अन्त में बताया गया है कि ब्रह्म तथा कर्म पूर्ण हैं (ब्रह्म च कर्म च पूर्णं, प्रत्येकं पूर्णतास्ति पर्याप्ता । यत् पूर्णं तत् सत्यं, सत्ये द्वे तेन ते सिद्धे) ॥

प्रत्यैकसत्योपनिषद् (पृष्ठ 51-55) को दस खण्डों में विभक्त किया गया है । ब्रह्म और कर्म में एकत्व का प्रत्ययत्व (निश्चयत्व) बताया गया है । सिद्धान्तवादी ब्रह्म और कर्म को ही पूर्णद्विसत्य कहते हैं । वही प्रत्यय वास्तव में ईश्वर है या जीव है,जगत् है, वही आत्मा तथा यज्ञपुरुष है (श्लोक 3, खण्ड 2, पृष्ठ 51) । मृत्यु को ही शून्य बताया गया है (श्लोक 19, पृष्ठ 53) ।मृत्यु के पश्चात् अमृतत्व की प्राप्ति होती है (श्लोक-21, पृष्ठ-53) । माया के विषय में ओझाजी का कहना है 'वह आत्मा ही माया है, माया नामक तत्त्व पृथक् रूप में नहीं है ('सात्मैव मायाथ पृथङ् नु माया' श्लोक 36, पृष्ठ 54)' । इस उपनिषद् का अन्तिम खण्ड ऐकात्म्यवाद है । यह आत्मा ही ब्रह्म है । प्रत्यय ही सत्य है, इसलिए सत्य एक ही तत्त्व सिद्ध होता है (श्लोक 47-8, पृष्ठ 55) ।

पुरुषैकसत्योपनिषद् (पृष्ठ 56-62) में 13 खण्ड हैं । इस उपनिषद् का आधार शत ब्रा. 14.4.2.1, वृहदा. 1.4.1 इत्यादि है । वृहदा. में इस सृष्टि या ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति आदि में आत्मा से ही बताई है, जो एक (व्यक्त) पुरुष के आकार में विद्यमान था । प्राणपुरुष के चार भेद हैं — मन, दो प्राण तथा वाक् (श्लोक 3, पृ. 56) । (आरम्भ में) एक ही आत्मा था, उससे पति और पत्नी दो उत्पन्न हुये (श्लोक 3-4, पृष्ठ 57, तु. वृहदा. 1.4.2-3) । वृहदा. 1.4.3 में बताया गया है कि हिरण्यगर्भ या प्रजापति ने अपने आपको दो भागों में विभक्त किया । दोनों ही उसके तत्त्व हैं । तु. विष्णुपुराण 1.7.17: शतरूपां च तां नारीं तपोनिर्धूतकल्मषाम् । स्वायम्भुवो मनुर्देवः पत्नीत्वे जगृहे प्रभुः ॥ इस आत्मा की पांच कर्मेन्द्रियां हैं : प्राण, वाक्, श्रोत्र, चक्षु तथा मन (श्लोक 17, पृष्ठ 58) । ब्रह्म ही सर्व है, ब्रह्म ही यह आत्मा है (श्लोक 21, पृष्ठ 58) । आत्मा ही सर्व है, यह विचार ऋषि वामदेव ने ऋ. 4.26.1 'अहं मनुरभवम्' में व्यक्त किया है । ओझाजी ने अथर्व. 6.61.2 'अहं विवेच पृथिवीमुत द्याम्' 'मैंने पृथिवी और द्यौ को विस्तृत किया है ।' तथा अथर्व 6.61.3 'अहं जजान पृथ्वीमुत द्याम्' : 'मैंने पृथ्वी तथा द्यौ को उत्पन्न किया है ।' देवताओं तथा मनुष्यों के चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) की उत्पत्ति बताई गई है । (श्लोक 31-8, पृष्ठ 59, तु. वृहदा. 1.4.15) । सृष्टि तीन प्रकार

की है : क्षुद्रतमा, खण्डात्मिक तथा महासृष्टि । परमेश्वर से आदि सृष्टि, ईश्वर से मध्यगता अणुसृष्टि तथा क्षुद्रजीव अर्थात् पुरुष से विसृष्टसृष्टि की उत्पत्ति हुई है । आत्मा शाश्वत तथा नित्य है इस सम्बन्ध में कठश्रुति प्रस्तुत की गई है 'अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' कठो. 1.2.20 इत्यादि । अन्य श्लोक इस क्रम में उद्धृत हैं : कठो. 1.2.22; 1.3.10 - 12; 2.1.5; 2.1.12-13; 2.3.9; 2.1.1-2; 1.3.15 (केवल प्रथम दो पाद); 2.1.10-11; 2.2.1; 1.2-17) ।

यज्ञैकसत्योपनिषद् (पृ. 63-69) के 23 उपखण्ड हैं । कर्म को ही यज्ञ माना गया है । यज्ञ के दो भेद हैं: ब्रह्मकर्मयज्ञ तथा जीवेश्वरयज्ञ । प्राण के चार भेद हैं: मन, वाक् तथा दो प्राण (श्लोक 2-3, उपखण्ड 4, पृष्ठ 63) । प्राणवाग् यज्ञ के लिए ओझा महोदय ऋ. 10.114.4 'एकः सुपर्णः समुद्रमाविवेश' का उदाहरण देते हैं । उपखण्ड 13 (पृष्ठ 65) में आत्मा को ही सभी (प्राणियों) का यज्ञ बताया है, वही व्यष्टि तथा समष्टियज्ञ है । आत्मा के पांच वर्ग हैं: इङ्गात्मा, जीवात्मा, पृथिव्यात्मा, सूर्यात्मा तथा परमेश्वरात्मा । इनकी व्यक्तिगत परिभाषा के लिए देखिये उपखण्ड 17-21 अनुक्रमशः । ये पांचों वर्ग परस्पर आश्रिताश्रयी भाव रखते हैं । अन्ततः यह स्थापित किया गया है कि एक या अनेक यज्ञ एकभाव रखते हैं । एक ही यज्ञ के अनेक रूप हैं (श्लोक 65, पृष्ठ 69) । यह ही एकसत्यसिद्धान्त है (श्लोक 66) ।

सन्दिग्धसर्वोपनिषद् (पृष्ठ 70-79) के 15 उपखण्ड हैं । स्याद्वादसूत्र में ब्रह्माण्ड या विश्व की कल्पना के सम्बन्ध में आशंका प्रकट की है 'स्यादस्ति वा स्यादपि नास्ति' (श्लोक 2) । इस प्राणिजगत् के विषय में कहा गया है :

संभाव्यते सर्वमिदं सदेव संभाव्यते सर्वमथासदेव ।
संभाव्यते वेदमसच्च सच्च संभाव्यतेऽनिर्वचनीयमेतत् ॥

मूलाशुद्धिसूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना के विषय में कहा गया है । अपने तर्क की पुष्टि के लिए ऋग्वेद (1.164; 10.81; 10.82; तथा 10.129) से कुछ मंत्र उद्धृत किये गये हैं । इनमें से अधिकांश सूक्त ब्रह्माण्ड या सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बद्ध हैं, इन्हें परिकल्पनात्मक सूक्तों (Speculative Hymns) के नाम से भी जाना जाता है । ओझाजी ने मंत्र इस क्रम में उद्धृत किये हैं: ऋ. 10.82.7, 10.81.2, 10.81.4 (ये दोनों सूक्त विश्वकर्मा को संबोधित हैं, इनमें एकेश्वरवादी स्रष्टा विश्वकर्मा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से जुड़ा हुआ है ।) सृष्टि की उत्पत्ति की तुलना यज्ञ से की गई है (तु. ऋ. 10-90 पुरुषसूक्त) । ऋ. 10.129.6-7 (इस सूक्त में एकात्मिक (अकर्तृक) उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त की कल्पना विद्यमान है) । तथा ऋ. 1.164.4; 1.164.37, तथा 1.164.6 (इस सूक्त में एक दूसरे से असम्बद्ध कूटप्रश्न या प्रहेलिकाएँ हैं । बहुत से प्रश्नों के उत्तर अविदित या कल्पनापूर्ण हैं ।

ओझाजी की कल्पना के अनुसार विश्व द्रष्टा तथा दृश्य है (श्लोक 2, खण्ड 3, पृ. 71) । प्रमाण की परिभाषा उनके अनुसार है: 'विवेकजन्यज्ञानं प्रमाणं न तदक्षजन्यम्' (श्लोक 8, खण्ड 6, पृ. 74) । वे मन को ही प्रमाण मानते हैं अन्य इन्द्रियों को नहीं (श्लोक 9) । यह आत्मा जीव है, यह शरीर से भिन्न नहीं है, यह मूर्त, अमूर्त तथा व्यक्तिरूप में देखा जाता है (श्लोक 25, पृष्ठ 76) । वह ईश्वर तो सचमुच ही इस जगत् की सत्ता है, वह जगत् सत्ता से युक्त है, वह अपने आप में स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता है । इस उपनिषद् के खण्ड 14 में असमाधेय-प्रश्नावली में इस प्रकार के प्रश्न किये हैं — पैदा होते ही दांत नहीं निकलते, निकलने पर गिर जाते हैं तथा गिरकर फिर निकलते हैं, गिरे हुये ये पुन: नहीं आते । प्राय: यज्ञ विज्ञान, युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है । इसी प्रकार के और भी प्रश्न हैं । ये प्रश्न स्वैदायन शौनक ने, उद्दालक आरुणि से पूछे हैं । इनका आधार शत ब्रा. 11.2.7 है (तु. गो ब्रा. 1.3.5-9) । मनुष्य की तुलना वृक्ष से की गई है । शत ब्रा. 14.6.9.30-34 (= वृहदा. 3-28 (1-6) से ये श्लोक उद्धृत किये गये हैं। यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य पर्णानि लोमानि त्वगस्योत्पाटिका बहि: ॥ "जिस प्रकार वृक्ष एक वनस्पति है, उसी प्रकार सचमुच मनुष्य भी है, उसके केश पत्ते हैं तथा उसकी चमड़ी उसकी बाहरी छाल है ।" अन्तिम श्लोक में कहा गया है यदि पेड़ को जड़ से उखाड़ दिया जाये तो वह फिर पैदा नहीं होगा । एक मर्त्य किस जड़ (या मूल) से उत्पन्न होता है जब उसे मृत्यु ने छिन्न कर दिया हो ।

जीवात्मा के विषय में भगवद्गीता (2.29) में कहा गया हैं — 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' "बड़ी कठिनता से ही कोई इसे देख पाता है, तथा अन्य बड़ी कठिनता से इसके विषय में कह सकता है, अन्य बड़ी कठिनता से इसके विषय में सुन सकता है; (परन्तु) इसके विषय में सुनने पर भी कोई निश्चित रूप से इसके विषय में नहीं बता पाता है ।" भगवद्गीता (2.30) में बताया गया है कि यह आत्मा शाश्वत तथा अविनश्वर है ।

ईशोपनिषद् (9) कहता है: अन्धं तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता: ॥ "जो अविद्या (अज्ञान) की उपासना करते हैं वे निविड़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, तथा जो विद्या (ज्ञान) में आनन्द लेते हैं वे मानो और भी घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं ।" शंकराचार्य के अनुसार अविद्या से अभिप्रेत है 'उत्सवों पर पवित्रता', तथा विद्या से अभिप्रेत है 'देवताओं का ज्ञान' । पूर्ववर्ती पितृलोक में तथा उत्तरवर्ती देवलोक में पहुंचाती है (तु. विद्यया देवलोक: कर्मणा पितृलोक:, वृहदा. 2.5.16) । शंकराचार्य के अनुसार विद्या से 'ब्रह्मज्ञान' अभिप्रेत नहीं हो सकता है, क्योंकि यह अधिक अन्धकार की ओर नहीं ले जा सकता है । कुमारिल भट्ट के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान तथा कर्म के समन्वय से ही हो सकती है । (दे. राधाकृष्णन्, ईशो. (9) के अनुवाद पर टिप्पण, पृष्ठ 573-4) ।

असत्योपनिषद् (पृ. 80-82) में 13 उपखण्ड हैं। प्रज्ञान आत्मा है, आत्मा महान् है, आत्मा विज्ञान है, तथा कहीं आत्मा अव्यय है (श्लोक 3, उपखण्ड 2, पृ. 80) आत्मा असङ्ग तथा ससङ्ग दोनों ही है। (श्लोक 1, उपखण्ड 5, पृष्ठ 81)। किसी के मतानुसार यह आत्मा अपने कर्म का फल भोगने के लिए नरक या स्वर्ग में जाता है। तथा किसी के अनुसार यह आत्मा किसी अन्य लोक में नहीं जाता है, तथा जन्म-मरण से परे है। इन सभी मतों की कोई प्रामाणिकता नहीं है, अतः यह सब केवल विडम्बना मात्र ही है (उपखण्ड 6, पृ. 81)। भरण के पश्चात् बन्धनमुक्त आत्मा की स्थिति पर अवस्था का आभास वृहदा. 3.2.11 (=शत ब्रा. 14.6.2.11) से हो जाता है। जब (बन्धन मुक्त) मनुष्य मरता है क्या उसके प्राण उससे चले जाते हैं या नहीं ? वे उसी में इकट्ठे हो जाते हैं, तथा उसका शरीर फूल जाता है, तथा इस प्रकार उसका मृतशरीर पड़ा रहता है। आत्मा को प्रज्ञानघन (Mess of intelligence) बताया है (वृहदा. 4.5.13 = शत ब्रा. 14.7.3.13)। मरने पर चेतन का आभास नहीं रहता है।

विशिष्टत्रिसत्योपनिषद् (पृ. 83-136) में बहुत से विषय प्रतिपादित हैं। ओझाजी के अनुसार जीव ही अन्न का भोग करता है तथा शरीर में यही यज्ञ के नाम से जाना जाता है वह ईश्वर जैसा (शरीर में) करता है उसी के अनुसार वह जीव यज्ञफल प्राप्त करता है (श्लोक 4, खण्ड 3, पृष्ठ 84)। अतीव सूक्ष्म क्रम से स्थूल जगत् की उत्पत्ति हुई है, तथा स्थूल क्रम से अतीव सूक्ष्म (पदार्थ) की खोज की जा सकती है। यद्यपि वैशेषिक शास्त्र, सांख्य शास्त्र, वेदान्त शास्त्र का परस्पर आत्मा के स्वरूप तथा निरूपण के विषय में मतभेद है, तथापि ये तीनों एक ही शास्त्र की अन्वेषणा पृथक्-पृथक् रूप से करते हैं (खण्ड 5, पृ. 84-5)। भूतात्मा के विषय में यह कहना है कि यह कर्मगति के अनुसार आता या जाता रहता है। स्वर्ग में आनन्द भोग करता है, तथा नरक में दुःखप्राप्ति (खण्ड 7, पृ. 85)। मरने के पश्चात् जीव गर्भ शरीर प्राप्त करता है, तथा बाद में दूसरे देह की प्राप्ति करता है, यह कभी बिना शरीर के नहीं रहता है (श्लोक 1, खण्ड 8, पृ. 85)। ओझा महोदय ने आत्मा, जीव, क्षेत्रज्ञ, भूतात्मा, पञ्चभूत इत्यादि की कल्पना के लिए मनुस्मृति (12.12-23) उद्धृत की है। भूतात्मा कतिपय भाष्यकारों के अनुसार 'शरीर' ही है या 'यह दृश्य महाशरीर है।' क्षेत्रज्ञ 'जीव' या 'जीवात्मा' है या 'परमात्मा' है। (विस्तृत विवेचन के लिए देखिये Biihlef का पादटिप्पण मनु. 12.12 पर, SBE 25.485-6)। मृत्यु के तुरन्त पश्चात् इस गर्भगत जीव का जन्म नहीं होता है। इसकी पुष्टि के लिए वृहदा. का भाग 4.4.3-4 उद्धृत किया गया है। वृहदारण्यक के इस भाग में रूपकों के द्वारा अनिर्मुक्त आत्मा (शरीरात्मा) की स्थिति मृत्यु के पश्चात् क्या होती है उसका विवेचन है। देही (शरीरात्मा) अमर है, मरणोपरान्त केवल योनि में ही परिवर्तन होता है, इस विचारधारा की पुष्टि के लिए : 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गह्णति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ (भगवद्गीता 2.22) उद्धृत किया गया है।

कठश्रुति में नचिकेतस् और मृत्यु (यम) के बीच संवाद के रूप में कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं। नचिकेतस् स्वयं की ही आहुति देना चाहता है, उसके पिता उसे यम को दे देते हैं। यम के यहाँ वह तीन दिन तक भूखा, प्यासा रहता है। यम उसे तीन वर देता है। प्रथम वर के रूप में वह अपने पिता के पास पहुँचना चाहता है, (दूसरावर) मेरे पुण्य नष्ट न हों, (तीसरा वर) पुनर्मृत्यु न हो ऐसा मार्ग बताइये। इस संवाद में कठो. से उद्धृत श्लोक हैं क्रमशः (1.1.1-2; 1.1.4; 1.1.7; 1.1.9-14; 1.1.18; 1.1.20; 1.2.6-9; 1.2.12; 1.2.23-24)। आत्मा के विषय में ओझाजी का कहना है कि यह अविनाशी तथा सब प्राणियों में विद्यमान है (श्लोक 1, प. 89)। अपने मत की पुष्टि के लिए श्वेताश्वतरो 1.15; 1.13; 1.16) उद्धृत किये हैं। जिनका आशय है कि आत्मा किसी के भीतर विद्यमान है तथा वह सर्वव्यापी है। शरीर के भीतर मुख्यतः तीन नाड़ियां हैं : इडा, सषुम्णा, तथा पिङ्गला (खण्ड 21, पृ. 91), तु. छान्दो. 6.1.1)। हृदय की 101 नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक सिर के तलुये तक जाती है। उसके द्वारा ऊपर जाने पर मनुष्य अमरत्व को पाता है, तथा दूसरी नाड़ियां भिन्न-भिन्न दिशाओं में ले जाती हैं (छान्दों 8.6.6; कठो. 2.3.16 इस पुस्तक में 2.6.16 मुद्रित है जो अशुद्ध है)। पृथ्वी के तल पर आत्मा पश्चिम और दक्षिण दिशाओं में जाने पर नरकों में जाती है, तथा पूर्व और उत्तर दिशाओं में जाने पर स्वर्गों में जाता है। यदि वह नीचे की ओर जाये तो वह दुःख का भोग करता है। आत्मा का हनन करने वाले अन्धकार से परिपूर्ण लोकों में जाते हैं (ईशो. 3), जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है वे घोर अन्धकार से परिपूर्ण लोकों में जाते हैं (वृहदा. 4.4.11)। सुख भोगने के लिए स्वर्ग है, तथा दुःख भोगने के लिये नरक (श्लोक 49, खण्ड 30, पृष्ठ 95)। ओझाजी के अनुसार स्वर्ग चार प्रकार है — अवम्, परम्, मध्यम तथा उत्तम (खण्ड 31, पृष्ठ 96)। ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से प्राप्त स्वर्ग अवम् कहलाता है (खण्ड 32, पृष्ठ 96)। कौषीतकि प्रा. (14.1) में कहा गया है : स्वर्गो वै लोको यज्ञः 'यज्ञ ही स्वर्गलोक है।' शत ब्रा. (13.2.8.5) में बताया गया है : एष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञापयन्ति 'जहां वे (अध्वर्यु आदि) पशु का संज्ञपन करते हैं वही स्थान स्वर्ग है।' अग्निचयनाग्नि तथा त्रिणाचिकेताग्नि से चारों स्वर्गों की प्राप्ति होती है। मध्यम स्वर्ग सूर्यलोक ही है (खण्ड 35, पृष्ठ 99)। इस प्रकार चार प्रकार की स्वर्गों की कल्पना ओझा जी की निजी प्रतीत होतीहै। (अधिक विवेचन के लिए दे. J. Gonda, 1966, Loka - World and Heaven in the Ved)। ब्रह्मविद् मृत्यु के बाद (मध्यम) स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। तथा वह जीते जी भी (जन्म-मरण) से विनिर्मुक्त हो जाता है (वृहदा. 4.4.8, दे. 4.4.8-9 पर राधाकृष्णन् के टिप्पण)। यम नचिकेतस् की परीक्षा लेने के पश्चात् उसे ब्रह्मज्ञान का रहस्य बताता है। कठो. (1.2.1-2; 1.2.4-5; 2.1.1-2; 2.3.12 यहां उदाहरण रूप में दिये हैं।

विशिष्टत्रिसत्योपनिषद् का दूसरा खण्ड (पृ. 101-5) अप्रामाण्यवादप्रतिवाद के नाम से जाना जाता है। ज्ञान एक निश्चित पदार्थ है, तथा जो यह आशङ्का करता है कि ज्ञान नहीं है उसकी स्थिति ऐसी है कि वह जिस शाखा पर बैठा हुआ है उसी को काट रहा है (श्लोक 3-5, पृष्ठ 101)।

इसी उपनिषद् का तीसरा खण्ड है जीवजगत् संशयवाद प्रतिवाद (पृ. 106-118), इसके 22 उपखण्ड हैं। तत्त्वदर्शसन्दर्भक्रम में यह दर्शाया गया है कि सांख्यों के अनुसार चित् और अचित् दो तत्त्व हैं, व्यक्तरूप से अचित् यह जगत् है, तथा यह चित् इसका भोग करने वाली शक्ति है (श्लोक 5, पृष्ठ 106)। अचित्, चित् तथा ईश्वर इन तीनों की सत्ता है यह एक त्रिसत्य है, तथा इन तीनों का ही विशिष्ट रूप ब्रह्म है (श्लोक 8)। आत्मा के विषय में कहा गया है कि वह दर्शन तथा श्रवण दोनों में ठीक रूप से व्याप्त है, तथा वह सबसे बड़ा अधिष्ठाता है (श्लोक 6, पृष्ठ 107)। जीव विज्ञान से उत्पन्न हुआ है (श्लोक 10)। ज्ञान दो प्रकार का है : निरूढ (जो निर्विषय है), तथा यौगिक (सविषय) (श्लोक 11)। ब्रह्मज्ञान ही उत्तम है। ओझाजी की अर्थौपयिकजीवसिद्धि (पृष्ठ 108), केनो. 4.1-4 पर आधारित है।

देवताओं में अग्नि, वायु तथा इन्द्र का विशेष स्थान है, क्योंकि इन्हीं देवताओं ने ब्रह्मज्ञान सबसे पहले प्राप्त किया था। अग्नि को ही वैश्वानर, वायु को श्वास, तथा इन्द्र को विद्युत् कहा गया है। इन्द्र, वायु तथा अग्नि द्वारा प्रेरित या प्रणीत तीनों भाव (तत्त्व) इस ब्रह्म में ही बद्ध हैं (श्लोक 31, पृ. 108)। तीनों भावों का अस्तित्व ब्रह्म में ही है इसकी पुष्टि के लिए उपनिषदों से श्लोक या श्रुतियां उद्धृत की गई हैं। केनो. (3.1-2; 3.11-12; 4.1-5) प्रस्तुत करके ओझाजी ने यह स्थापित किया है कि इन्द्र, वायु, अग्नि इत्यादि देवताओं से ऊपर ब्रह्म है जो जीवात्मा ही है (पृष्ठ 109)। सब इन्द्रियों में गूंथा हुआ, सब इन्द्रियों का प्रवर्तक कोई जीवात्मा है, इसकी पुष्टि के लिए केनो. (1.1-9, श्लोक 5-8 तक केवल प्रथम पाद ही उद्धृत किया गया है)। सर्वेन्द्रियों के लिए उपलब्धि का विषय जीवात्मा है (दे. छान्दो. 8.12.4-6, पृ. 110)। सर्वेन्द्रियों में गूंथा हुआ, सारे शरीर में व्याप्त, प्रज्ञानघन, विज्ञानघन कोई जीवात्मा है (दे. वृहदा. 4.5.13-15)। जीवशरीर में भूतात्मा के रूप में वैश्वानर, वायु (चेष्टाजनक) तथा इन्द्र (विज्ञानजनक) विद्यमान है। (पृ. 11. अनु.)। ज्ञान ही जगत् का मूल (आधार) है (श्लोक 42, खण्ड 13)। यही जगत् किसी के लिए आनन्द, भोग का विषय है, तथा एक दीन के लिए वही जगत् दुःखमय है। जगत् के दो भेद हैं — बहिर्जगत् जो वाङ्मय तथा प्राणमय है, तथा अन्तर्जगत् जो मनोमय है (श्लोक 60 अनु.,पृ. 115)। जो कुछ मैं देखता हूँ वह अन्तर्जगत् ही है, परन्तु बहिर्जगत् का भी अस्तित्व है। यदि बहिर्जगत् न हो तो ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होगी (श्लोक 1, खण्ड 18, पृ. 117)। आत्मा (या परमात्मा) की प्राप्ति ज्ञानेन्द्रियों से नहीं हो सकती है : 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः (कठो. 2.1.1)। इसमें यह संकेत है कि ईश्वर मनुष्य की आत्मा में व्यक्त रूप से है, बाह्य संसार में नहीं। तथा कठो. (2.1.2) 'पराचः कामान् अनुपत्ति बालास्ते मृत्योर्यिन्ति विततस्य पाशम्'। "क्षुद्रबुद्धि बाहरी भोगों के पीछे जाते हैं। वे मृत्यु के विस्तृत जाल में फंसते हैं।" बुद्धिमान् मनुष्य जीवन को अमर मानते हैं, अतः वे स्थिर पदार्थों के पीछे नहीं जाते हैं जो वास्तव में यहाँ अस्थिर हैं।

इसी उपनिषद् का चतुर्थ खण्ड (पृ. 119-26) ईश्वरजगत् संशयवाद प्रतिवाद के नाम से जाना जाता है। ईश्वर तथा जीव के विषय में ओझाजी का मत है कि जीव नष्ट तथा उत्पन्न होते रहते हैं, ईश्वर ही ध्रुव (स्थिर) है जिस पर सब जीव आश्रित हैं (श्लोक 118, पृ. 119) ।बहिर्जगत् निराधार है या आधारपूर्वक इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि जगत् असाधर्म्य के कारण आधारपूर्वक ही माना जाना चाहिए। अन्तर्जगत् ज्ञान से उद्भूत हुआ है, अतः यह ध्रुव है तथा इसकी अनुपम प्रतिष्ठा है। परमेश्वर को सभी आत्ममूल मानते हैं (श्लोक 130, पृ. 120)। वह ईश्वर शाश्वत तथा अद्वितीय है। वह सृष्टिकर्ता ईश्वर चेतनाशील, जड़स्वरूप, शुक्ल या कृष्ण वर्ण, महान् या बहुत ही अणु है। वही आत्मा है, वही ईश्वर है (श्लोक 151 अनु. खण्ड 4, पृ. 121, तु. गीता 8.26)। असमाधेयप्रश्नोत्तरसूत्र (पृ. 121-2) का आधार गो ब्रा. 1.3.5-9 (तु. शतब्रा. 11.4.1.1 अनुः (ओझा का संदर्भ 11.2.7 अशुद्ध है) । शरीर के अवयवों की तुलना भिन्न-भिन्न यज्ञों से की गई है। ये प्रश्न उद्दालक आरुणि ने स्वैदायन से पूछे हैं। आत्मा के दो भेद हैं — व्यष्टिगत तथा समष्टिगत। ये ईश्वर के ही प्रतिबिम्ब हैं (श्लोक 158, पृ. 123)। जीव इस संसार में विनाशशील होने पर भी असंख्य हैं, ईश्वर ही अविनश्वर है (श्लो. 168, पृ. 124)। यह ईश्वर सदा इच्छाओं से परिपूर्ण है (श्लोक 173)। ईश्वरजन्य यह जगत् दो प्रकार का है : अचेतन तथा चेतन (श्लोक 178)। सब प्राणी जैसे आत्मा में हैं उसी प्रकार सब प्राणियों में वह आत्मा है (श्लोक 180, पृ. 125)।

विशिष्टत्रिसत्योपनिषद् का पांचवा खण्ड परिशिष्टवाद (पृ. 127-9) है। कर्म ही जगत् है तथा वह जगत् ईश्वर ही है (श्लोक 210, पृ. 127). जो ज्ञानमय ईश्वर है उसमें सभी जीवों की स्थिति बहिर्जगत् के समान है (श्लोक 217, पृ. 128)। ईश्वर का भेद किया जा सकता है, यथा जीव भिन्न हैं तथा जगत् भिन्न है, यही त्रिसत्य नामक तत्त्व है (स ईश्वरो भिद्यत एव, जीवा भिन्ना, जगद्भिन्नमिति, त्रिसत्यम्, श्लोक 218, पृ. 128)।

त्रिसत्याद्वैतवाद इस उपनिषद् का सातवां खण्ड है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है कि जगत्, जीव और ईश्वर इन तीनों में एकात्मकता है (दे. भागवतपुराण 11.7.9)। ब्रह्म द्विविध है, पर तथा अवर (श्लोक 255, पृ. 131)। सूक्ष्मरूप परब्रह्म है तथा स्थूलरूप अवरब्रह्म है (श्लोक 256)। त्रिसत्योपनिषद् नामक खण्ड में जगत् जीव और ईश्वर के सत्यत्व के विज्ञान का प्रतिपादन है।

इस उपनिषद् का अन्तिम खण्ड उपासनावाद के नाम से जाना जाता है (पृ. 133-6)। जिस क्रिया से जीव बन्धंनमुक्त हो जाता है उस क्रिया को उपास्ति कहते हैं। उपासना से मोक्षयुक्त होकर जीव पुनः बन्धन में नहीं पड़ता है। (श्लोक 280-81, पृ. 133)। जीव (प्राणी) का मन चञ्चल है तथा परमेश्वर का मन स्थिर, शान्त तथा नितान्त (श्लोक 284, पृ. 134)। योग से मनुष्य का मन स्थिर हो जाता है (श्लोक 286)। योग तीन प्रकार का है - कर्म, भक्ति, तथा ज्ञान योग। इनमें कर्मयोग (अतीव) महत्त्वशाली है (श्लोक 288)। भक्तियोग के अन्तर्गत मंत्र, लयस्क, हठ, राजयोग इत्यादि

आते हैं (श्लोक 291) । उपासना के दो प्रकार हैं : पर तथा अवर । यह विभाजन मन की स्थिति पर निर्भर करता है (श्लोक 298, पृ. 135) । भगवद्गीता (17.3) में कहा गया है: "सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत । श्रद्धामयोऽयं पुरषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥" हे भारत ! सबकी श्रद्धा स्वभाव के अनुरूप होती है, यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है ।" यदि जीव (प्राणी) में उपासना न हो तो आत्मबल की वृद्धि नहीं होती है (श्लोक 317, पृ. 136) ।

इस पुस्तक में अन्तिम है **ईश्वरैकसत्योपनिषद्** (पृ. 137-143) । ओझा जी के अनुसार वास्तव में जगत् जीव और ईश्वर एक ही हैं उनमें त्रिकत्व नहीं है । सभी प्राणी ज्ञान के अधीन हैं, ज्ञान सबके ऊपर है (श्लोक 16, पृ. 138) । ज्ञान से भिन्न जगत् का पृथक् अस्तित्व नहीं है, अर्थात् यह सारा जगत् ही ज्ञानरूप है तथा उससे भिन्न नहीं है (दे. खण्ड 6, पृ. 138) । यही आत्मा जीव है या परमेश्वर भी (श्लो. 31, पृष्ठ 139) । ईश्वर और बहिर्जगत् में ऐकात्म्य है, यह बहिर्जगत महाज्ञान का ही आभास है । सत् या असत् से भिन्न कुछ भी नहीं है, सब एकतत्त्व ही है (श्लोक 49, पृ. 140) । ओंकार को ही (ब्रह्मज्ञानी) ब्रह्मशब्द से जानते हैं । सचमुच यह 'अहम्' ही आत्मा है वह (इससे) भिन्न नहीं है (श्लोक 50) । ईश्वर ही सर्वव्यापी है, वही सबकी एकमात्र प्रतिष्ठा है, तथा वही (ईश्वर) जीव है । इस प्रकार जीव और परमेश्वर में ऐकात्म्य है । यह जगत् ज्ञान से भिन्न नहीं है (श्लोक 66, पृ. 141) । सभी सत्ताओं की परासत्ता, पराशक्ति वह ईश्वर ही है (श्लोक 75-76) अनु. पृ. 142) । आनन्दमय 'ओम्' ही अक्षर है, यही सत्य, नित्य, विज्ञान तथा अनन्त है (श्लोक 80) । हम चिदाभास के ही अंश हैं । ब्रह्म एक ही है, हम अनन्त जीव भी एक ब्रह्म ही हैं उससे भिन्न नहीं (श्लोक 81) । जीवात्मा से अन्तर्जगत् अभिन्न है, और बहिर्जगत् परमात्मा से अभिन्न है । जीवात्माओं का हम परमात्मा के साथ ऐक्य मानते हैं, इसलिए यह एकसत्य सिद्ध हो जाता है (श्लोक 82, पृष्ठ 142) । इस सृष्टि में सर्वस्व सत् तथा असत् मय ही है (श्लोक 86, पृ. 143) ।

अन्त में उपासना का महत्त्व दर्शाया गया है । इसके द्वारा उपासक ईश्वर के साथ अद्वैत सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । उपासना तीन प्रकार की हैं — भाव, क्रिया तथा द्रव्यगत । उपासना का महत्व बताने के लिए भागवत (7.15) तथा मुण्डको. (2.2) से श्लोक उद्धृत किये हैं ।

उपासक अपनी भक्ति के कारण महेश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है । यह अणु से भी अणु तथा महान् से भी महान् विश्वेश्वर ही इस विश्व का नियामक है । अन्त में मुण्डको 2.2.8 उद्धृत किया है :

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
धीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

औपसंहारिक निरूपण: हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि पण्डितवर्य ओझाजी का संशय-तदुच्छेदवाद बहुत से विषयों तथा ज्ञानराशि का अपार समूह है । इसमें हमें संहिताओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों, सांख्य, न्याय-वैशेषिक तथा अन्य दर्शनों में उपलब्ध विचारधारा का समन्वय मिलता है ।

'सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानम्' - एक सिंहावलोकन
(विशेषत: प्रत्ययविमर्श का समङ्कन)

- डॉ. श्रीमती सुदेश नारङ्ग*

पं. मधुसूदन द्वारा विरचित ग्रन्थ 'सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानं' में सात विमर्श[1] (सप्तविध विचार) अभिव्यक्त किए गए हैं । (ग्रन्थ को 'शास्त्र' नाम से अभिहित किया है) । प्रत्येक विमर्श में तीन विकल्प[2] हैं । वस्तुत:, ब्रह्मविज्ञान अत्यन्त दुर्गम और गम्भीर विषय है अत: प्रत्येक विमर्श में तीन प्रकार की युक्तियों को प्रस्तुत किया है । यह विमर्श ब्रह्म एवं जीव तथा अनात्म पदार्थ (की सत्ता) का कथन करते हैं । वह (सत्ता) सत् है, वह असत् है तथा वह सदसत् है । श्रुति में सृष्टयारम्भण तीन प्रकार से उक्त है ।[3]

पूर्ण ग्रन्थ 652 श्लोकों में निबद्ध है । प्रत्येक विमर्श में तीन-तीन मत उपस्थापित हैं जिन्हें पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा उपसंहार का प्रायोजक मान सकते हैं । सम्भवतया उन मतों को प्रस्तावना रूप में कहकर अन्त में पं. ओझा जी ने स्वीकार्य मत को प्रतिपादित किया है । सातों में विमर्श इस प्रकार उक्त हैं —

0.1 प्रत्ययविमर्श

0.1 नित्यविज्ञानाद्वैत सिद्धान्त ब्राह्मणमत है ।

0.2 क्षणिकविज्ञानद्वैत सिद्धान्त श्रमणमत है ।

0.3 आनन्दविज्ञानाद्वैत सिद्धान्तमध्यस्थ मत है ।

---

* वरिष्ठ प्राध्यापिका । संस्कृत विभाग । मिरांडा हाउस महाविद्यालय । दिल्ली विश्वविद्यालय । दिल्ली-7.

1. पं. मधुसूदन ओझा (पं. ओझा) - सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानम् । पृ.1
पत्येकमेषु सन्ति त्रयो विकल्पा असच्च सत् सदसत् ।

2. वही । पृ.1
तेनायमेकविंशी सदसद्वादो निरूप्यते सम्यक् ॥

3. वही । पृ.2
इत्थं सदसत् सदसत् सृष्टयारम्भणमिति श्रुतौ त्राणि ।
सन्ति मतानि विमशस्तिषां सप्ताधिकरणाः स्युः ॥

0.2 प्रकृतिविमर्श

0.1 कर्म्माद्वैतसिद्धान्त वैनाशिक मत है ।

0.2 ब्रह्माद्वैतसिद्धान्त अविनाशि मत है ।

0.3 द्वैताद्वैतसिद्धान्त वैनाशिकवदविनाशिमत है ।

0.3 तादात्म्यविमर्श

0.1 भिन्नाभिन्नत्व सिद्धान्त धर्माधर्मी बल और रस के अभेद का प्रतिपादक है ।

0.2 बलसारत्व सिद्धान्त बल के प्राधान्य को स्थापित करता है ।

0.3 रससारत्व सिद्धान्त रस के प्राधान्य को स्थापित करता है ।

0.4 अभिकार्य्य विमर्श

0.1 असत्कार्यवाद द्वारा वैशेषिकमत का प्रस्तावक है ।

0.2 सत्कार्यवाद द्वारा प्राधानिक (सांख्य) मत का पोषक है ।

9.3 मिथ्याकार्य्यवाद द्वारा शारीरकमत का उपस्थापक है ।

0.5 गुणविमर्श

0.1 असन्मूला सृष्टि के प्रस्तोता दार्शनिक प्राणमूलकसृष्टिवादी हैं ।

0.2 सन्मूला सृष्टि के प्रस्तावक वाङ्मूलक सृष्टिवादी हैं ।

0.3 सदसदैकात्म्यमूला सृष्टि के व्याख्याता मनोमूलक सृष्टिवादी हैं ।

0.6 सामञ्जस्यविमर्श

0.1 प्रागभावसमुच्चितकारणवाद अभावपूर्वकभावोत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तावित करता है ।

0.2 सम्भूतिविनाशवाद उत्पत्तिविनाशप्रवाह सिद्धान्त कक्ष को उभारता है ।

0.3 विद्याविद्यावाद सर्वजगदभावात्मकभावमूलकसृष्टि को स्वीकार करता है ।

0.7 अक्षरविमर्श

0.1 सौगतमत में सृष्टिबीजरूप अक्षर के अव्यक्त बलरूप को माना है ।

0.2 कापिलमत में सृष्टिबीजरूप अक्षर के जडप्रधानरूप को व्यक्त किया है ।

0.3 बादरायणमत में सृष्टिबीजरूप अक्षर के चेतनपुरुष रूप को स्वीकार किया है ।

प्रकृत निबन्ध में प्रथम प्रत्ययविमर्श (प्रत्यय=निश्चित धारणापरक; विमर्श=विचार) में नित्यविज्ञानाद्वैत सिद्धान्त की चर्चा की है। पं. ओझा ने इसे 'ब्राह्मणमत' कहा है। पं. ओझा ने (क) असद्वाद को पुष्ट करने वाले, पुनः (ख) सद्वाद को ज्ञापित करने वाले और अन्ततः (ग) सदसद्वाद को व्यक्त करने वाले वेदवचन उद्धृत किए हैं।

(क) असद्वाद — ऋग्वेद के ऋषि की युक्ति है — देवों के पूर्वयुग (अर्थात् सृष्टि के आदि) में असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।[4] तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार पहले असत् ही था, उससे सत् की उत्पत्ति हुई। तैत्तिरीय उपनिषद्[5] भी संहिता वचन का अनुवाद करती है। उस परमात्मा ने अपने आप को स्वयं (अर्थात् इस रूप में प्रकट किया) बनाया। उससे उत्पन्न हुए को सुकृत कहते हैं। पहले कुछ भी नहीं था। न द्यौः था, न पृथिवी थी, न अन्तरिक्ष था, वह असत् ही सत् हुआ। उसने इच्छा की - "मैं (उत्पन्न) हो जाऊं।'[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार असत् से मन उत्पन्न हुआ। मन ने प्रजापति को उत्पन्न किया।[7] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आदि में कुछ भी नहीं था। भक्षण करने वाले मृत्यु से यह सब आवृत था। अशनाया (=भक्षण की क्रिया=लय) ही मृत्यु है। (लय के उपरान्त) मन की सृष्टि हुई - 'मैं आत्मरूप में हो जाऊं।'[8]

(ख) सद्वाद — तैत्तिरीय संहिता[9] के अनुसार 'जो हमारा पिता है, जनक है, जो विधाता है, जिसने हमारे लिए सत् से असत् की उत्पत्ति की।' ताण्ड्यब्राह्मण उपनिषद्[10] में श्रुत है - 'पूर्व में सत् ही था। असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो? तैत्तिरीय उपनिषद्[11] के आर्षवचन हैं - यदि (कोई) ब्रह्म नहीं है - इस प्रकार समझता है (तो) वह असत् ही होता है और यदि (कोई) ब्रह्म है - ऐसा जानता है (तो) इसको ज्ञानीजन सत्पुरुष समझते हैं - ऐसा (यह उक्त है)।

(ग) सदसद्वाद — शतपथब्राह्मण[12] के अनुसार प्रारम्भ में न असत् था, न सत् था। 'यह पहले था' - 'ऐसा नहीं था।' अतः ऋषि-वचन है - तब न असत् था न, सत् था। छान्दोग्योपनिषद्[13] में उक्त है - पहले असत् ही था। वह सत् हुआ। वह उत्पन्न हुआ। वह अण्ड हो गया। शतपथ

---

4. पं. ओझा — पूर्वोक्त ग्रन्थ। पृ.1 द्र. ऋग्वेद (ऋ) 10.72; 10.129.3.
5. वही। द्र. - तैत्तिरीय उपनिषद् (तै.उप) 2.7
   असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
   तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते।
6. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ। पृ.1 द्र. तैत्तिरीय ब्राह्मण (तै.ब्रा.2.2.9)
7. वही। द्र. - तै.ब्रा.2.2.9.
8. वही। द्र. - शत.ब्रा.10.4.8.
9. वही। द्र. - तै.सं.4.6.2.3.
10. वही। द्र. - ता.ब्रा.उप.6.2.
11. वही। द्र. - तै.उप.2.6. असन्नेव स भवति असब्द्रह्मेति वेद चेत्।
    असति ब्रह्मेतिचेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥
12. शत.ब्रा.10.4.1.
13. ताण्ड्य ब्राह्मण छान्दोग्योप. खण्ड 19.

ब्राह्मण[14] में उक्त है — अथवा यह पहले असत् था । क्या वह असत् था ? वह ऋषि (कहते हैं कि) पहले असत् था - ऐसा ।

निष्कर्ष — सदसदयोनि (=स्वरूप=रहस्य) वाले ब्रह्म को बताने वाले वेदवचन हैं । वेन[15] नामक चिन्तनशील ने यथाविधि उपासना द्वारा प्रथमतः जानने योग्य का (विआवः=) साक्षात् किया । पुनः सामने सीमा से मर्यादित सु-सुन्दर (विश्व) को आविष्कृत किया (अर्थात् उसका दर्शन किया) । वेन बनकर उस (महामानव) ने इस सृष्टि की (बुध्न्याः=) मूलीय तथा (उप-माः=) निदर्शक (वि-स्थाः=) विस्थितियों को (सतः च असतः च) अविनश्वर के तथा विनश्वर के योनि (=स्वरूप=रहस्य) को (विवः=) खोजा, समझा ।[16]

प्रत्यय विमर्श — शास्त्र में 'प्रत्ययाद्वैत विमर्श' यह अपर संज्ञा है । इसके तीन विकल्प हैं । प्रथम विकल्प 'नित्यविज्ञान वाद' कहलाता है । इसे 'सद्वाद' कहा है । पं. ओझाजी ने इसका उद्घाटन त्रिपुटी (द्रष्टा, दृश्य और दृक् संज्ञक) प्रसङ्ग में (i) एकतासूत्र, (ii) दृश्यपृथकतासूत्र तथा (iii) वैज्ञानिकतासूत्र के अन्तर्गत किया है ।[17]

(i) त्रिपुटी प्रसङ्ग में द्रष्टा, दृश्य और दृक रसों का एकता सूत्र — सूक्ष्मेक्षिक होने से अक्ष (=इन्द्रियों में) विचक्षण (=समर्थ) ब्रह्म के वेत्ता ब्राह्मण कहते हैं कि जैसे एक ब्रह्म ही अखण्डविज्ञानमय यह समस्त जगत है । (पं. ओझाजी द्वारा दी गई युक्ति के आधार पर) मेरे इस दर्शन (सामर्थ्य होने) में मैं विश्व को देख रहा हूं उसमें द्रष्टा और दृश्य भिन्न प्रतीत होते हैं परन्तु कोई द्रष्टान्तर (अन्य द्रष्टा) अभिन्न एक (ऐसा) है (जिसके समान अन्य कोई नहीं जबकि दृश्य (पदार्थ) बाह्यस्थित बहुत से हैं । द्रष्टा, प्रमाता, विषयी सद्(अविनश्वर) अर्थ है, और ज्ञाता है, और ब्रह्म है — ऐसा कहने पर अर्थ में भिन्नता नहीं है । (इसके विपरीत) दृश्य, प्रमेय, विषय को असद् (विनश्वर) अर्थ, ज्ञेय और कर्म से अर्थभेद नहीं होता । द्रष्ट और दृश्या - उन दोनों का दृग् में समन्वय प्रत्यय (निश्चित धारणा) उक्त है । वह द्रष्टा का सार है, वहां दृश्य द्रष्टा से पृथक् स्वतन्त्र नहीं हो सकता ।

---

14. शत.ब्रा.6.1.1.
15. वेनृ से निष्पन्न । चिन्तने, ज्ञाने, गत्यां, दर्शने ।
16. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ2 द्र.- यजुर्वेद 13.3; सामसंहिता (पू.) 4.1.3.9; अथर्वसंहिता 4.1.1.
   ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् विसीमतः सुरुचो वेन आवः ।
   सः बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥

द्र.— स्वामी विद्यानन्द विदेह - वेद व्याख्या ग्रन्थ । त्रयोदश पुष्प । पृ.864-865 यजुर्वेद मन्त्र 13.3.

17. वही । पृ.1-2. नित्यविज्ञानवादः । (सद्वादः) ।

यहां द्रष्टा विज्ञानमय भाग है तथा वहां दृश्यभाग सत्तामय है। द्रष्टा का जो पृथकत्व है, भाग (दृश्य) में उसे प्रतीतिमात्र जानें। यहां यह अर्थ प्रतिपादित हुआ कि वह कोई वस्तु नहीं जो इस लोक में नहीं है। जो अ-प्रमाणित है वह नहीं है, अतः जिसकी उपलब्धि है, वह 'है' — ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए न दृश्य है, न दृश्य (विनश्वर) की सत्ता है, द्रष्टा ही सब कुछ है, और दृष्टि उस (द्रष्टा) से अन्या (भिन्न) नहीं है। अस्ति (=है) - ऐसा जो प्रतिपादित करते हो वह दृष्टि है, दृष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं।[18]

(ii) त्रिपुटीप्रसङ्ग में दृश्यपृथकतासूत्र — यदि यह मान लें कि दृश्य है ही नहीं तब किसके द्वारा (अर्थात् कैसे) इस विभु द्रष्टा की भिन्नता का भाव होगा। (उत्तर देते हैं) द्रष्टा विभु है, सर्व है, एक की भांति (अनन्य) है अतः मृग अथवा मनुष्य को पृथक् न मानें। यह जो प्रत्यय (निश्चित धारणा) है चैत्र नाम का एक व्यक्ति है, वही मैत्र है, वही देवदत्त है। एक विद्वान् है, दूसरा मूर्ख है — तब यह कैसे हो सकता है कि दूसरा दूसरे के मध्य में ही मान लिया जाए क्योंकि जो नहीं है वह प्राप्त करने पर भी उपलब्ध नहीं होगा चाहे उसकी उपलब्धि के लिए बहुत प्रकार से प्रयत्न किए जाएं। जो दिखाई देता है, वह भी (कभी-कभी) दिखाई नहीं देता, यदि हम दृष्टि में बांध न लें। (कभी-कभी) खुली हुई आंखों से भी अन्तर्हित पदार्थों को नहीं देख पाता अथवा प्रसुदा होने पर नहीं देख पाता। लौकिक विषयों के प्रति भी दृष्टि एक रूप नहीं रहती अतः व्यच्छेद (पृथक्) करने पर वह भिन्न हो जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि लोक में कोई दृश्य पदार्थ नहीं होगा तब प्रमाणरूप ज्ञान भी नहीं होगा। यदि द्रष्टा को ही दृश्य मान लें तब भ्रम (भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला विषय) एवं विकल्प ही प्रमाण हो जाएगा।[19]

दृश्य के भिन्न होने पर उस (द्रष्टा) के द्वारा युक्तभाव से उत्पन्न अवबोध प्रमाण होता है। अतः उसके द्वारा (उस ज्ञान का) प्रयोग न करके जो जायमान ज्ञान का भान होता है, वह अप्रमाण है।[20]

(iii) त्रिपुटी प्रसङ्ग में वैज्ञानिकता सूत्र — इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि इस संसार के दृश्यमान पदार्थ स्वप्न में दिखने वाले पदार्थों के समान हैं। स्वप्न में एक अभिन्न विज्ञान है। पूर्वकालिक (सृष्टि के आदि में) और परकालिक द्रष्टा भी, दृश्य भी और दृष्टियां भी — वह सब उस (स्वप्न) की भांति ही है। इस विषय में कहते हैं कि यह स्वप्न की भांति नहीं है क्योंकि चैत्र के स्वप्न में भी चैत्र पृथक् है, अन्य के स्वप्न में भी पृथक् है। वह (सभी बोध) चैत्र के विज्ञान को व्यक्त करने वाले हों - इस विषय में वैसे ज्ञान से क्या होगा? जाग्रदवस्था में विषय का ग्रहण कराने वाले उस ज्ञान से क्या सिद्ध

18 पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ। पृ.1 पद्य 1-7.

19. वही। पद्य 8-12

20. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ। पृ2 पद्य 13.

होगा ? चैत्र का (ज्ञान) कैसे (मैत्र का) नहीं ? मैत्र का (ज्ञान) कैसे (चैत्र का) नहीं ? - इसका विनिर्धारण करना सम्भव नहीं । मैं स्वप्न देख रहा हूं - इस प्रकार ऐसा मेरा अभिमान (मानना - समझना) है अथवा पर (अन्य) का अभिमान है । चैत्र के स्वप्न में मैत्र ने जैसे कहा उसे मैत्र नहीं जानता (यद्यपि) वह यह मैत्र (इस क्षण में) जाग रहा है । अत: स्वप्न का द्रष्टा ही वेत्ता है, स्वप्न के अन्त में (वह द्रष्टा) कुछ नहीं जानता । यहां जागते हुए मैं इन परस्पर प्रत्ययकारियों को देख रहा हूं अत: केवल जानने का मान करने वाले यह स्वप्न की (अवस्था में जागरण की) भांति जागते नहीं हैं ।[21]

उपर्युक्त तर्कों के सम्बन्ध में कहते हैं स्वप्न की भांति ही जाग्रदवस्था है । सभी लोक (दिखने वाले पदार्थ) स्वप्न के अन्त में दिखने वाले दृश्यों की तरह हैं । यहां हिरण्यगर्भ सर्वज्ञ देव द्रष्टा स्वप्न देखता है । जैसे वह उसके स्वप्नलोक (में दिखने वाले) हम परस्पर एक दूसरे के प्रत्यय को प्राप्त करते हैं वैसे ही मेरे (अर्थात् प्रत्येक जीव के) स्वप्न में दिखने वाले यह एक दूसरे का प्रत्यय (निश्चय) करते हैं । यदि स्वप्न में प्रत्यय न हो तो कैसे परस्पर व्यवहार-सिद्धि होगी ? एक (द्रष्टा) जैसे आदेश देता है वैसे ही दूसरा व्यवहार करता है, प्रतिभाषण करता है । मेरे स्वप्न में दिखने वाले अन्य हैं, तत: प्रक्रममूल (विचरण करने के) भेद से यह अन्य जागते हैं । अत: मेरे स्वप्नगत इस अन्य सम्प्रत्यय को यह (जाग्रदवस्था वाले) नहीं जानते ।[22]

कहा है — सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ का स्वप्न उसका विज्ञानमय प्रपञ्च है । मेरा (जीवमात्र का) भी विज्ञानमयप्रपञ्च स्वप्न कैसे हो ? उन दोनों में विभेद है । यहां स्पष्ट करते हैं कि विशेष से वैज्ञानिकता में भेद होते हैं, उसी से द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि के भेद होते हैं । इस प्रकार स्वप्न के साथ समता मान लेने पर प्रमा पर आक्षेप का कथन निरस्त हो जाता है । जैसे भ्रम और प्रमाण में विभेद करके विषय समझ में आता है वैसे ही स्वप्न और जाग्रद् अवस्था के विषयों को जानें ।[23]

'ज्ञान' यहां लौकिक विषयों को जानने में प्रमाण है, जो स्व (=अपने रूप) को जानने की दृष्टि प्रदान करता है । यदि जीव ज्ञान पर अवस्थित अर्थ को पहचान लेता है तो वह 'प्रमाण' को प्राप्त कर लेता है । प्रमाणरूप विज्ञानपथ-व्यवस्था सिद्ध है । वह दृश्य जो प्रत्यय से भिन्न नहीं है, उसे समझा नहीं जा सकता । अत: प्रत्ययमात्र ही ध्रुव है, यह द्रष्टा भी दृश्यों का समूह है, प्रत्ययिता से प्रत्यय पृथक् नहीं है, अत: उपसंहार में यह कह सकते हैं कि यह सब द्रष्टा ही है ।[24]

---

21. वही । पद्य 14-18
22. वही । पद्य 19-22
23. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ2 पद्य 23-25
24. वही । पद्य 26-28.

षडुपाधिविवेक में चतुरायतनसूत्र

द्रष्टा अपने आयतनों की कल्पना करता है, उनकी बहुत सी विभक्तियां हैं। वह आयतन अवच्छेदकता को प्राप्त होते हैं अतः तादृश कूटस्थ यह भिन्न होता है (अर्थात् भिन्नता को प्राप्त होता है)। इस दृश्यमान जगत् में ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, भूत और धर्म (यह चार आयतन) बहुत से अपने भेदों द्वारा उन इन्द्रियों को प्राप्त करके ज्ञान एवं क्रिया द्वारा (द्रष्टा जीव) अनेक विषयों का भोग करता है। द्रष्टा (परमात्मा) अपनी दृष्टि से इन विषयों की सृष्टि करके पुनः इनमें प्रविष्ट हुआ अदृष्ट हो जाता है। (पुनः उन का भोग करता है अर्थात् अपने में विलय कर लेता है। (जीवरूप द्रष्टा को) यह सब विषय प्रिय लगें अतः अपने लिए इन सब का विधान करता है (अर्थात् इनकी संरचना करता है)। पति, पत्नी, पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, यह लोक (भूः भुवः, स्वः) देव, भूत और जो सब कुछ है वह आत्मकामना के लिए उनको प्रिय नहीं।[25]

श्रुति, दृष्टि, मन अथवा अन्य (इन्द्रिय) द्वारा वह श्रव्य है, दृश्य है, भाव्य है। जो कुछ सुनता हूं, देखता हूं, सोचता हूं, जिसका निश्चय करता हूं (इनका अभिमानी) यह एक आत्मा है। द्रष्टव्य रूप और दृष्टि आत्मा है; श्रोतव्यशब्द और श्रुति यह आत्मा है; मन्तव्य कामनाएं तथा मन आत्मा है; निदिध्यासितव्य और बुद्धियां आत्मा है; श्रोत्र, चक्षु, मन, बुद्धि और उनके सब अर्थ (विषय) वह आत्मा है; वह द्रष्टा ही अक्ष (इन्द्रिय रूप) आयतनों में रहता हुआ उन अर्थ (विषय रूप) आयतनों में संस्थित होता है। तो इस प्रकार इस आत्मा की दृष्टि, श्रुति, मति और विनिश्चय से सब विदित हो जाए क्योंकि अन्य कुछ भी न देखता हूं अथवा सुनता हूं। जो आत्मा से अन्यत्र (भिन्न) ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोकों, अखिलदेवों, भूतों, उस सबको जानता है, उससे वह सब दूर हो जाते हैं, वह उन सब (के वास्तविक स्वरूप) को ग्रहण नहीं करता अर्थात् उन्हें नहीं समझता। जो ब्रह्म है, जो क्षत्र है, जो यह लोक है, देव, भूत और जो सब है वह यह आत्मा ही है जैसे कि रश्मि ही ज्योति, ताप, नेत्र और धूम है। (अन्य दृष्टान्तों द्वारा इस मत को स्थापित किया है) जैसे आहन्यमान (प्रताडित) दुन्दुभि से बाह्यशब्दों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, शब्द को ग्रहण करने के लिए वह दुन्दुभि पर आहत (उस घात को करने वाले) मनुष्य सहित को ग्रहण करता है। जैसे आध्मायमान इस शंख के इन शब्दों का ग्रहण नहीं करता (परन्तु) शब्द को ग्रहण करने के लिए वह शंख बजाने वाले मनुष्य सहित शंख को पकड़ता है। जैसे आर्द्र ईन्धन में लगाई गई अग्नि से धूम पृथक् होकर विचरण करता है उसी प्रकार उस महान् से भी वह समस्त वाङ्मय पृथग् होकर विनिश्वसित होता है। यह चारों वेद, पुराण, इतिहासविद्या, उपनिषद्, प्रपञ्च, श्लोक (छन्द), विचार-अनुविचार की भाषा (आन्वीक्षिकी) अथवा सूत्र (वेदाङ्ग) उसके निश्वास हैं। द्रष्टा विज्ञानमय वह आत्मा जैसे-जैसे देखता है वैसे ही उस द्रष्टा से

25. वही। पृ3, पद्य 1-4

समस्त वाङ्मय उत्पन्न होता है; वाङ्मय से अन्यों की प्रज्ञा का उदय होता है । यह आत्मा बहुत से एकायनों की कल्पना करके समस्त भूतों को धारण करता है । जैसे अखिल जलों का एकायन समुद्र है उसी प्रकार इन सब को जानें ।[26] क्रमपूर्वक स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं शब्द और कल्पना का एक मात्र आश्रय त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, कान और मन है । वेद के, गति के, कर्म के, विद्या के, (मल) विसर्जन द्वारों के तथा रतिके क्रमशः एकमात्र आश्रय वाक्, पाद, पाणि, हृदय, पायु तथा उपस्थ का धारणकर्त्ता यह है । जैसे जल से उद्भूत नमक का खण्ड जल में फेंके जाने पर उसमें ही विलीन हो जाता है, उसका (पुनः) ग्रहण नहीं कर सकता अथवा जिससे उसे ग्रहण करे, उसमें लवण की प्रतीति होगी । इसी प्रकार यह महान् भूत अपार है, यह अनन्तविज्ञानघन इन भूतों से उठकर विनष्ट हो जाता है, इन्हीं में विलीन हो जाता है, वह मरकर इस प्रकार विलीन होता है — ऐसी इसकी संज्ञा नहीं है । यदि द्वैत है तो इतर से इतर को देखे, सूंघे, सुने और उसके विषय में कहे, उसका मनन करे, उसे जाने । यदि उस विज्ञाता का सब आत्मा है तब किससे देखे, किसे सूंघे, किसके विषय में कहे, किसको सुने, किस का मनन करे, किसे जाने किन्तु द्रष्ट-दृश्य आदि की पृथक्त्व सिद्धि कौन करे । जिस (की प्रेरणा) से यह (उपर्युक्त अभेद) जान लेता है उस समस्त को किसके द्वारा जानने में यह समर्थ हो । जब द्रष्टा ही इन (समस्त) दृश्यों को देखता है तो कहो इस द्रष्टा को कौन देखे (अर्थात् उसे देखने में कोई भी समर्थ नहीं है) ।[27]

आत्मा की सात अवस्थाएं

इस आत्मा की सात अवस्थाएं होती हैं — प्रजागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, सम्मोह, मूर्च्छा, मृत्यु और मुक्ति । उन सात अवस्थाओं से अन्यत्र कभी भी आत्मा नहीं है । आत्मा की दो प्रमुख अवस्थाएं हैं संसार और निस्तार । मुक्ति निस्तार है, इससे परे वह छः अवस्थाएं संसार (की) हैं । जो संसृति (संसार) है वह द्विविध है । स्थूल देह का त्याग करता हुआ यह मृत्यु में स्थित हो जाता है । स्थूल देह में स्थित यह पांच अवस्थाओं में होता हुआ भी जीवित अवस्था में स्थित कहा जाता है । वह जीवित रहते हुए भी दो प्रकार का है — जाग्रद् और सुप्त । सुषुप्तावस्था में वह प्रकृतिस्थ माना जाता है । सम्मोहित, मूर्च्छित यह आत्मा रुग्ण, विकारी,दुखस्थ कहा गया है । मूर्च्छा को प्राप्त हुए इसका चैतन्य (शरीर से) दूर हो जाता है (अथवा निकल गया कहा जाता है), निश्वास की निवृत्ति हो जाती है । मोहावस्था में देखते हुए भी यह नहीं देखता । मन, क्रिया के स्तम्भन से (यह) अचेत (होता) है । इस प्रकार जीवित व्यक्ति की चार अवस्थाएँ भी किसी प्रकृति के कारण नहीं होतीं, उनमें से तीन प्रकृतियां ही स्वाभाविक हैं, (अग्रिम प्रकरण में) उनका विशेष निरूपण करते हैं (किया है) ।[28]

---

26. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ.3 पद्य 5-16
27. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ.3-4 पद्य 17-23.
28. वही । पृ.4 पद्य 24-29.

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएं

जीव की तीन अवस्थाएं हैं — जाग्रद् और सुषुप्ति तथा उन दोनों की सन्धि। जब वह सब आयतनों में प्रतिष्ठित होता है तब उसे जाग्रत् कहते हैं, उन आयतनों में वह रमण करता है। जब सब आयतनों में योग (संश्लेष) का परित्याग कर देता है, तब वह अपने स्वरूप में स्थित मात्र एक होता है - यह सुषुप्ति है। उन दोनों की सन्धि में स्वप्न (अवस्था) है इस प्रकार यह त्रिविध प्रतिष्ठा है। प्रजागर, स्वप्न और सुषुप्ति - यह तीनों अवस्थाएं जाग्रत् में साथ-साथ होती हैं। वह स्वप्न यदि दो (प्रकार का) होता है (तब) अ-प्रजागर में सुषुप्ति द्वन्द्व-सहित नहीं होती, वह अ-सहायिनी (होती) है। देह से बाहर विषयों का भोग होता है, वह यह जागर बाह्य इन्द्रियों का आश्रय है। आत्मा, मन और इन्द्रियवर्ग - यह तीनों उसमें साथ ही उत्पन्न होते हैं। यदि वह स्वप्न है तब अ-स्पर्श से बाह्य जगत् के (विषयों का चिन्तन करने से वह) विषय इस (जीव) में अन्तः स्फुरित होते हैं। आत्मा और मन दोनों यहां साथ ही व्यापृत (व्याप्त) रहते हैं, बाहर से वह इन्द्रियों का स्वामी नहीं होता। अ-जाग्रत् चिन्तन करने वाले उसके (लिए विषयों के) यह रूप स्पष्ट होते हैं, वह बाह्यस्थित रूप की तरह होते हैं। क्योंकि ज्योति रूप मानसचन्द्र में वह ज्योति उस क्षण में रात्रि में ज्योतिः की भांति प्रकाशित होती है। बाह्य जगत् के तेज से एकदम स्पृष्ट मन अभिभूत अ-प्रभ हो जाए, जैसे दिन में चन्द्र अ प्रभ हो जाता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था के ध्यात विषयों का रूप अस्पष्ट हो जाता है। स्वप्न में भी और जाग्रत् (अवस्था) में भी जहां कुछ स्पष्ट लक्षित नहीं होता, न अनुचिन्तन करता है, इन्द्रियों सहित जहां मन आसक्त नहीं होता, जहां आत्मा निर्द्वन्द्व होता है, उस अवस्था को सुषुप्ति कहा है। जो प्राणों में विज्ञानमय है, हृदय में अन्तर्ज्योति वह आत्मा प्राणमय है। वह दोनों लोकों में अनुसंचरण करता हुआ लीला करता है अथवा यथेच्छ (विषयों का) ध्यान करता है। कभी वह एकान्त विहारशील है, कभी उत्पन्न जगत् में विहार करता है, स्वप्न के अन्त में, बोध के अन्त में विहारशील वह प्राण की क्रिया करता हुआ अथवा अपान की क्रिया करता हुआ दोनों अवस्थाओं में जाता (रहता) है।[29]

1. जाग्रदवस्था — यह जाग्रद् है (इसका अभिप्राय यह है कि) यह बाह्यचर है। इसकी पांच ज्योतियां हैं — रवि, इन्दु, अग्नि, वाणी तथा आत्मा। इनके द्वारा यथोपलब्ध व्यस्त और समस्त रूपों से यह (जीवात्मा इस जगत् को) देखता है।[30]

2. स्वप्नावस्था — स्वप्न (जाग्रद् और सुषुप्ति की) सन्धि में जब वह अवस्थित होता है तब सब ओर से इस लोक की मात्राओं को हटाकर, आत्मज्योति द्वारा अपने लिए नवीन रूपों को प्रकट करता है। वहां न कोई (पृथक्) मार्ग है, न रथ है, न योग (मिलने वाले मार्ग) हैं, न कमलों से युक्त सरिताएं हैं, न

---

29. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ। पृ.4-5 पद्य 30-39
30. वही। पृ.5. पद्य 40

सरोवर हैं । यह (द्रष्टा जीव) इच्छानुसार सब की सृष्टि करता है, इस स्थिति में वह अखिल का कर्ता ही द्रष्टा है । बृहदारण्यकोपनिषद् में उक्त है - सात अवस्थाओं के अन्त वाला उच्चावच अवस्था का वीक्षण करता हुआ वह देव बहुत से रूपों का निर्माण करता है, उत्ता (उद्ग्रहीता) की भांति स्त्रियों के साथ आमोदित होता हुआ, उत्ता की भांति भयों को देखता हुआ भोग करता हुआ सा जाना जाता है । आत्मा को आवेष्टित करके शरीर संस्था का निर्माण करता है, भूत संघों में अन्-आदेष्टित हुआ (उनका निर्माण करता है) । उस स्थिति में शरीरसंस्था वैज्ञानिकी है, संस्कार सिद्ध है, वह भौतिकी नहीं है । वह द्रष्टा आत्मा यदि (शरीर संस्था में) सन्निधान (की प्रक्रिया) नहीं करता तो इस संसार में कुछ भी न हो । निश्चय ही वह (द्रष्टा मानों) उन निरिन्द्रियों में इन्द्रियां होती हैं परन्तु वह विलक्षण होती हैं । सूक्ष्मेन्द्रिय होने के कारण उसे निरिन्द्रिय कहते हैं, इसका अभिप्राय यह नहीं कि वहां इन्द्रियों का अभाव ही है । वह (द्रष्टा) समस्त का भोग करता है, शयन करता है, जाता है, जागता है, श्लिष्ट होता है परन्तु यह सब भिन्न रीति से होता है ।[31]

3. सुषुप्त्यवस्था — सुषुप्त वह इस लोक का, दृश्यमान रूपों का तथा मृत्यु का भी अतिक्रमण करता है । चाहे तब वह किसी (पदार्थ) की कामना नहीं करता, न किसी स्वप्नमय पदार्थ को देखता है । प्राज्ञ आत्मा से अतिशय संश्लेष को प्राप्त वह किसी भी विज्ञान (विभिन्न विषयों का ज्ञान) को नहीं जानता । न बाह्य को, न अन्तर को जानता है, वह उस अ-कामी का शोकातिक्रान्त रूप है । विज्ञान आनन्दमय (उस अवस्था) में दृढ़तापूर्वक आश्रित वह प्राज्ञ आत्मा उसे पर (रूप में) नहीं जानता । (पुनः कहा है) न वह बाह्य को, न आन्तरिक रूप को पहचानता है क्योंकि तब उस अवस्था में काम का वह शोकातिग रूप है । (उस अवस्था में) पिता के पितृत्व, प्रसूता के प्रसूत्व, पुत्र के पुत्रत्व, पुमान् के पुंस्त्व का अपगमन होता है (दूसरे शब्दों में पिता आदि रूप निवृत्त हो जाते हैं) । पुरुष के साथ स्त्री की स्त्रीत्व, पति का पतित्व, वधू का वधूत्व भी अपहृत होता है ।[32] न ब्रह्मचारी, न गृहस्थ, न वानप्रस्थ, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र, न तापस, न श्रमण, न भिक्षु, न दीन, न दरिद्र, न बली, न राजा (होता हुआ) वह पुण्यों, पापों, सकल कामनाओं से अन्वागत (युक्त) न हुआ, विरज (रागरहित) हुआ प्रसन्न होता है । वह शिव हुआ अपने रूप में रमण करता है, तब वह हृदय के सब शोकों को पार कर जाता है । वह द्रष्टा देखते हुए भी नहीं देखता, वह घ्राता सूंघते हुए भी नहीं सूंघता, वह श्रोता सुनते हुए भी नहीं सुनता । यह स्प्रष्टा स्पर्श करते हुए भी किसी पदार्थ का स्पर्श नहीं करता । वह रस क्रिया वाला स्वाद लेता हुआ भी स्वाद नहीं लेता । वह बोलता हुआ अथवा वदिता होकर भी नहीं बोलता । वह मन्ता मनन करता हुआ इसका मनन नहीं करता । वह वेत्ता उसे जानता हुआ कुछ नहीं जानता । इस अविनाशवृत्तिवाले समनित्यवृत्ति वाले के स्पर्श, दृष्टि, वचन, श्रुति, घ्राण, मति, स्वदिति, प्रवित्ति की

---

31. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ5 पद्य 41-46.
32. वही । पृ.5-6. पद्य 47-50.

परिलुप्ति (क्षति) नहीं होती। किन्तु उसका द्वितीय (समान) नहीं है, कोई ऐसा विभक्तांश नहीं है, जिसका यह दर्शन करे, जिसके विषय में श्रवण करे, जिसका आस्वादन करे, जिसका मनन करे, जिसे जाने-समझे, जिस के विषय में सुने जिसका स्पर्श करे, जिसके विषय में बोले, जिसको देखे, आस्वादन करे, जिसे सूंघे परन्तु अद्वैतभाव से किसी पृथक् विषय में नहीं जानता। वह सम्पद् हमारी परम गति है, वह अखिल (विभक्तियों) का परम लोक है, वह (मनुष्य में) परम आनन्दमात्र है, उसके (अतिरिक्त) अन्यभूत उपजीव्यमात्रा के रूप में जीवित रहते हैं। बहुतों का समस्त भोगों द्वारा समृद्ध सम्पन्नतम अधिपति होता है। परम आनन्दमात्राएं मनुष्य में हैं, तदुपरान्त देवों में, तदनन्तर अकाम जीव में भी होती हैं। यदि वह चिरकाल तक स्वप्नान्त निष्ठ होवे तब चिरकाल तक यह जड प्रपञ्च रहे। (उस) अ-तदिन्द्रिय की बोध के अन्त में प्रकट होने वाली सामग्री स्फोट (मन में उत्पन्न होने वाले विचार) से व्यक्त होती है, वहां वह प्रबोध (के कारण) नहीं है।[33]

4. मूर्च्छावस्था — मूर्च्छा भिन्न अवस्था है यह जागर नहीं है। ज्ञान आदि के अभाव के कारण यह सुप्ति नहीं। अन्तर्जगत् की सृष्टि के सु-स्पष्ट दर्शन के अभाव के कारण सुषुप्ति नहीं, न श्वसन आदि के अभाव के कारण यह उत्क्रान्ति (प्राणों का निकल जाना) है। हृदय के कम्पन (के अनुभव) से, रक्त में उष्णता होने, विशीर्ण (सड़ी हुई) गन्ध न होने से समुच्चित सब प्रकार की अवस्था मूर्च्छा है, अन्य अवस्थाओं की पहचान से (यह भिन्न अवस्था है)।[34]

5. उत्क्रान्त्यवस्था (मृत्यु)

स्वप्न के अन्त में इस प्रकार सुखपूर्वक विहार करते हुए वह बोध के अन्त में (अर्थात् बोधावस्था) में पुनः विहार करने के लिए आता है। जैसे इस (देह) का त्याग करते हुए विचरण नहीं करता उसी प्रकार प्राज्ञयुक्त यह अपने (शरीर) को त्यागते हुए चला जाता है। दृष्टान्त देते हैं - जैसे फल बन्धन से मुक्त होता है उसी प्रकार यहां अंगों से वह मुक्त होता है। प्राणमय प्राज्ञात्मा द्वारा वह इन्द्रियों सहित यहां प्राण के लिए आद्रवित होता है (अर्थात् प्रत्यावर्तन करता है - लौटने के लिए छटपटाता है)। तब हृदय में एकनिष्ठ हुआ सब प्रकार से तेजयुक्त वह मात्राओं को चारों ओर से ग्रहण करता है। प्राणों के साथ एकरूप हुआ वह उत्क्रमण करते हुए मृत्यु समय में हृदय के अग्रभाग में प्रद्योतित होता है। उसी द्युति के साथ आत्मामूर्धा या नेत्र से निकल जाता है। पुनः शरीर के इतर देशों से प्राणों के साथ, प्राण के साथ, और प्रज्ञा के साथ (निष्क्रमण करता है)। तृण के छोर पर पहुंचकर जैसे जल का कीड़ा अन्य तृण पर चला जाता है वैसे ही यह आत्मा (एक शरीर के अन्त होने पर दूसरे शरीर में चला जाता है) शरीर को त्याग करके तमस् की ओर जाता हुआ वह अन्यथा

---

33. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ। पृ6 पद्य 51-60.

34. वही। पद्य 61-62.

आक्रमण करता हुआ (पूर्व) शरीर का संहार करता है । जैसे पेशस्कृत् (मायावी चतुर व्यक्ति) इस पेशस् (प्रपञ्च) से मात्रा ग्रहण करके अपने नए शरीर का विस्तार करता है इसी प्रकार यह पुरातन शरीर का आहनन करके अपने नए भौतिक शरीर को बनाता है । वह यह विज्ञानमय, मनोमय प्राणों तथा अखिल भूतों के साथ जैसा विचरण करता है, साधु अथवा अ-साधु कर्म करता है, वैसा ही वह उत्पन्न होता है । पूर्व ऋषियों ने ऐसा जाना - काममय वह पुरुष जैसी कामना करता है, वह उसका क्रतु (कर्मशरीर) होता है । जैसा क्रतु वह करता है, वह पुनः वैसे कर्म को प्राप्त होता है । वृहदारण्यक में कहा है — उसका निषक्त मन और लिङ्ग जहां कर्म के साथ सक्त होता है, वह सत् ही है । यह जो कुछ यहां करता है, उस कर्म के अन्त (अर्थात् समाप्ति) को प्राप्त करके उस लोक से पुनः इस लोक के कर्म करने के लिए लौट आता है ।[35]

6. अनुत्क्रान्त्यवस्था (मुक्ति)

इस प्रकार की गति (मुक्तयवस्था है जिस) को कामयमान आत्मा अथवा निष्काम आत्मा क्या क्रमण करें ? (उसी अवस्था में क्योंकि) उसके प्राण उत्क्रमण के लिए व्यवहार नहीं करते, ब्रह्म ही होता हुआ वह भी ब्रह्म को प्राप्त होता है । निष्काम आत्मा तो महा-जन है, यह प्राणों में विज्ञानमय, विशुद्ध है, वह वशीश्वर हृदय के अन्तराकाश में शयन करता है, वह सब का अधिपति है । वह श्रेष्ठ कर्मों से वृद्धि को प्राप्त नहीं होता और न ही अ-साधु कर्म से निम्न होता है, सर्वेश्वर भूतपति वह त्रिलोकी को धारण करने वाला एकैक सेतु है — यह स्थिति 'अ-सम्भेद' की है ।[36]

षड्भावना विवेक में सत्तासूत्र (1) (प्रथम त्रयी में प्रथम)

सत्ता, चेतना, आनन्द एवं कर्म, रूप और नाम - यह छः भावनाएं कही गई हैं । प्रथम तीन पृथक्त्रयी तथा द्वितीय तीन पृथक् त्रयी है । यह भावनाएं विज्ञान-ज हैं । पहली त्रयी द्रष्टा में स्थित है तथा दूसरी त्रयी दृश्यगोचर है । (क्योंकि) अस्ति (= है) सत्ता कही गई है । यदि यह (सत्ता) 'नहीं' है तब द्रष्टा में दृश्यता बुद्धि नहीं होगी । जो ग्राहक और ग्राह्यकृत द्वि-प्रकारीय ज्ञान हैं, वह उल्लास निमित्त 'अस्ति' है । समस्त शक्तियों का प्रचय सत्ता है वह शक्तियां अनन्त होकर उसमें प्रतिभासित होती हैं । कुछ व्यूढ (समवेत-संगृहीत) शक्तियाँ संसृष्ट (लगी हुई) बुद्धि (यहां प्रकरण में) 'सत्ता' (के रूप में) उक्त है । जहां प्रचय में 'मिट्टी है' — इस प्रकार की बुद्धि (का होना से अभिप्राय है कि) वहां अन्य शक्तियां हैं । भिन्न प्रचय की संसृष्टि करती हुई वह बुद्धि 'यह घट है' - इस प्रकार की कल्पना करती है । 'है' - ऐसा देखता हूं - यह विषय की उपलब्धि का स्वरूप है जिसे 'अस्ति' कहा है । द्रष्टा विभु है, अस्ति की भावना भी विभ्वी है, यह निर्विशेष है अतः उससे (भिन्न) दृश्य नहीं है ।[37]

35. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ.7 पद्य 63-72.
36. वही । पद्य 73-75.
37. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ.7. पद्य 1-5.

(2) चेतनासूत्र (प्रथमत्रयी में द्वितीय)

जब भिन्न-भिन्न घट आदि अर्थ को सदा व्यक्त करता है, जिसमें विषयों के प्रति उपराग से विकल्प होते हैं वह एक निर्विकल्प 'चिद्' नाम से जाना जाता है । प्राज्ञ विज्ञान है, वह दो प्रकार है । एक विषय में उपरक्त काम वाला प्राज्ञ है और दूसरा आत्मकाम है, निष्काम है, वह असङ्ग (रूप से) इष्ट है । प्राज्ञ सकाम है, वह सर्वकाम है, मुख्य विज्ञान अकामरूप है, उस (विज्ञान) के साथ प्राज्ञ में प्रविष्ट है, वह असङ्ग (वह विज्ञान) उन (कामनाओं) मं लिप्त नहीं होता । यह प्राज्ञ अनादिवासना के वशीभूत होने से नित्य है, यह में व्यतिषक्त (विशेषासक्त) विग्रह वाला है । वह उच्च-निम्न भावों से संस्कृत होत है । कामना, क्रोध आदि धर्मों से ह्रास को तथा वृद्धि को प्राप्त होता है । प्राज्ञ जीव कर्मवश अनेक प्रकार से पुन: पुन: जन्म को प्राप्त होता है । यह प्राज्ञ काममय होता है, वह उन (कामनाओं) के क्षय होने पर विज्ञानमय हुआ उसमें लीन हो जाता है । कामात्मक भी यह चिदात्मरूप का ग्रहीता होता है । वह अपने भास से द्रष्टत्व को प्राप्त होता है । उसी में ही सभी तेज (वान्) उपाहित होते हैं, यह जीवसहित (चेतन कहलाता) है । जब यह कामनाओं के क्षय से विशुद्ध विज्ञानमय स्वरूप वाला होता है तब असङ्गभाव से (इसकी) कामनाओं में पुन: आसक्ति नहीं होती, वह जीवमुक्ति है । जब यह जीव सब कामनाओं से मुक्त होता है तब ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है । आनन्दमात्र प्रकाश होता है, विज्ञान पूर्ण आनन्दमय है ।[38]

3. आनन्दसूत्र (प्रथमत्रयी में तृतीय)

प्राज्ञ आत्मा अथवा चिदात्मा द्वारा प्रतीत आनन्द दो प्रकार का है । प्राज्ञ के द्वारा विषयों (के भोग) में मोद, प्रमोद, सु-प्रेम स्वरूप आनन्द (की प्रतीति) तुच्छ होते हैं । कामात्मा द्वारा विषयों में उपराग से आसक्तिरूप तुच्छ आनन्द उत्पन्न होते हैं । वह व्यक्ति और काल के आश्रित काम भेद के कारण मोद और अमोद (कारक) अप्रिय और प्रिय होते हैं । इन में मुख्य साक्षाद् आनन्द वैज्ञानिक वास्तविक है । उसे आत्मा के अ-प्रच्यवन (अविनश्वरता) से, अप्रक्षोभण (क्षुब्ध न होने) से तथा कर्द्धन से तीन प्रकार का है । विज्ञान आत्मा विभु होने के कारण अमित है तथा मित (ससीम) आयतन (ज्ञानेन्द्रियों, बुद्धीन्द्रियों आदि के विषय) में निविष्ट है । (वह अमित आत्मा) प्राज्ञ की अभिवृद्धि से अभिवर्द्धित होता है, इसके ह्रास में अल्पता को प्राप्त होता है तथा समावस्था में सम रहता है । वह विभु-भूम (अतिशय होता हुआ) भी परिमित प्रमाण से आनन्दरूप प्रशान्त होता है । प्राज्ञ का आनन्द यह आत्मा है इससे इस प्राज्ञ को इस विषय का अनुभव नहीं करना होता । यदि तमस् को प्राप्त करके प्राज्ञ (अपने स्वरूप से) विहीन होता है अथवा भय को प्राप्त करके क्षुब्ध होता है तो वह जल के दोष से प्रतिबिम्ब की तरह चित्क्षोभ को प्राप्त होता है अथवा ह्रास को प्राप्त होता है । जब दु:ख का

38. वहीं । पद्य 6-13.

अनुभव करता है तब उसके विरुद्ध वृत्ति में सुख (की अनुभूति होती) है । अ-प्रच्युत शान्त यह आत्मा नितान्त आनन्दरूप प्रतीत होता है । यह प्राज्ञ लोक (बन्धु-बान्धव), सन्तान, धन, यश एवं पशु आदि से अभ्युदय को प्राप्त हुआ, क्रम से भूमा को प्राप्त हुआ पूर्व (अनुभूत) आनन्दमात्रा का (पुनः) अनुभव करके उस (भूमा = बाहुल्य) को धारण करता है । भूमा के उदय में वह प्रागानन्द (रूप) आत्मा का अनुभव करता है अथवा विस्तार करता है अतः धन आदि के अभ्युदय में क्षणभर के लिए आनन्द का दर्शन करता हुआ वह पुनः देखने की क्रिया नहीं करता । योग काल वाली आत्मा में जो सुख है, उससे आत्मवृद्धि को प्राप्त होता है । इससे सुख का ज्ञान होता है, वह (इस प्रकार के ज्ञान सुख का अनुभव करने वाला) आत्मा प्राणों में विज्ञानमय है । सभी जन सुख की कामना करते हैं । जिसकी वह कामना करता है उसी (पदार्थ की उपलब्धि) से वह प्रसन्न होता है । यदि आत्मा के लिए वह कामनाओं की कामना करता है, तो वह आत्मा ही काम है उसी से (वह) सुख (को प्राप्त करता) है । दस्युओं के अत्याचार से पीडित हुआ अखिल स्त्री, पुत्र तथा धन को त्यागकर वह अपने आप को लेकर (अर्थात् आत्म-शरीर-रक्षा हेतु) भाग जाता है, इससे यह आत्मा सब प्रकार से प्रिय है (यह जानें) । यह आत्मा ही विज्ञानमय है, उसी को ही आनन्दमय जानें । इस प्रकार (वह आत्मा) आनन्दचेतन है ।[39]

द्रष्टगत (उसके) रूपों को उस (आत्मा-द्रष्टा) की भावनाएं जानें । कर्म, रूप और नाम के प्रत्येक कूट (समूह) में अथवा एक कूट में वह सच्चिदानन्दघन है जिस कारण इसको कूटस्थ (सर्वप्रमुख परम आत्मा) कहते हैं । यह सत्प्रतिष्ठ अखिल विश्व है, यह विज्ञान है, यह आनन्द है अतः उसे सच्चिदानन्द कहते हैं ।[40]

1. कर्मसूत्र (द्वितीय त्रयी में प्रथम)

कर्म, नाम और रूप की त्रयी - वह कर्म (वस्तु रूप जगत् है) जो वस्तु में शक्ति है । जैसे कान्ति, पाचन, व्योषण (सुखाना), ताप अग्नि में विद्यमान हैं, जल में स्नेह, द्रवत्व और शैत्य है । सब पदार्थों में कर्म होते हैं, जिसमें कर्म नहीं है, वह कुछ भी नहीं है । जिसके उपयोग में उस कर्म का विनियोग होता है, उस कर्म को वस्तु मानें । गति, स्थिति, शयन, आसन आदि सभी चेष्टाएं (इनकी) होती हैं । बहुत से देश और बहुत कालखण्डों का आश्रय लेती लम्बी होती रेखा की भांति विभिन्न चेष्टाएं हैं । उन्हीं को कर्म कहते हैं,जिनका रूप इस प्रकार से विस्तृत हो । जहां सन्तान (सतत क्रम) नहीं है अपितु प्रवाह है वह कर्म (रूप में) उपदिष्ट नहीं । वह रेखाएं बिन्दु ही की भांति कल्पित हैं किन्तु रेखा को बिन्दु नहीं कहते । वह बिन्दुओं से भिन्नता के कारण प्रतीत रेखा माया ही है, उसी

---

39. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ.8-9. पद्य 14-26.
40. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ.1 पद्य 26-28.

प्रकार कर्म को जानें। क्षण-क्षण बिन्दु की भांति भिन्न वह बल (शक्ति) नष्ट होता है, और उत्पन्न होता है। कर्म कुछ (भी हो) पृथक् नहीं है, रूप पृथक् है, वह कर्म है। पार्श्वमानी (रीढ़ की हड्डी वाला) तिर्य्यक् (मुड़ी हुई रीढ़ की हड्डी वाला पशु-पक्षी) नहीं होता,न ही आंख की स्थिरता (युक्त योगियों की विशेष मुद्रा वाला) होता है। समस्त अखिलों (जागतिक पदार्थों) में बिन्दु होता है परन्तु (काय) क्षेत्र में विविध प्रसिद्ध रेखाएं होती हैं। (यद्यपि) निर्विशेष क्षणिक बल में स्थिति, शयन, आसन आदि चेष्टाएं न हों (तथापि) उन अखिलों में बल समान है, किन्तु विशेष चेष्टाएं कर्मों में हों (अर्थात् होती हैं)।[41]

2. नामसूत्र (द्वितीयत्रयी में द्वितीय)

यदृच्छापूर्वक संज्ञा देने को 'नाम' कहते हैं, इसमें जाति आदि के वाचक शब्दों का ग्रहण होता है, इसे शाब्द विभाग कहते हैं। रूप तथा कर्म के विभाग प्रत्यय (निश्चय) उत्पन्न करने वाला विभाग भिन्न हैं। यह डित्थ है, यह अश्व है, इस प्रकार के अर्थों द्वारा शब्द अभेद से सिद्ध होते हैं। अनेक सोए हुओं में वह एक ही जागता है, जिसके नाम से पुकारा जाता है। अथवा जो नाम से मन्त्रोच्चार द्वारा जादू करते हैं, वह कर्म से उस अर्थ (प्रयोजन) को दूर से ही आक्रान्त करते हैं (अर्थात् उस वस्तु का ग्रहण करते हैं)। उसे रूपदृष्टि से ही जानते हैं, नामश्रुति द्वारा भी यह उसका भाग है।[42]

3. रूपसूत्र (द्वितीय त्रयी में तृतीय)

स्व अर्थ से युक्त इन्द्रियों का व्यवहारभाक् 'रूप'-है, उससे वस्तु में दृश्यता होती है। जिसका कोई भी रूप प्रपन्न नहीं होता, उस वस्तु के विषय में मेरी प्रपत्ति (पहुंच) नहीं। पृथ्वी, जल, वायु, नीला, पीला, हरा, कषाय, कड़वा, तीखा, कोमल, तीव्र, मन्द, दूर, पास, श्रेष्ठ अथवा अश्रेष्ठ - जो कुछ भी बुद्धि द्वारा धारण किया जाता है उसी से इनके रूप का भान द्रष्टा में दृश्य के योग से माना जाता है। प्राण के द्वारा जो इसके धर्म को धारण करते हैं, वह कर्म (कहलाता) है और दोनों के योग से सिद्ध होता है। जो ब्रह्म त्रिलोकी में देवताओं के लिए ही इस लोक में विकार रूप में सृष्ट देवों का सृजन करता है, उसका अपना त्रिलोकातीत रूप पृथक् है, परार्द्ध (ब्रह्मा के दिन की कालावधि वाले) से अन्यथा। नाम और रूप से पृथक्-पृथक् उन सब लोकों को वह ब्रह्म जानता है (क्योंकि वह सब लोक और ब्रह्म पृथक् है)। लोक में भी देवों द्वारा उत्पन्न वह नाम और रूप लोकातीत हैं। नष्ट हुए (उस नाम और रूप वाले) उस एक अर्थ को अन्यान्य रूप आदियों से ग्रहण करते हैं (अर्थात् समझ सकते हैं)। अर्थ नष्ट नहीं होता (परन्तु) नाम और रूप के नष्ट होने पर वह दोनों पुनः इस लोक में प्राप्त नहीं होते। यदि वह दोनों लौकिक हों, तो यहां लोक के स्थित रहने पर कहीं वह दोनों 'अर्थ' की भांति ध्रुव हो जाएं

41. वही। पद्य 29-36.

42. वही। पृ.9-10. पद्य 37-39.

(परन्तु) हम उनके प्रभव को नहीं जानते, प्रयोग में गति को (प्राप्त होते हैं) और वियोग में वह दोनों अ-लौकिक (इस लोक के नहीं) होते हैं । उस ब्रह्म के वह दोनों महान् अभ्व (शक्तियां) हैं, उस ब्रह्म के वह दोनों महान् यक्ष हैं । उन दोनों में यह 'रूप' ज्यायस् (बड़ा-श्रेष्ठ) है, याज्ञवल्क्य के मत में 'नाम' भी 'रूप' है । रूप से पृथक् कर्म तो नहीं, जिसकी उनकी यहां पांच ही भावनाएं (सत्ता, चेतन, आनन्द, कर्म, नाम) हों । उनमें प्रिय नाम-रूपों में आद्य तीन ब्रह्म हैं और पर (दूसरे तीन) माया हैं । जैसे नाम है, जैसे रूप है वैसे ही 'कर्म' को पृथक् बताते हैं । नष्ट रूप जैसे अलीक (अ-सत्य) की भांति होवे वैसे ही यह कर्म भी विनष्ट होता है ।[43]

अमृत-सत्यसूत्र

यह त्रय (प्रथम तथा द्वितीय त्रयी) अमृत सत्य कहे गए हैं, प्राण अमृत है, इससे द्रष्टा (अमृत) है । यह यक्ष अभ्व (महच्छक्ति) सत्य से सम्यग्रूप में आच्छादित हैं, उनसे द्रष्टा द्वारा वैचित्र्य (उत्पन्न होता) है । नाम का ब्रह्म वाक्, रूप का उक्थ है, कर्म का चक्षु साम है । यह आत्मा प्राण है, उसी से उन (प्राणों) की द्रष्टा में स्थिति प्रतिपादित करते हैं ।[44]

अभ्यसूत्र

कोई कर्म रूप से पृथक् नहीं है । बुद्धि द्वारा धारण किए जाने पर ही इसे ग्रहण करते हैं । कर्म ही रूप है, यदि कर्म न हो, तो बताओ अन्य क्या रूप बुद्धिगोचर होगा । यह जो दिखाई देता है, उसके (ही) दो कर्म ही यहां नाम और रूप हैं । कुछ कहते हैं कि अभ्व में वह दोनों (नाम भी और रूप भी) हैं, अन्य विचारकों का मत है - उससे 'एक' ही है ।

'सभी रूपों का चिन्तन करके धीर (बुद्धिमान ऋषि) नाम रखकर उसे सम्बोधित करते हुए जब स्थिर हुआ' - ऐसा कहती हुई श्रुति ने भी नामों के इस रूप निबन्धनत्व को अभिव्यक्त किया । (इस पक्ष में) श्रुति स्पष्ट है - कर्म, नाम, रूप पृथक् हैं और अपृथक् की भांति एक हैं । एक दूसरे में प्रवेश से, अविनाभाव होने से कुछ उसके विषय में कहते हैं - रूपत्व के कारण यह नाम है, यह रूप वृत्त (व्यावहारिक) रूप है, नामभाव से स्थित है । कुछ इस अविभक्त का भाग करते हैं, पहले ही अन्य इसे भेद रूप में बताते हैं ।

---

43. पं. ओझा - पूर्वोक्त ग्रन्थ । पृ.10 पद्य 40-49.
44. वही । पद्य 50-51.

प्रत्ययसूत्र

इस प्रकार यह त्रितय दृश्य है, विज्ञान है, आनन्द है, सत्ता है । यह तीनों द्रष्टा (के रूप) हैं, इस प्रकार इन दोनों (त्रयी-वर्गों) से वह प्रत्यय (=निश्चित धारणा) है जो दो खण्डों में धारण किया गया है । यह विज्ञान है, अनन्त है, और एक है । जो ब्रह्मनित्य है, वह यह विश्व है । इससे परे और कुछ भी नहीं है, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण उसे 'सत्य' बताते हैं । यह ब्राह्मणों का मत है, दिव्ययुग में यह पुरातन (सबसे पहले) प्रदृष्ट (देखा गया) है, उसी को बाद में भगवान् महर्षि याज्ञवल्क्य ने दिखलाया ।

अहोरात्रवाद

डॉ. हिन्द केसरी*

समीक्षाचक्रवर्ती पं. मधुसूदन ओझा ने ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की प्रथम दो ऋचाओं के आधार पर, वैदिक संहिताओं के काल में साध्य नामक देव जाति में प्रचलित दशवादों का उद्धार किया है। ये दशवाद हैं क्रमशः — 1. सदसद्वाद 2. रजोवाद 3. व्योमवाद 4. अपरवाद 5. आवरणवाद 6. अम्भोवाद 7. अमृतमृत्युवाद 8. अहोरात्रवाद 9. देववाद 10. संशयवाद। इन वादों का विस्तार से निरूपण श्री ओझाजी के ब्रह्मविज्ञानशास्त्र नामक ग्रन्थ में हुआ है। इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में विज्ञानेतिवृत्तवाद प्रथम प्रकरण बन गया है। अन्तिम उपसंहार के रूप में 12वां प्रकरण सिद्धान्तवाद है। इस भूमिका भाग में देवासुर ख्याति ग्रन्थ में बताये गये इतिहास तथा अनीश्वरवाद का संक्षेप है। सिद्धान्तवाद 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' इस द्वितीय ऋचा से स्थिर किया गया है। भूमिका तथा उपसंहार भाग को जोड़ने से सम्पूर्ण ग्रन्थ 12 प्रकरणों में विभक्त है। इस क्रम में अहोरात्रवाद नौवां प्रकरण है, वादों की दृष्टि से आठवां।

पं. मोतीलाल शास्त्री जी के शब्दों में अहोरात्रवाद का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है — 'सृष्टि मूल के लिये इतनी दूर अनुधावन की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वयं सृष्टि मर्यादा में ही सृष्टिकारण का पता लग सकता है अथवा लगा हुआ है। प्रत्यक्ष दृष्ट अहः और रात्रि (दिन और रात) ही इस सृष्टि के मूल कारण हैं।[1] सुनने में छोटा लगने वाला यह वाद जिसे नासदीय सूक्त में 'न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः[2] से कहा गया है, ओझाजी ने उसे वाद का रूप देने के लिये 720 उपजाति आदि छन्दों में अहोरात्रवाद की रचना की है। ग्रन्थ 12 अधिकरणों में विभक्त है। प्रथम प्रतिज्ञाधिकार है, अन्तिम उपसंहार। मध्य के 10 अधिकारों में अहोरात्र की व्याप्ति का निरूपण है। सम्पूर्ण सृष्टि का मूल जब अहोरात्र है, तो दृश्यमान सभी पदार्थों को अहोरात्र के रूप में ही देखना होगा, चाहे वह ज्ञान अज्ञान हो, या भाव अभाव अथवा द्यावा पृथिवी। ओझाजी ने प्रतिज्ञाधिकार में अहोरात्र के दश भेदों की सूची दी है —

(1) ज्ञानाज्ञाने (2) शुक्ल कृष्णो च वर्णौ (3) ज्योतिध्वान्ते

(4) विश्वभावोऽप्यभावः (5) सृष्टिध्वंसौ

(6) रोदसी (7) चर्तसत्ये (8) सप्ताहोका

(9) यज्ञ (10) सामान्यभेदाः

---

* सहाचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

संक्षेप में इन अधिकारों का परिचय इस प्रकार है —

1. ज्ञानाज्ञानाधिकार

ज्ञान विद्या है अत: प्रकाश रूप होने से वह दिन है, अज्ञान अविद्या है अत: अन्धकार रूप होने से रात्रि है । यह विश्व कार्य रूप होने से अज्ञान है । क्षर अक्षर तथा पर भेद से ज्ञान तीन प्रकार का है । पर निर्विषय है, तम भी वहां पर है किन्तु बन्धन होने के कारण सृष्टि नहीं होती । ज्ञान तम के बन्धन से एकरूप होकर मनोभाव को प्राप्त करता है, जो समस्त कामनाओं का आश्रय है । अनेक प्रकार की कामनायें तम के ही भेद हैं । सर्वाप्तकाम आत्मा ही अक्षर है जिसे ईश्वर शब्द से कहा जाता है । अक्षर से ही यह सब उत्पन्न हुआ है । जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान अल्पबुद्धि जीव ईश्वर की प्रतिबिम्ब सृष्टि हैं, तमस् की अधिकता के कारण जगत् की अवरुद्ध संज्ञा है ये दोनों ही क्षर हैं । प्रकाश और तमस् की मात्रा के न्यूनाधिक भाव से सत्त्व, रजस्, तमस् भेद से तीन भेद हो जाते हैं । तमस् यदि प्रकाश में संहित रहता तब वह सत्त्व है जो विषयि तथा गृहीता बनाता है । प्रकाश में असंहित रूप तमस् तमोगुण है जो बुद्धि में गृहीत विषय बनता है । रूप दोनों का साध्य है इसे रजस् कहा जाता है, उसी से सभी क्रियायें होती हैं । इसी क्रिया से ज्ञान ज्ञेय का विभाग है । ज्ञान से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । पाँच तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) से अतिरिक्त ज्ञान तथा ज्ञेय रूप में एकाकार हैं, यही सृष्टि के रूप हैं । जैसे विषय ज्ञान में प्रविष्ट है वैसें ही विषय में ज्ञान प्रविष्ट है, इसी क्षर में अक्षर, अक्षर में क्षर को समझना चाहिये । यह अन्धकार से ढँका हुआ प्रकाश ही है । प्रकाश और अन्धकार दोनों ही मिलते तथा अलग होते रहते हैं, उन्हीं के तारतम्य से संसार का वैचित्र्य दिखाई देता है ।

2. शुक्ल कृष्णाधिकार

शुक्ल और कृष्ण दो ही रूप हैं, इन्हीं में अन्य रूप समाये हुए हैं । शुक्ल दिन है कृष्ण रात्रि है, शेष सब रूप सन्ध्या के समान हैं । (संयुक्त है) काला धूम्र लाल सुनहरा पीला हरा नीला यही अहोरात्र का अग्नीषोमीय रूप है । दिन और रात्रि के विभाग इन्हीं वर्णों के आधार पर हैं । हैम प्रातः सवन है शोण माध्यन्दिन सवन है, धूम्र सायं-सवन है, इस प्रकार ज्योति का एक दिशा में होना दिन है यह आग्नेय है । रात्रि का प्रथम याम (पहर) नील है, मध्यम याम हरित है, तृतीय याम पीत है इस प्रकार रात्रि सौम्या है । काले वर्ण की नाभि सोमरूप है, वहीं से अग्नि की उत्पत्ति और गति होती है । सभी वर्ण यदि सुप्त हों तो कृष्ण होता है, जागृत हों तो शुक्ल कहा जाता है । कृष्ण को छोड़कर सभी वर्ण शुक्ल से उत्पन्न हुए हैं । 'शुक्रं ते अन्यद्'[3] इस श्रुति को उद्धृत करके सब वर्णों को माया बताया गया है । सृष्टि ही दिन है प्रलय काल रात्रि है । स्पर्श और ऊष्मा के भेद से शब्द दो प्रकार का है । स्पर्श भी शीत उष्ण भेद से दो प्रकार का है, स्पर्श (वर्ण) तथा शीत यह रात्रि का धर्म है, ऊष्मा और

ऊष्णता दिन का धर्म है। (यहाँ स्पर्श के साथ रात्रि और दिन की सङ्गति तो बैठती है, किन्तु शब्द के स्पर्श और ऊष्मा को दिन और रात कहना बहुत उचित नहीं लगता। इसी क्रम से रस और गन्ध के भी दो भेद करने होंगे वहीं भी दिन रात की कल्पना करनी होगी।)

3. प्रकाशान्धकाराधिकार

प्रकाश दिन है अन्धकार रात्रि है। पृथिवी की कृष्ण वर्ण की किरणें अन्धकार हैं, सूर्य की शुक्ल वर्ण की किरणें प्रकाश हैं। ऐसा प्रकाश नहीं है जिसमें अन्धकार न हो, तथा अन्धकार भी ऐसा नहीं है जिसमें प्रकाश न हो। प्रकाश जब जन्य है तो प्रकाश वहां रूका हुआ रहता है। नित्य रूप से स्थित तम भी प्रकाश से आवृत हो जाता है। कणाद आदि आचार्य प्रकाश के अभाव को ही तम कहते हैं, वह भाव नहीं है। शाकायनि आदि आचार्य अन्धकार को भी भाव रूप ही मानते हैं, उसी से सृष्टि बताते हैं। प्रकाश से पहले भी अन्धकार था। प्रकाश के बाद भी तम ही प्रतिष्ठित रहता है। सूर्य के अस्त होने पर अन्धकार विभु पदार्थ के समान दिखाई देता है वह कहीं से आता नहीं है अतः वह विभु नित्य तथा अक्रिय है। प्रकाश के योग से उसका तिरोभाव होता है नाश नहीं होता। मन्द प्रकाश अधिक प्रकाश में भी तम की स्थिति रहती है। इस अधिकार में प्रकाश और अन्धकार को अहोरात्र का रूप दिया गया है।

4. भावाभावाधिकार

जिसे अभाव कहा जाता है, वह भाववत् प्रतीत होता है। असत् भी सत् ही है इसमें दिशा देश काल जन्म मृत्यु का अन्वय नहीं होता इसलिये भी असत् सत् है। जो क्रियावान् सत् विश्व के रूप में परिणत हुआ दिखाई दे रहा है वह भी कृष्ण है, सृष्टि के पहले सभी रूप के रूप थे। अथर्ववेद के तेरहवें अध्याय में रात्रि से दिन का जन्म बताया गया है, उससे रात्रि की नैसर्गिक स्थिति बतायी गयी है। जितना जगत् है वह दिन है, इन दो के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है इसीलिये कहा गया कि यह सब अहोरात्र है।

5. सर्ग प्रलय कल्पाधिकार

जिस अनादि अनन्त ब्रह्म को जगत् का बीज कहते हैं वह काल है। काल ही इस जगत् का कारण है प्रत्येक वस्तु के लिये अलग ऋतु होता है, सब अपने-अपने समय से उत्पन्न होते हैं। इस काल के शुक्ल और कृष्ण दो रूप हैं। मूर्त्त और अमूर्त भेद से भी काल दो प्रकार का है। अमूर्त काल क्रम से अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति तथा नाश होता है। अनन्त सूर्य भी उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। जिस काल में सूर्य की स्थिति रहती है वह शुक्ल काल है, सूर्य के नाश से वही कृष्ण कहा जाता है। काल का मूर्त रंग सूर्य है सूर्य से ही काल के अवयवों का विस्तार होता है। सूर्य ही दिन रात का

विभाग करके संसार की उत्पत्ति और संहार करता है। शुक्ल काल दिन है कृष्ण रात्रि। दिन सृष्टि है, रात्रि प्रलय। इसी क्रम से दिन रात के पर्याय से सृष्टि और प्रलय चलते रहते हैं। इस अहोरात्र के मानुष पित्र्य दैव तथा ब्राह्म ये चार विभाग भी सूर्य से ही होते हैं। इस प्रकरण में वार्कलि आदि प्राचीन आचार्यों के मत में निमेष से लेकर मुहूर्त्त तक की गणना में मतभेद दिखाये गये हैं। यहाँ शतपथ के आधार पर दिया गया मुहूर्त्त का परिमाण, वैज्ञानिक आधार को लिये हुये है इसकी परीक्षा की जा सकती है।[4] मुहूर्त से आगे की गणनायें प्रसिद्ध हैं। 30 मुहूर्त्त के अहोरात्र में 15 मुहूर्त दिन, 15 मुहूर्त्त रात्रि, 30 दिन के मास में शुक्ल कृष्ण पक्ष अहोरात्र है, यह पित्र्य अहोरात्र है। वर्ष के 12 महीनों में उत्तरायण दक्षिणायन अहोरात्र हैं। यह दैव अहोरात्र है। एक हजार दिव्य युगों का कल्प एक ब्राह्म दिन है, उतना ही परिमाण रात्रि का मान कर एक ब्राह्म अहोरात्र बनता है। दिन के प्रारम्भ होने पर अव्यक्त से व्यक्त उत्पन्न होते हैं, रात्रि के आने पर अव्यक्त में लीन हो जाते हैं, दिन आने पर फिर वही क्रम प्रारम्भ होता है। काल की अव्यक्त दशा ही रात्रि है व्यक्त अवस्था दिन है। ब्राह्म दिन के 14 मन्वन्तर मुहूर्त्त हैं, शेष भाग यदि बचता है वह पन्द्रहवां हैं। यहां कल्प मन्वन्तर आदि के नाम विस्तार से गिनाये गये हैं। काल गणना के कई मत दिखाये गये हैं।

6. द्यावापृथिवी अधिकार —

द्यौ और पृथिवी इस सृष्टि के रूप हैं। द्यौ दिन है, पृथिवी रात्रि है। द्यौ श्वेत है, पृथ्वी कृष्ण है, सन्ध्या अन्तरिक्ष है, जो रक्त वर्ण है। ये ही तीनों लोक जगत् के मूल हैं। सूर्य में व्याप्त क्रिया (चमकना) होने से सूर्य द्यौ है, 'अह्नोप्ति क्रिया' पृथिवी को व्याप्त करने के कारण अहः है। 'रा' दान क्रिया होने के कारण पृथिवी रात्रि है तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार द्यौ अथवा सूर्य ऐन्द्र है पृथिवी आग्नेयी है इसीलिये 'आग्नेयी रात्रिः, ऐन्द्रमहः'[5] कहा गया है। दिनों का विभाग रात्रि से ही होता है, रात्रि के अभाव में दिन गिना नहीं जा सकता, इसलिये दिन एक तथा नित्य है, रात्रि से विभक्त होकर अनेक बनता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार स्त्री में शोणित अग्नि रूप है, पुरुष में रेत आदित्य रूप, दोनों एक दूसरे से मिलकर जन्तु को उत्पन्न करते हैं। इसी रूप में दीर्घतमा ऋषि ने द्यौ को पिता पृथिवी को माता कहा है।[6] इस अधिकार का विस्तार 218 श्लोकों में हैं यह ग्रन्थ का सबसे बड़ा प्रकरण है, विषय की दृष्टि से इसके 12 विभाग किये गये हैं, ऐसा लगता है कि ये विषय ग्रन्थ में कुछ वेदविज्ञान का परिचय कराने के लिये रखे गये हैं। अहोरात्रवाद के मुख्य विषय से थोड़े हटकर हैं। कुछ विषय प्रकरणों के नामों से ही स्पष्ट हैं। 'स्थिरचाविमर्शः', 'पृथ्वीसूर्ययोः पौर्वापर्य विचारः' आदि प्रकरणों में वैदिक संहिताओं में इन सिद्धान्तों का किस प्रकार प्रतिपादन हुआ है यह विस्तार से बताया गया है। सूर्य और पृथिवी दोनों ही घूमते हैं यह विषय बड़े ही सरल ढंग से समझाया गया है 'यथा च पृथ्वी परितोऽशुमन्तं भूयः परिक्राम्यति वत्सरेण। तथा स्वनाभिं परितोऽहनी सा पृथ्वी च सूर्यश्च परिक्रमेते। द्यौ, पृथिवी के पौर्वापर्य विचार को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया[7] गया है

अलग-अलग ऋषियों के मत संगृहीत हैं। यहां अन्त में नवीन मत दिखाया गया है। केतु सूर्य पृथ्वी चन्द्रमा ये क्रमशः उत्पन्न हुए हैं। ज्वालामय केतु पिण्ड रूप में आकर सूर्य बन जाते हैं। सभी सूर्य केतु से उत्पन्न हुए हैं। अग्नि के क्षय होने से वही पृथ्वी रूप में बदल जाते हैं। यह अग्नि ही दिन का रूप है रात्रि सोम है, दोनों के मिलने से बल के सम्बन्ध से ये चारों उत्पन्न होते हैं। द्यावा पृथिवी के स्वरूप को बताने के लिये अनेक मतों को दिखाकर स्पष्ट किया गया है। द्यौ और पृथिवी जिस रूप को धारण करके सृष्टि करते हैं वह काश्यप रूप है, यह कूर्म प्रजापति का अवतार है, इसी कश्यप का ऊर्ध्वकपाल द्यौ है, अधः कपाल पृथिवी है। कश्यप से सब जगत् उत्पन्न हुआ है इसलिये पृथिवी और द्यौ दोनों ही कश्यप के रूप हैं। एकमत से सूर्य ही द्यौ है पृथिवी यह प्रतिष्ठा रूप पृथिवी ही है, यही अहोरात्र है। इसी प्रकरण के उपविभागों में पृथिवी और सूर्य से शरीर और आत्मा तक की उत्पत्ति का विस्तार से विवेचन है। ओझाजी के अनेक ग्रन्थों में यह विषय समान रूप से उपलब्ध है।

7. ऋत सत्याधिकार

ऋत और सत्य ही अहोरात्र शब्द के वाच्य हैं। कौषीतकि ऋषि के अनुसार स्नेह रात्रि है तेज दिन है, स्नेह और तेज ही ऋत और सत्य हैं। ऋत और सत्य शिव के नेत्र हैं। ऋत भृगु है सत्य अङ्गिरा है। सोम, वायु, आप और भृगु ये स्निग्ध तथा अनुष्ण होने से ऋत हैं। यम, अग्नि, आदित्य, अङ्गिरा ये तीनों तेजोमय होने से सत्य हैं। भृगु और अङ्गिरा से यह विश्वव्याप्त है। इसे अहोरात्र ही समझना चाहिये।

दिव्य अग्नि जो इन्द्र है, वह सत्य है इसके अतिरिक्त सभी ऋत है। अर्थात् सूर्य मण्डल सत्य है, वारुण भौम चन्द्र ये सभी ऋत हैं। आगे पिण्ड रूप होकर ये अग्नि और सोम के भेद से दो प्रकार के हो जाते हैं। वायु, आप, सोम, ये साम हैं। यम अग्नि आदित्य से अग्नि के ही भेद है, उनसे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सोम के प्रभेद चन्द्रमा से प्राप्त होते हैं क्योंकि वह संग्रह रूप पिण्ड है। अग्नि के प्रभेद सूर्य से आते हैं क्योंकि वह भी संग्रह रूप पिण्ड है। अग्नि दो प्रकार का है। सौर संवत्सर जो प्रलय तक चलता है, दूसरा भौम संवत्सर। सौर सत्य है भौम ऋत है, जो सोम से विशेष आकृति धारण करता हुआ ऋत बनता है। यह अग्नि (लौकिक) एक रूप है इसलिए ऋत और सत्य को अभिन्न कहते हैं। रात्रि चन्द्रमूला होने के कारण ऋत है, सूर्य मूल होने से दिन सत्य है। इन्हीं से सृष्टि है।

मूर्त काल भी अग्नि तथा सोम भेद से दो प्रकार का है, वह भी शुक्ल और कृष्ण है। शुक्ल दिन है, कृष्ण रात्रि है। यहाँ भी कौषीतकि के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा को अग्नि सोम बताया गया है। सूर्य अग्नि रूप में लोक को चेतना देता है, चन्द्रमा सोम का निधि है वह ऋतुओं का निर्माण करता है। ऋत में अग्नि के भाग ऋतु कहलाते हैं, सोम की वृद्धि के तारतम्य से शरद्, हेमन्त और शिशिर

होते हैं। अग्नि की वृद्धि से बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ये ऋतु बनते हैं। ऋतु के प्रभाव से ही प्रकृति में विकार उत्पन्न होते हैं। जिन्हें आर्तव कहते हैं, वही सृष्टि का काल है। इस प्रकरण में विस्तार से, सापिण्ड्य विज्ञान का विवेचन है, यह भी स्वतन्त्र रूप से एक निबन्ध है।

8. सप्ताहाधिकार

द्यौ और पृथिवी पहले अलग नहीं थे। पृथिवी के साथ द्यौ और द्यौ के साथ पृथिवी थी। कालक्रम से सौर्य पृथिवी से अपत्य रूपा इस पृथिवी का जन्म हुआ। जैसे सूर्य में द्यौ और पृथिवी मिले हुए थे, अब भी उसी प्रकार मिले हुए हैं। सूर्य में अवयव अन्नाद तथा अन्न क्रमशः मन, प्राण, वाक् के रूप में संश्लिष्ट हैं। सूर्य में स्थित इनकी संज्ञायें ज्योति, गौ आयु हैं पृथिवी में इन्हीं की संज्ञायें वाक् गौ द्यौ हो जाती हैं अर्थात् सूर्य में ज्योति मन है प्राण द्यौ है आयु वाक् है। यही पृथिवी में वाक्, वाक् ही है, प्राण गौ है मन द्यौ है। इन्हीं के त्रिवृत्करण से भूतों की उत्पत्ति होती है। ज्योति के त्रिवृत् करने से अग्नि, गौ के त्रिवृत्करण से इन्द्र, आयु के त्रिवृत् होने से विश्वेदेव, ये तीनों अग्नि इन्द्र विश्वेदेव द्युलोक के कहे जाते हैं। पृथिथी पर त्रिवृत् वाक् अन्न है, त्रिवृत्कृत गौ आप है, त्रिवृत् द्यौ तेज है। जितना मन है वह द्यौ है जितनी वाक् है वह पृथिवी है, द्यावा पृथिवी में व्याप्त प्राण अन्तरिक्ष है। इस प्रकार सूर्य त्रिलोकीमय था उससे यह पृथिवी भी तीनों लोकों का समूह है। इसी प्रकरण में अग्नि इन्द्र विश्वेदेव इन देवताओं का स्वरूप समझाने के लिये छन्दःशास्त्र का आश्रय लिया गया है। यहां भी यह विषय विस्तृत हो गया है। वांक् प्राण मन तीन सूर्य के, तीन पृथिवी के, यही 6 दिन हैं। इन्हीं 6 दिनों में विधाता ने जगत् का निर्माण किया है। सातवां दिन श्री है जिसमें कुछ कार्य नहीं होता आत्मा कृत कृत्य हो जाता है। यही सृष्टि कर्म है। कुछ आचार्य इसे 10 दिन में कहते हैं, कुछ बारह दिन में। सृष्टि के भेद से दिनों के भेद हैं किन्तु सृष्टि अहोरात्र के द्वारा ही होती है।

9. यज्ञाधिकार

यह त्रिलोकी जिसमें अन्तर्भूत है वह परमेष्ठी प्रजापति ही विस्तीर्ण होता हुआ त्रयीमय यज्ञ है ऐसा समझना चाहिये। प्रजापति का पहला स्वरूप अव्यक्त है, दूसरा निरुक्त है वह चार प्रकार का है - मूल सत्य पशु और यज्ञ। मन वाक् प्राण इन तीनों का सम्मिलित नाम आत्मा है वही प्रजापति यज्ञ है। यजु ऋक् साम रूप वेदों से यज्ञ का प्रथम होता है, अतः वेद ही त्रयीरूप यज्ञ हैं। यह वेदत्रयी वाक् है। प्राण वाक् के द्वारा ही त्रिलोकी का उत्पादन करता है, अतः यही त्रिविक्रम विष्णु कहा जाता है 'यज्ञो ह वै विष्णुः' श्रुति से विष्णु ही यज्ञ है। यहाँ अनेक मतान्तर दिखाते हुए यज्ञ का स्वरूप बताया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार अग्नि और सोम जहाँ आपस में बदल जाते हैं उसे यज्ञ कहते हैं, उसी से सब प्रजायें उत्पन्न होती हैं। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, द्यावा पृथिवी ये तेतीस देवता ही प्रजा कहे गये हैं। ये तेतीस मिलकर एक रूप बन जाते हैं वही प्रजापति हैं, इस प्रकार यज्ञ की 34 व्याहतियाँ होती हैं। प्राण ही देव हैं समान शब्द से कहे जाने पर भी भिन्न-भिन्न हैं, एक

यज्ञ में जो अन्नाद हैं वही दूसरे यज्ञ में अन्न बनते हैं। जिस कर्म से यह होता है वही यज्ञ है। इसीलिये कहा जाता है कि यज्ञ से सब यज्ञ होते हैं। यह समस्त पृथिवी गार्हपत्य है सूर्य से युक्त द्यौ आहवनीय कुण्ड, दक्षिणात्य है, यह विश्व ही वेदि है। इस प्रकरण में यज्ञ शब्द मनुष्य शरीर पृथिवी आदि को वेदि मानकर अनेकों तरह से संगत बनाया गया है। यह सब कुछ यज्ञ ही है। यहाँ ज्ञातव्य है कि इसे अहोरात्र के रूप में समझाने का प्रयास नहीं किया गया है।

10. चातुर्होत्राधिकार

जो कुछ कहीं भी है वह चातुर्होत्रात्मक है, इन्हीं में यज्ञ की निर्मिति होती है। इनके बिना कोई सृष्टि नहीं है न उनके बिना कोई यज्ञ होता है। अग्नि वायु आदित्य चन्द्र ये चार नित्य होता कहे गये हैं। पांच भूतों को भी होता कहा गया है, उनसे यह यज्ञ होता है। छः ऋतु भी होता कहे गये हैं। भूतादि सत्यलोक पर्यन्त लोक भी सप्त होता कहे गये हैं। ये चार पाँच छः सात दश जितने भी कहे जायें वे 'चतुर्होतृ' शब्द से समझे जाते हैं। एक आत्मा इन यज्ञों से परिवर्तित होता हुआ मन प्राण वाक् से सम्पन्नतम प्रतीत होता है। इस प्रकार आत्मा शरीर द्यावा पृथिवी जो कुछ दिखाई देता है वह पाँच यज्ञों से ही निर्मित है। पाँच आत्मयज्ञ प्रकृति में स्थित हैं उनसे विधेय यज्ञों की कल्पना होती है। यह आत्मा ही यज्ञ है प्रजापति उसकी नाभि में स्थित है वह अन्तः प्रविष्ट है। इसमें सब प्रजायें चतुहोतृ यज्ञ एकीभूत हो जाते हैं। इस प्रकरण में सब यज्ञ हैं तथा सब होता हैं यही सिद्धान्त स्थिर हुआ है।

इस प्रकरण को भी अहोरात्र के रूप में समझाने का प्रयास नहीं किया गया है।

इस सार संक्षेप के सामने आने से यह स्पष्ट है कि अहोरात्रवाद सिद्धान्त न होते हुए भी, इसके जो तथ्य अनेक अधिकारों में प्रतिपादित हैं वे सिद्धान्त पक्ष में भी उस प्रकार हैं। अहोरात्रवाद केवल दो तत्वों को नया नाम दिया गया है, अर्थ की दृष्टि से यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है, केवल प्रारम्भिक अधिकार में अहोरात्र को सृष्टि का कारण बताने में नवीनता है। जब तत्वों को ही अहोरात्र का नाम दे दिया जाय तब सभी दार्शनिक अहोरात्रवादी बन सकते हैं शिव और शक्ति अहोरात्र कहे जा सकते हैं। आधुनिक विज्ञान के हाइड्रोजन और आक्सीजन को दिन रात कहा जा सकता है।

जहाँ मूल वैदिक सूक्त का सम्बन्ध है, वह आचार्य सायण के अनुसार सृष्टि से पूर्व की अवस्था का वर्णन है। सायण भाष्य में 'न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः' इस मन्त्र भाग में आये हुए प्रकेतः शब्द का अर्थ प्रज्ञानम् दिया गया है, इसके अनुसार रात्रि और अह्न शब्द की षष्ठी की भी सङ्गति बैठती है। मन्त्र में अहोरात्र का निषेध न होकर प्रज्ञान का ही निषेध है। सृष्टि से पूर्व सूर्य आदि नहीं थे अतः दिन रात का पता नहीं चलता था, यही सीधा अर्थ है। जिसका निषेध है वहाँ प्रथमा विभक्ति ही है जैसे 'न सदासीत्' आदि में। भारतीय परम्परावादी चिन्तन में ऋग्वेद से पूर्व किसी साध्य जाति की स्थिति या उनके कुछ मतों की स्वीकृति नहीं है। इन दशवादों की योजना ओझाजी की अपनी ही है। भारतीय तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से कुछ स्थापनाओं पर भी गम्भीर विवेचन आवश्यक है।

(1) प्रकाशान्धकार[8] पर शाकायनि के मत से अन्धकार को भाव पदार्थ कहा गया है। यहाँ जो तर्क दिये गये हैं वे अन्धकार को अभाव ही सिद्ध कर रहे हैं। प्रकाश से पूर्व या बाद में तम ही शेष रहता है अत: यह विभु और नित्य पदार्थ है। तुल्य न्याय से घट की उत्पत्ति से पूर्व तथा नाश के बाद होने वाला अभाव भी नित्य पदार्थ माना जायेगा। यह किसी भी दार्शनिक को मान्य नहीं है।

(2) ऋत सत्याधिकार[9] में चन्द्रमा को ऋतुओं का कारण कहा गया है। यह भारतीय चिन्तन तथा आधुनिक विज्ञान दोनों के ही प्रतिकूल है। ऋतुयें सूर्य से होती हैं यह भारतीयों को मालूम था। सूर्य का एक नाम ऋतुधामा उपलब्ध है।[10]

यहाँ ऋतुधामा का अर्थ व्याख्याकारों ने सूर्य ही किया है।[11] आधुनिक चिन्तन में ऋतुओं का कारण पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर घूमना है।

(3) सर्गप्रलयाधिकार[12] पर विद्वान् वार्कलि की काल गणना के अनुसरा 10800 मुहूर्तों का वर्ष माना गया है। लगता है यह गणना स्थूल थी, क्योंकि वर्ष के 5 दिन अर्थात् 150 मुहूर्त्त कम हैं। फिर भी इस गणना पर विचार होना चाहिए।

ग्रथन की दृष्टि से ग्रन्थ प्रौढ तथा परिमार्जित है। श्लोक रचना स्वाभाविक रूप से स्फुरित हुई है। काल गणना के संबंध में ग्रन्थकार ने अपना पद परिचय काल आदि दे दिया है —

शैलाद्रिगोचन्द्रमितास्तु वत्सरा।
अद्यात्यगुर्विक्रमसजकालत:।

यस्यास्मि धर्माधिकृत: स साम्प्रतम्
विराजते माधवसिंह भूपति: ॥[13]

पादटिप्पण

1. द्र. ब्रह्मकर्मपरीक्षा, पृ.31
2. ऋग्वेद, 10-129-2.
3. वही, 6-58-1
4. अहोरात्रवाद, पृष्ठ-5
5. तैत्तिरीयब्राह्मण, 2-2-2
6. ऋग्वेद, 1-164-33
7. अहोरात्रवाद, पृष्ठ-15
8. वही, पृष्ठ-8
9. वही, पृष्ठ-28
10. वाक्यपदीय, स्वोपज्ञटीका, 1-1
11. द्रष्टव्य अम्बाकर्त्रीव्याख्या
12. अहोरात्रवाद, पृष्ठ-5
13. वही, 3-66

दशवाद रहस्य - भूमिका

डॉ. प्रभावती चौधरी

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद् रजो नो व्योम परो यत्
किमावरीव: कुह कस्य शर्मन्नम्भ: किमासीत् गहनं गभीरम्
न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत: ।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव ॥

शाश्वत सत्य की जिज्ञासा ने मानव-प्रज्ञा को उत्कृष्ट चिन्तन के मार्ग पर प्रेरित किया । चिरन्तन काल से महर्षि उस सत्य को जानने के लिए अनवरत साधना करते रहे । ऋग्वेद के दशम मण्डल के नासदीय सूक्त के इन दो मन्त्रों में मानव-जिज्ञासा की यही प्रवृत्ति भासित हो रही है । जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, सृष्टि का क्रम क्या है, इसका स्वरूप क्या है आदि अनेक प्रश्न अनादिकाल से मानव को उद्वेलित करते रहे। प्रकृति से उसके सम्बन्ध एवं उन सम्बन्धों पर चिन्तन ने ज्ञान-विज्ञान-दर्शन-कला आदि की परम्परा को पुष्पित एवं पल्लवित किया । सम्प्रति न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त रूप से दर्शन का जो स्वरूप हमें प्राप्त है वह उस परम सत्य के चिन्तन की अजस्र धारा का फलित रूप है । चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शन भी उसी चिन्तन धारा का अङ्ग हैं ।

अधुना उपलब्ध मतों से पूर्व इस चिन्तन का क्या स्वरूप था ? यह जिज्ञासा सहज ही हमें देवयुग की ओर उन्मुख करती है । नासदीय सूक्त के उपर्युक्त मन्त्रों में हमें तत्कालीन चिन्तन का स्पष्ट संकेत मिलता है । इन दोनों मन्त्रों में दश सिद्धान्तों का नामोल्लेखपूर्वक निषेध किया गया है । उस समय न सत् था, न असत् ही था, न रज: (अणु) था, न व्योम था, न मृत्यु ही थी न अमृत था । इन दस वादों का स्पष्ट निरूपण इन मन्त्रों में प्राप्त होता है ।

शाश्वत सत्य के चिन्तन की अजस्र धारा भिन्न वादों में क्यों विभक्त हो गई ? उस परम सत्य को महर्षियों ने पृथक्-पृथक् रूप में कैसे जाना ? यह विचारणीय प्रश्न है । प्राचीन काल में एक दन्त कथा प्रचलित थी - छ: अन्धे मनुष्यों ने हाथी को जानने का प्रयत्न किया । एक ने हाथी के विशाल शरीर को हाथ लगाकर उसे दीवार के समान ऊँचा एवं विशाल जाना । दूसरे ने दाँत के हाथ लगाकर उसे बरछे के समान लम्बा व तीखा समझा । तीसरे ने कानों के हाथ लगाकर उसे पंखी के सदृश जाना । चौथे ने पैरों को हाथ लगाकर वृक्षवत् समझा । पाँचवे ने पूँछ के हाथ लगाकर हाथी का स्वरूप रस्सी जैसा एवं छठे ने सूँड पकड़कर उसे सर्प के आकार सदृश समझा । यहाँ सहज प्रश्न उत्पन्न होता है कि उन अन्धे मनुष्यों का ज्ञान सत्य था अथवा मिथ्या ? वस्तुत: उनका ज्ञान सत्य भी था एवं मिथ्या भी था । क्योंकि उन्होंने हाथी के सम्पूर्ण शरीर को नहीं अपितु एक-एक अङ्ग को जाना एवं उसे ही हाथी का स्वरूप समझा ।

उसी प्रकार महर्षियों की चिन्तनधारा पृथक्-पृथक् तत्त्व को आलम्बन बनाकर प्रवाहित हुई जिसके फलस्वरूप भिन्न वादों का प्रादुर्भाव हुआ। ये भिन्न-भिन्न वाद ही दशवादों के रूप में अभिहित है। ये दशवाद इस प्रकार है — (1) सदसद्वाद (2) रजोवाद (3) व्योमवाद (4) अपरवाद (5) आवरणवाद (6) अम्भोवाद (7) अमृतमृत्युवाद (8) अहोरात्रवाद (9) दैववाद (10) संशयवाद

इन मतों में मुख्य रूप से सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विचार किया गया। किसी मत में सत्, किसी में असत्, किसी में व्योम, किसी में जल तो किसी में अणु को सृष्टि का कारण माना गया। फलतः कोई भी वाद शाश्वत सत्य का पूर्णरूपेण प्रतिपादन नहीं कर पाया। इन दशवादों का क्या स्वरूप था, इसका चिन्तन पण्डित मधुसूदन ओझा ने अपने ग्रन्थों में विशदरूप से किया। जहां 'दशवाद-रहस्य' में इनका संक्षिप्त निरूपण किया वहीं एक-एक वाद पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ की रचना की। अन्त में इन सभी वादों को अपूर्ण बताकर सिद्धान्तवाद की स्थापना की।

पण्डित ओझा ने इन दशवादों के विषय में कैसे जाना? यह प्रश्न विद्वानों को अत्यधिक उद्वेलित करता है। वेद, उपनिषद् एवं ब्राह्मणों में अनेक ऐसे सूत्र यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं - प्राणो वै वायुः, वागेवेदं सर्वम्, प्रजापतिश्चरति गर्भे, स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः, सर्वं तेजः साम रूपं हि शश्वत्, असद्वा इदमग्र आसीत्, ते अङ्गिरसः सूनवः - आदि अनेक परस्पर असम्बद्ध सूत्रों के चिन्तन ने मधुसूदन ओझा को इन दशवादों के चिन्तन के लिए प्रेरित किया। इन दश मतों को विद्यावाचस्पति ने दशविज्ञान की संज्ञा क्यों दी, यह विचारणीय प्रश्न है। इसे समझने के लिए हमें उनके मतानुसार ज्ञान-विज्ञान का स्वरूप जानना आवश्यक है।

"दृष्टि के सामने आने वाले विभिन्न पदार्थों में समान रूप से मूलतः वर्तमान रहने वाले किसी एक तत्त्व का अनुभव ज्ञान है।" कार्बन, हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन आधुनिक विज्ञान के अनुसार तीन तत्त्व हैं, विभिन्न पदार्थों में इनकी अनुभूति ज्ञान है। उदाहरणतः - लकड़ी से निर्मित विभिन्न वस्तुओं में आधारभूत मूल तत्त्व लकड़ी का अनुभव ज्ञान है।

"मूल में एक स्थायी नित्य तत्त्व मानकर उसकी ही अनन्त पदार्थों में परिणति का वर्णन विज्ञान कहलाता है" जैसे कार्बन, हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन के अलग-अलग परिमाण में योग से जो यौगिक बनते हैं उन्हें जानना विज्ञान है। इसी प्रकार लकड़ी को एक मूल तत्त्व मानकर उससे भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन विज्ञान है।

दशवादों को विज्ञान कहने के पीछे पण्डित जी की यही अवधारणा रही है। इन सभी वादों में पृथक्-पृथक् एक तत्त्व को मूल मानकर जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है। उदाहरणतः - रजोवाद में रजः अथवा अणु को मूल तत्त्व माना गया एवं अणु से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया। इसी प्रकार व्योमवाद में व्योम को ही जगत् का प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण माना गया। इस प्रकार सभी वाद विज्ञान ही प्रतीत होते हैं।

असद्वाद — दृश्यमान् जगत् के नित्यानित्यत्व का विवेक सदसद्वाद में किया गया है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है - इसके तीन विकल्प बनते हैं - असत्, सत् एवं सदसत्। (1) तैत्तिरीय एवं उनके मतावलम्बी महर्षियों ने इस जगत् को अनित्य एवं नश्वर समझा तथा स्वप्न प्रपञ्चवत् मिथ्या माना। उनके मतानुसार 'असत्' तत्त्व से ही जगत् की उत्पत्ति हुई। 'असत्' ही सृष्टि का मूल कारण है। यह तैत्तिरीय मत ही 'असद्वाद' के रूप में विख्यात हुआ। परवर्ती काल में यही बौद्ध आदि दर्शनों के दार्शनिक मत का अवलम्बन बना। श्रमण मत के नाम से प्रख्यात हुआ। असद्वाद के सात विकल्प बने। किसी ने क्षणिक विज्ञान, तो किसी ने कर्माद्वैत, किसी ने असत् को तो किसी ने बल को सृष्टि का मूल माना। ये सात विकल्प इस प्रकार है — (1) क्षणिकविज्ञानाद्वैत (श्रमणमत) (2) कर्म्माद्वैत (सौगत मत) (3) बलसारत्व (4) असत्कार्यवाद (न्याय) (5) असन्मूलादृष्टि (6) प्रागभावकारणतावाद (न्याय) (7) बलैकाव्यक्तबीजत्वाद (सौगतमत)

इस प्रकार अनित्य मूल तत्त्व को आधार बनाकर भिन्न-भिन्न विचार प्रचलित हुए।

(2) सद्वाद — असत् से सत् की उत्पत्ति नितान्त असंभव है। सत् ही जगत् का मूलतत्त्व है एवं सत् से ही असत् की उत्पत्ति हुई। आरुणि एवं उनके मतावलम्बियों का यह मत ही सद्वाद कहलाया। उनके अनुसार सृष्टि अनित्य है। सत् (नित्य तत्त्व) रूप मूल से उत्पन्न होकर उसी में विलय को प्राप्त हो जाती है। उत्पत्ति एवं विलय का यह क्रम अनवरत रूप से चलता रहता है। इस मत को ही आर्ष मत के रूप में जाना जाता है। ब्राह्मणमत एवं सांख्य मत इसे आधार बनाकर ही प्रवृत्त हुए। इसके भी सात विकल्प हैं — (1) नित्यविज्ञानाद्वैत (ब्राह्मण मत) (2) ब्रह्माद्वैत (3) रससारत्व (4) सत्कार्यवाद (सांख्य) (5) सन्मूलादृष्टि (6) संभूतिविनाशप्रकृतिवाद (सांख्य) (7) गुणत्रयाव्यक्तबीजत्ववाद (सांख्यमत)

3. सदसद्वाद — सत् से असत् एवं असत् से सत् की उत्पत्ति असंभव है क्योंकि कार्य सदैव कारण के समान होता है। कुछ पदार्थ सदैव नित्य एवं कुछ अनित्य होते हैं। अनित्य पदार्थों से नित्य पदार्थों की उत्पत्ति संभव नहीं है। असत् एवं सत् दोनों ही जगत् का मूल कारण है। याज्ञवल्क्य का यह मत ही सदसद्वाद कहलाता है। इसके भी सात विकल्प बनते हैं - (1) आनन्दविज्ञान द्वैत (मध्यस्थ) (2) द्वैताद्वैत (3) भिन्नाभिन्नत्वसिद्धान्त (4) मिथ्याकार्यवाद (5) सदसदैकात्मयमूलासृष्टि (6) विद्याविद्यावाद (वेदान्त) (7) अक्षरैकाव्यक्त बीजत्ववाद (बादरायण)

असद्वाद, सद्वाद एवं सदसदवाद् ही क्रमशः श्रमण मत, ब्राह्मण मत एवं मध्यस्थ मत रूप से प्रसिद्ध है। सांख्य ब्राह्मणमत का, बौद्ध, न्याय श्रमणमत के एवं वेदान्त व शारीरक मत मध्यस्थ मत के प्रतिनिधि दर्शन है।

रजोवाद — आधुनिक वैज्ञानिक युग के सदृश देवयुग में भी अणु पर चिन्तन किया गया तथा उसे मूल कारण मानकर उससे ही सृष्टि का प्रादुर्भाव माना गया । रज: ही अणु है । प्राचीन काल में अणु के स्वरूप का जो विचार किया गया वह आधुनिक विज्ञान द्वारा परिभाषित परमाणु के स्वरूप से साम्य रखता है । जगत् के मूलरूप से दो रूप दिखाई देते हैं गतिशील एवं स्थितिशील । पदार्थों में यह द्विरूपता अणुओं के द्विविध स्वभाव के कारण होती है। अणु द्विविध है - गतिशील स्थितिशील । गतिशील अणु भी दो प्रकार के हैं — (1) प्रथम वे जो स्वभाव से ही गतिशील है (2) द्वितीय वे जो स्वभावत: स्थितिशील हैं परन्तु गतिशील अणुओं के संसर्ग में आकर गति करने लगते हैं । इसी प्रकार स्थितिशील अणु भी दो प्रकार के होते हैं (1) प्रथम जो स्वयं स्थितिशील है (2) द्वितीय जो गतिशील हैं परन्तु परवशात् स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं ।

अणु जब परस्पर संयुक्त होते हैं तो जगत् की सृष्टि होती है । अणुओं का यह संकोच ही घनत्व अथवा सोम कहलाता है । परस्पर विखण्डित होते हुए अणु प्रसार को प्राप्त करते हैं उनका यह विकास ही विस्तार अथवा अग्नि कहलाता है । इसी संकोच-विस्तार अथवा अग्नीषोम से जगत् की व्युत्पत्ति मानी गई है । अणुओं की सात अवस्थाएं हैं अत: सात प्रकार के ही लोक माने गए हैं - भू:, भुव:, स्व: मह:, जन: तप:, सत्यम् रज: अर्थात् अणु से जगत् की उत्पत्ति मानी गई अत: लोकों की संज्ञा रज है । वह परमेश्वर रज से परे है अत: उसकी संज्ञा परोरजा है । यह कार्य रूप दृश्यमान जगत् अपने कारणभूत अणु से उत्पन्न होकर उसी में लय को प्राप्त होता है । जगत् में जो भिन्नता है वह काल, स्वभाव एवं कर्मवश है । रवि-चन्द्र-पृथ्वी आदि की परस्पर एवं पृथक्-पृथक् गति का नाम काल है । स्वभाव से भी पदार्थों में भिन्नता होती है - अग्नि स्वभावत: नीचे से ऊपर की ओर प्रज्वलित होता है, जल स्वभावत: ऊपर से नीचे की ओर गमन करता है । कर्म की भिन्नता के कारण घर, पट आदि व्यवहार होता है । काल, स्वभाव एवं कर्म से ही जगत् का व्यवहार निष्पन्न होता है । पुरुष इन सबसे से अतीत या परे है ।

काल: स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि: पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीश: सुखदु:ख हेतो: ।

व्योमवाद — पृथ्वी सूर्यमण्डल के चारों तरफ भ्रमण करती है । चन्द्र पृथ्वी के चारों तरफ भ्रमण करता है । पृथ्वी अपनी धुरी पर भ्रमण करती है । इसी प्रकार मनुष्य-पशु-पक्षी सभी गतिशील दिखाई देते हैं इस गतिशीलता का कारण आकाश तत्त्व है । यदि आकाश हमें अवकाश न दे तो हम अपने हाथ का प्रसार भी नहीं कर सकते । इसी प्रकार जगत् के जितने भी गतिशील अथवा स्थितिशील पदार्थ हमें दिखाई पड़ते हैं उन्हें अवकाश आकाश ने ही दिया है । अत: आकाश ही जगत् का मूल कारण है । किसी भी वस्तु की प्रतीति हमें तीन रूप से होती है (1) नाम से (2) रूप से (3) कर्म से । आकाश के बिना रूप की स्थिति संभव नहीं । वाक् की स्थिति भी आकाश में ही है

आकाश के बिना वाक् फलीभूत नहीं हो सकती । नाम वाक् के द्वारा ही प्रकाशित होते हैं । एवं कोई भी कर्म चाहे वह श्वास-प्रश्वास ही क्यों न हो आकाश के बिना संभव नहीं । यही कारण है कि व्योमवादी आकाश से ही जगत् की उत्पत्ति मानते हैं तथा डिण्डिमघोष करते हैं —

तस्मादध्रुवं यद्यदिहास्ति किञ्चित् सर्वं तदाकाशमिति ब्रवीमि ।
आकाश एवं प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं तन्मयमस्ति सर्वम् ।।(3)

व्योम पर एवं अपर रूप से द्विविध बताया गया है । पर व्योम अमृत है, इन्द्र है एवं देवताओं की व्युत्पत्ति का स्थान है । अपरव्योम आकाश नाम से प्रसिद्ध है यह भूतयोनि है । देव एवं भूत ही यह जगत् है ।

अपरवाद — अपर का तात्पर्य है जो पर अर्थात् दूसरा नहीं है अर्थात् स्वभाव । सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभावानुसार होते हैं। कुछ पदार्थ शीत तो कुछ उष्ण, कुछ गतिशील तो कुछ स्थितिशील होते हैं । उनका यह स्वभाव ही उनके स्वरूप निर्माण में निमित्त बनता है । यह अपरवाद ही स्वभाववाद एवं प्रकृतिवाद कहलाता है । दशवाद-रहस्य में इसे वाक् संज्ञा दी गई है । वैदिक मन्त्रों में वागम्भृणी ने अपने स्वरूप का स्वयं वर्णन किया है । जिसमें उसने स्वयं को समस्त भुवनों की उत्पत्ति कर्त्री माना है ।

"अहमेव वात इव प्र वाम्यारम्भमाणा भुवनानि विश्वा ।
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे"
अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं श्रृणोत्युक्तम् ।।(4)

इस वाक् के द्विविध भेद किए गए हैं - पर एवं अपर । वाक् पर व्योम से प्रसिद्ध है एवं वागाम्भृणी अपर व्योम है ये दोनों ही क्रमशः अमृत एवं मर्त्य कहलाते हैं ।

आवरणवाद — जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो 'यह वस्तु ऐसी है' इस रूप में उसे जानते हैं। इस प्रकार के ज्ञान के दो हेतु है एक वस्तु की सीमा (फैलाव) एवं दूसरा उस वस्तु का भार । सीमा एवं भार ही इस वस्तु को उसका स्वरूप प्रदान करते हैं । किसी भी पदार्थ का सीमा के से आवृत्त होना ही वयोनाध है । यही आवरणवाद है । प्रत्येक वस्तु के चारों तरफ प्राणों का मण्डल होता है जो उसे आवृत करता है । यह आवरण जितना बड़ा होगा वस्तु उतनी ही बड़ी दिखाई देगी । जब हम किसी वस्तु से दूर जाते है तो उसका मण्डल भी छोटा होता जाता है एवं वस्तु का स्वरूप भी छोटा दिखाई देना लगता है । तथा अधिक दूर जाने पर वस्तु दिखाई देना बन्द हो जाती है । किसी भी वस्तु के स्वरूप का तीन प्रकार से निरूपण हो सकता है (1) वयुन (2) ज्योति (3) यज्ञ ।

वस्तु को देखने पर 'यह वस्तु ऐसी है' इस रूप में जानना 'वयुन' है। यह वयुन वयो एवं वयोनाध रूप से द्विविध होता है। वस्तु का भार वयो है एवं उसका विस्तार (सीमा) वयोनाध है। वस्तु का स्वरूप इन दोनों से ही निर्धारित होता है। यही कारण है कि इन दोनों की भिन्नता से ही वस्तु में भेद दिखाई देता है। शिल्पी मृत्पिण्ड से अश्व व हाथी का निर्माण करता है - यहाँ दोनों आकृतियों के निर्माण में मूल तत्त्व एक मृत्पिण्ड ही है। परन्तु अश्व की आकृति का विस्तार (सीमा) हाथी की विस्तार सीमा से भिन्न है इसी प्रकार भार भी भिन्न है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में यह भिन्नता दिखाई देती है। यह भिन्नता वयुन अर्थात् वयो एवं वयोनाध के कारण ही है।

ज्योति — वयुन के अतिरिक्त जो तत्त्व वस्तु के बोध में सहायक है वह तत्त्व है ज्योति अथवा प्रकाश। पदार्थ तीन प्रकार के ही होते हैं — (1) स्वतः प्रकाश (2) परतः प्रकाश (3) रूपप्रकाश जो पदार्थ स्वयं प्रकाशित है वे स्वतः प्रकाश अथवा ज्योति पद से व्यवहृत है। सूर्य एवं सूर्य के जैसे अनेक तारें स्वयं प्रकाशित है। परतः प्रकाश दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित है जैसे - चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है, इसी प्रकार अनेक तारे एवं अनेक पृथिवी आदि गृह भी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित हैं। अतः ये सभी परतः प्रकाश है। तीसरे प्रकार के पदार्थ हैं रूप-प्रकाश। इन पदार्थों की नाभि में अर्थबिम्ब होता है एवं अपनी छाया से पदार्थों को सदैव आवृत्त रखते हैं। यह छाया मण्डल ही हमारी आँखों की परिधि में आता है एवं हमें वस्तु के स्वरूप का दर्शन होता है।

यज्ञ — दैनन्दिन जीवन में हम देखते हैं कि कार्य अपने कारण में विलीन होता है एवं उससे पुनः उत्पन्न होता है। यह क्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है। उदाहरणतः मिट्टी से घड़ा बनता है एवं क्षय होकर पुनः मिट्टी बन जाता है। इसी प्रकार का क्रम जगत् की उत्पत्ति में निरन्तर चलता रहता है। यही वैज्ञानिक प्रक्रिया यज्ञ के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक पदार्थ मन-प्राण-वाक् से संयुक्त है। वाक् तत्त्व का नाश होता है द्यु-पृथ्वी आदि उसका भोग करते हैं उससे अन्न उत्पन्न होता है। अन्न का भोग पुनः वाक् करता है उससे प्राण उत्पन्न होता है एवं प्राण से मन उत्पन्न होता है। यही क्रम यज्ञ कहलाता है।

वाचो मनस्तन्मनसः पुनर्वाक् प्रवृत्त इत्थं क्रम एव यज्ञः।(5)

जगत् में जितने भी पदार्थ हमें दिखाई देते हैं उनका एवं उनकी दूरी का जो ज्ञान है वह 'वेद' कहलाता है। कोई भी वस्तु इस वेद से पृथक् नहीं है। यह वेद अथवा ज्ञान जिस तत्त्व से प्रेरित है वह तत्त्व प्रजापति है। वही आत्मा कहलाता है। इस प्रकार वेद एवं प्रजापति रूप से यज्ञ के दो प्रकार हैं। प्रजापति आत्मा है एवं वेद उसका शरीर है। प्रत्येक पदार्थ का आत्मा एवं शरीर अवश्य होता है एवं इन दोनों के द्वारा वस्तु अस्तित्व में आती है। इस प्रकार वयुन, ज्योति एवं यज्ञ तीनों ही वस्तु के स्वरूप निर्धारक तत्त्व हैं। यही मत आवरणवाद, वयुनवाद, प्राणवाद, छन्दोवाद एवं वयोवाद नाम से प्रसिद्ध है।

अम्भोवाद — दृश्यमान् जगत् में यत्किञ्चित् पदार्थ हैं वे घनत्व योग से ही निर्मित हैं एवं तनुता के क्रम से वे सभी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। घनता से तनुता प्राप्त करने एवं तनुता से घनता प्राप्त करने में उन्हें एक और प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, यह प्रक्रिया है द्रवता या तरलता। यह द्रव ही घनता या तनुता का मूल कारण है। गैस ठण्डी होकर (जल) द्रव रूप धारण करती है एवं द्रव ही शीतल होकर घनत्व (बर्फ) रूप को प्राप्त होता है। बर्फ को पुनः तनुता प्राप्त करने के लिए द्रव रूप होना आवश्यक है। यही अम्भोवाद का मूल सिद्धान्त है। जल ही घनत्व धारण करते हुए मृत रूप धारण करता है एवं तनुता धारण करता हुआ वायु रूप प्राप्त करता है अतः जल ही सृष्टि के निर्माण का मूल कारण है। घनत्व क्रम में पृथ्वी बन जाता है एवं उससे ही वृक्ष आदि रूप में उत्पन्न होता है। तनुत्व क्रम में अग्नि, वायु, वाक्, प्राण एवं मन रूप को प्राप्त होता है। अतः जल ही जगत् का प्रभव, प्रतिष्ठा एवं परायण है। यदि हमारे शरीर में जल तत्त्व का अभाव हो जाय तो शरीर नष्ट हो जाएगा। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति एवं लय का मूलभूत कारण जल ही परम् (उत्कृष्ट) स्थान पर स्थित है अतः परमेष्ठी कहलाता है। अम्भोवादी ब्रह्म के स्वरूप का विचार करते हुए उसे जलरूप ही सिद्ध करते हैं —

किं ब्रह्म नामेति विचारणायां न त्वम्भसोऽन्यत्परितर्कयामि ।.(6)

अमृतमृत्युवाद — जब हम सृष्टि के पदार्थों का अवलोकन करते हैं तो हमें कुछ पदार्थ नित्य एवं अविनाशी दिखाई देते हैं एवं कुछ अनित्य एवं नश्वर दिखाई देते हैं। इन नित्य एवं अनित्य तत्त्वों का विचार करके मूल में दो तत्त्व स्थापित करने वाला अमृत मृत्युवाद है। एक तत्त्व नित्य एवं अनश्वर तथा स्थिति लक्षण है वह अमृत है। द्वितीय गतिमान् व नश्वररूप है यही मृत्यु है। इन दोनों तत्त्वों से ही सृष्टि की उत्पत्ति एवं लय माना गया है। अमृत तत्त्व ही सोम है एवं मृत्यु तत्त्व ही अग्नि है। सोम रस एवं मृत्यु बल नाम से व्यवहृत होता है। यह बल तत्त्व दो प्रकार का है - सोम को ग्रहण करके घनत्व उत्पन्न करता हुआ जो नित्य ही घन रूप को प्राप्त कर लेता है यही अर्थाऽग्नि या आप कहलाता है। घनता को नष्ट करके गमन करने वाला यम अथवा मृत्यु कहलाता है। इन अग्नि, यम एवं सोम से ही अखिल जगत् की सृष्टि हुई। जगत् में यत्किञ्चित्, पूर्ण एवं शाश्वत सुख है वह अमृत तत्त्व का प्रभाव है एवं अपूर्ण नश्वर व दुःख है वह मृत्यु तत्त्व अथवा बल तत्व का प्रभाव है। यद्यपि अमृतमृत्युवाद में दो तत्त्व जगत् के मूल में बताए गए परन्तु दोनों का अद्वैत ही लक्षित होता है। क्योंकि रस या अमृत रूप नित्य तत्त्व में ही बल का उदय होता है एवं अमृत तत्त्व पर ही अवलम्बित रहता है।

अहोरात्रवाद — अनादि काल से सृष्टि में रात्रि एवं दिन का क्रम अनवरत रूप से चल रहा है। सूर्य का आगमन दिन एवं सूर्य का न होना ही रात्रि है। सूर्य स्वतः प्रकाश है अतः सूर्य के गमन से चारों ओर प्रकाश फैल जाता है यही अह्न के नाम से व्यवहृत होता है। सूर्य का तेज ही अग्नि है एवं

सृष्टि की उत्पत्ति में कारण है। चन्द्रमा स्वतः प्रकाश नहीं है अतः चन्द्र के आगमन पर रात्रि होती है। यही सृष्टि का अवसान है। यहाँ सूर्य नहीं होता। यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या लौकिक व्यवहार में दृश्यमान दिन एवं रात्रि ही जगत् के मूल कारण हैं या अन्य कोई अभिप्राय है? इस शङ्का का निवारण ग्रन्थकार ने स्वयं किया है —

ब्राह्मं पुण्यमहर्यच्च सृष्ट्युत्पादनकारणम्।
वेदवृक्षोद्भवं नित्यं तत्पुण्याहं ब्रुवन्तु नः॥
"युगसाहस्र-पर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रियुगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥(7)

यहाँ अहोरात्र का स्वरूप-दर्शन होता है। यह अहोरात्र अभाव-भाव, प्रलय-प्रसर्ग, सित-असित, अग्नि-सोम, अबोध-बोध, अन्धकार एवं प्रकाश, श्वेत-अश्वेत रूप से सात प्रकार है। अहोरात्र का क्रम निरन्तर चलता रहता है अतः ये शाश्वत एवं अनन्त है। यहाँ भी अद्वैत ही स्थापित होता है क्योंकि दिन से पूर्व एवं पश्चात् रात्रि ही रहती है अतः रात्रि ही मूल प्रकृति है एवं दिन विकार है। अतः अहोरात्रवादी रात्रि को ही जगत् का प्रभव एवं प्रतिष्ठा मानते हैं।

दैववाद — जब हम मिट्टी में पानी मिलाकर एक पिण्ड का निर्माण करते हैं व कुछ समय के पश्चात् उसका निरीक्षण करते हैं तो हम पाते हैं कि मृत्पिण्ड में जलांश सूख गया है परन्तु फिर भी वह पिण्ड बिखर कर अलग नहीं हो जाता। इसका क्या कारण है। जब हम जगत् के पदार्थों पर दृष्टिपात करते हैं तो दो ही तत्त्वों का मुख्य रूप से अनुभव करते हैं — एक संयोग करने वाले एवं दूसरे वियोग करने वाले। यह संयोग एवं वियोग ही सृष्टि की उत्पत्ति व प्रलय है। अनेक अणु जब परस्पर संयुक्त होते हैं तो पिण्ड का निर्माण होता है एवं अणु जब परस्पर विखण्डित होते हैं तो पिण्ड नष्ट हो जाता है। यहाँ स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वे कौनसे गुण हैं जो अणुओं के परस्पर संयोग एवं वियोग में कारण हैं। वह कौनसा गुण है जिसके कारण वह मृत्पिण्ड जल सूख जाने पर भी विखण्डित नहीं होता। ये दो गुण हैं - स्नेह एवं तेज। स्नेह गुण के कारण अणु परस्पर संयुक्त होते हैं एवं तेज गुण के कारण वियोग को प्राप्त होते हैं। सोम का गुण स्नेह एवं अग्नि का गुण तेज है। सोम के स्नेह गुण के कारण परस्पर संयुक्त हुए अणु अग्नि के तेज गुण के कारण विखण्डित कर दिये जाते हैं। लौकिक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है - हम आटे में पानी डालकर इसे गूंथकर चपाती बनाते हैं एवं अग्नि पर उसके जल तत्त्व के कुछ अंश को उड़ा देते हैं। यदि हम उस चपाती को कुछ अधिक देर तक आग के संसर्ग में रखेंगे तो वह जल कर नष्ट हो जाएगी एवं चूर्ण के रूप में आ जाएगी। यही प्रक्रिया जगत् में निरन्तर चलती रहती है। ये अग्नि एवं सोम ही जगत् के प्रलय व प्रसर्ग में कारण है। अतः जगत् को अग्निषोमीय कहा जाता है। ये अग्नि व सोम ही देवस्वरूप हैं एवं विभिन्न रूप धारण कर सृष्टि का कारण बनते हैं। दैववादी देव (अग्नि-सोम) से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं —

यदस्ति किञ्चित् सकलं हि दैवाधीनं सदाकस्मिकमेव मन्ये ।
भवन्ति जीवन्ति तथा म्रियन्ते दैवादिति प्राग् बृहदुक्थ ऊचे ॥(8)

संशयवाद — सृष्टि का प्रादुर्भाव कैसे हुआ - इस प्रश्न पर चिन्तन ने अनेक वादों को अवकाश दिया । परन्तु वे सभी वाद अपूर्ण प्रतीत होते हैं क्योंकि उस मूल तत्त्व के विषय में सभी में वैमत्य है सभी तर्कों के आधार पर खण्डित हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में किस तत्त्व को सृष्टि का मूल माना जाय यह शङ्का बनी रहती है । सम्प्रति वैज्ञानिक युग में भी यह जिज्ञासा शान्त नहीं हुई है । जगत् का क्या स्वरूप है एवं नित्य नवीन पदार्थों का प्रादुर्भाव कैसे होता है - यह सब कुछ संदिग्ध है । इस पर अब तक विधिवत् विचार ही नहीं हुआ । इस प्रकार का संशय ही संशयवाद का जनक है । कठोपनिषद् का प्रस्तुत मन्त्र भी इस संशयवाद का अनुमोदन करता है —

"आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्व श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥(9)

पण्डित ओझा ने इन दशवादों को अर्वाचीन माना है । उनके मत में ये दश मत सत्य से परे तो नहीं है परन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है —

एतानि सर्वाणि मतानि लोके चिरात्प्रवृत्तान्युपृंहितानि ।
नैतानि सत्यादपयन्ति किन्तु सृष्टिक्रमेऽर्वाग् विषयाणि तानि ॥(10)

इन दशमतों की समीक्षा करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है कि पृथक-पृथक तत्त्व को आलम्बन बना कर प्रवृत्त हुए ये तत्त्व वस्तुतः एक-दूसरे का विरोध करते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन ही करते हैं । प्रस्तुत सारिणी से इसका स्पष्टीकरण हो जाएगा —

रजोवाद - अणु (जगत् का मूल कारण)

गतिशील	स्थिर
क्षोभयुक्त	शान्त
अग्नि	सोम

व्योमवाद - व्योम (जगत् का मूल कारण)

पर	अपर
अमृत	मर्त्य (आकाश)
देवसृष्टि	भूतसृष्टि

अपरवाद - वाक् (जगत् का मूल)

पर	अपर
व्योम	वागम्भृणी
अमृत	मर्त्य

आवरणवाद — आवरण (वस्तु का स्वरूप निर्माता)

वयुन	ज्योति	यज्ञ
ऋक्	सोम	यजुः
वाक्	मन	प्राण
अग्नि	सोम	अग्नि (वायु)

अम्भोवाद - अम्भः (जगत् का मूल)

भृगु	अङ्गिरा
सोम	अग्नि
घनता	तनुता

अमृतमृत्युवाद - अमृत व मृत्यु (मूल तत्त्व)

अमृत	मृत्यु
स्थितिलक्षण	गतिलक्षण
सोम	अग्नि
अमृत	यम
रस	बल

अहोरात्रवाद - अहोरात्र (जगत् के मूल तत्त्व)

अहो	रात्रि
सूर्य (अग्नि)	सोम (चन्द्र)
सृष्टि	अवसान
विकृति	प्रकृति

दैववाद - दैव (सृष्टि का मूल कारण)

अग्नि	सोम
तेज	स्नेह
तनुता	घनता
मृत्यु	अमृत
दुःख	सुख

प्रस्तुत सारिणी से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वाद में मूल में दो तत्त्व एक नित्य एवं एक अनित्य माने गये एवं इन दोनों तत्त्वों से ही जगत् की उत्पत्ति मानी गयी। नित्यतत्त्व ही अनित्य तत्त्व का आलम्बन माना गया। एक तत्त्व गतिमान् एवं दूसरा स्थितिशील माना गया। ये दो मूल तत्त्व अग्नि (गतिमान्) व सोम (स्थिर) ही है। स्थिर तत्त्व ही घनता एवं निर्माण तथा गतिशील तत्त्व तनुता एवं विनाश का कारण है। अत: अग्नीषोमात्मक जगत् ही इन वादों का मूल है। सदसद्वाद भी इसी का कथन करता है। वस्तुत: इन सभी वादों का सदसद्वाद में अन्तर्भाव किया जा सकता है।

वस्तुत: ये सभी वाद मूल तत्व ब्रह्म के अर्वाक् स्वरूप अग्निसोम को ही जगत् का कारण मानते है। अग्नि-सोम उस मूल के ही दो स्वरूप है। ब्रह्म या रस तो निर्विकार, अविनाशी, शान्त एवं असीम है। वही आभु के नाम से व्यवहृत होता है। उसी तत्त्व से सष्टि की उत्पत्ति होती है। एवं उसी में सृष्टि लय को प्राप्त होती है। उस निर्विकारी, नित्य एवं अविनाशी तत्त्व से इस परिवर्तनशील जगत् की उत्पत्ति कैसे संभव है ? जिस प्रकार एक बीज से उत्पन्न होकर अंकुर, पिण्ड, शाखा, पत्र, पुष्प, फलादि भिन्न-भिन्न पदार्थ बनकर उनके समूह से एक वृक्ष का स्वरूप निष्पन्न होता है उसी प्रकार ब्रह्म रूपी एक तत्त्व से शनै: शनै: अनन्तानन्त भाव उत्पन्न होकर उनके समूह से यह जगत् उपस्थित होता है। यद्यपि बीज से वृक्ष बनने पर बीज का असली स्वरूप नष्ट हो जाता है परन्तु ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होने पर भी ब्रह्म के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता इसी कारण वह 'ब्रह्म' है। जब हम मिट्टी से घड़ा बनाते है तो मिट्टी रूप कारण से घट रूप कार्य निष्पन्न होता है। कार्यरूप घट कारण रूप मिट्टी से उत्पन्न होकर उसमें ही लय को प्राप्त होता है। यही सम्बन्ध ब्रह्म एवं जगत् का है। ब्रह्म का जगत् के साथ षड्विकल्प सम्बन्ध है —

(i) ब्रह्म में जगत् है

(ii) जगत् में ब्रह्म है

(iii) ब्रह्म व जगत् एक ही पदार्थ है

(iv) ब्रह्म व जगत् भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं

(v) जगत् से ब्रह्म भिन्न है परन्तु ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं है।

(vi) ब्रह्म-जगत् का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है।

यह षड्विकल्प सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध होने पर भी अविरोध रूप से ब्रह्म में घटित होते हैं। इस षड्विकल्प सम्बन्ध के अनुसार इस जगत् का मूल 'ब्रह्म' है।

पण्डित मधुसूदन ओझा ने अपने इसी सिद्धान्त की स्थापना ब्रह्म सिद्धान्त में की है। उपर्युक्त दश मतो को पूर्व पक्ष में रखते हुए अपने मत का प्रतिपादन ही विद्यावारिधि ने अपने ग्रन्थों में किया है। ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति होती है एवं ब्रह्म में ही सृष्टि लय को प्राप्त होती है। ब्रह्म अथवा रस रूप

नित्य तत्त्व में बल रूप विकार का प्रादुर्भाव होता है यही बल सृष्टि की उत्पत्ति में निमित्त बनता है। बल की उद्बुद्धावस्था में ब्रह्म की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं व्यक्त होती है। रस जब तक शान्त रहता है आनन्द कहलाता है। रस में जब बल किञ्चित् मात्रा में उल्वण रहता है तो वह रस 'विज्ञान' कहलाता है। रस व बल की साम्यावस्था को 'मन' कहा जाता है। किञ्चित मात्रा में उल्वण परन्तु बल से अभिभूत रस 'प्राण' कहलाता है। रस को सर्वथा अभिभूत करने वाला बल 'वाक्' है। बल से अभिभूत प्राणरूप रस ही सृष्टि प्रक्रिया का उपादान कारण बनता है। रस जब तक अविकारी शान्त एवं आनन्दमय बना रहता है वह 'अव्यय पुरुष' कहलाता है। प्राण के आधार पर अक्षर एवं वाक् के आधार पर क्षर पुरुष का विकास होता है। इस प्रकार ब्रह्म की तीन अवस्थाएं हैं —

अव्यय, अक्षर एवं क्षर। अक्षर एवं क्षर ब्रह्म पाँच - पाँच प्रकार का है —

	अक्षर	क्षर
1.	ब्रह्म	प्राण
2.	विष्णु	वाक्
3.	इन्द्र	आप्
4.	अग्नि	अन्नाद
5.	सोम	अन्न

अक्षर ब्रह्म के ये पाँच प्रकार वस्तुत: प्राण अथवा गति के ही पाँच प्रकार है। पाँचो प्राणों से युक्त अक्षर पुरुष ही क्षर ब्रह्म की पञ्च कलाओं से संयुक्त होता हुआ क्रमश: स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र एवं पृथ्वीलोक के रूप में उपस्थित होता हैं। यहीं से मूर्त सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। उस अमूर्त से मूर्त तत्त्व की उत्पत्ति विशद विवेचना का विषय है। जिसका वर्णन हमें विद्यावाचस्पति जी के ब्रह्म-सिद्धान्त, ब्रह्म-विनय ब्रह्म-चतुष्पदी, ब्रह्म-विज्ञान आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

---

(1) ऋ.10/129/1-2-6
(2) दशवाद रहस्यम् 2/29
(3) वही 3/10
(4) ऋग्वेद 10/125
(5) दश. रहस्यम् 5/11
(6) वही 6/6
(7) पुण्याहवाचनम् (दशवादारहस्य)
(8) दश. रहस्यम् 9/4
(9) कठोपनिषद्
(10) दश. रहस्यम् 11/2

Introduction to Maharshikulavaibhavam

G.U. Thite*

Maharshikulavaibhavam is an important work by Pt. Madhusudan Ojha who was a prolific writer in Sanskrit on the Vedic subjects. He was born in a village named Gadha which is situated in the Muzaffarpur district of Bihar State. He was born in Samvat 1923 (1866 A.D). His father Pt. Vaidyanath Ojha was also a traditional Sanskrit scholar. Pt. Madhusudan Ojha completed his primary studies with his father. Later on he studied gramar from Pt. Vihnath and Pt. Ramabhajan. In spite of the calamity in the form of the death of his father while Pt. Madhusudan Ojha was only fifteen years old, he continued his study after going to Varanasi. There he learnt grammar, Nyaya, Mimamisa, Sahitya and Vedanta from Pt. Shivkumar Shastri. He was married at the age of seventeen. After he completed his education he became a protege of the king of Jaipur. Not only he worked as a Sanskrit Scholar in the court of the King, he also worked as a teacher in the Government Arts college. He had very close relations with the King (Shri Madhava Simha) and he accompanied the king at the time of the latter's visit to England. There he had an opportunity to meet with the Sanskrit Scholars in England. After returning from England he devoted himself to the study of Veda and wrote 228 works. He was also actively engaged in teaching work. He was felicited at the age of seventy. Although he had produced many works he did not claim to have established any "school" or "tradition" of his own thinking. He claimed that he has not written anything new but only had drawn the attention of the scholars to the secrets already existing in the ancient literature. Barring a few exceptions, he prefered to write independent treatises to commentaries. Not all the works of this scholar have been published. Approximately only forty works are published so far. Pt. Madhusudan Ojha died at the age of 73 in Samvat 1996 (1939 A.D.). He will be remembered as an original author of numerous works mainly in the field of Veda and Indian philosophy. He has shown an independent way of thinking which is mystical but contains some

* Deptt. of Sanskrit, University of Poona.

eflections of modern science also. He himself calls his point of view to be vaijnanika (scientific or rather based on physics). There are two works under the name Maharshikulavaibhavam. The first one was published in 1956 under the editorship of Pt. Giridhar Sharma. In that book the author has given a general introduction to concept of Rishi. The second book carrying the same name was published by the Rajasthan Oriental Research Institute as the 54th volume in its series of publications. This was edited by the son of Pt. Madhusudan Ojha, Pt. Pradyumna Sharma. The editor has also given an abstract of this book in Hindi. This work contains information on the individual Rishi. Thus it can be said that the two volumes of Maharshikulavaibhavam are complimentary to each other. They can be treated as two parts of the same book.

In order to understand the concept of Rishi according. to Pt. madhusudan Ojha,it will be desirable to refer to the Maharshikulavaibhavam I. In that book, he says that the word Rishi has four meanings. The first meaning is Prana or breath (c.f. rishyo vai pranah SB VI. I.I.I.). The second meaning is star in the sky. Thus some stars are called with the names of Rishis (c.f. Brhatsamihita 13th chapter). The third meaning is a seer (c.f. rishyo mantradrastarah Nirukta I). The fourth meaning is "the speaker of a mantra (yasya vakyani sa rsih). Although in most of the cases, the speaker and the seer are one and the same, in some cases (as in the case of Samvada sukta) the speaker and the seer may be different but the speaker is also called there rishi. And this is the fourth meaning of the word rsi i.e. the speaker (Maharshikulavaibhava ed. by Giridhar Sharma Chaturveda, Jaipur 1956, pp 1-59). In the second Maharshikulavaibhavam the author has tried to explain the details available about the Vedic rishis from two points of view - (1) Historical (aitihasika) (2) Physical Scientific (Vaijnanika). So it is clear that he treats the personalities mentioned in the Vedic literature as historical personalities and not mythological. Similarly all the stories in the Brahmana texts or Purana texts are supposed to be historical by Pt. Madhusudana Ojha. Moreover all the sentences of the Arthavada type found in the Brahmanas are taken to be true in their literal sense without any discrimination. Thus he is interested in tracing the history on the basis of the references to the Rishis found in the ancient Sanskrit Literature.

The second aspect is also more interesting since the author has assumed that the Rishis are identical with breaths (pranas). This very assumption is based upon an Arthavada (prana vai rshayah). Similarly a few stars are named after Rishis. This is astromythology. But Pt. Madhusudana Ojha has taken these things literally. He connects the Rshis with the process of the creation of the world.

In the chapter on Kashyapa the author gives emphasis on the literal meaning of the word Kashyapa which means tortoise. He quotes Shatapatha Brahmana. In this text all the beings ae mystically said to be born out of the tortoise. The torotise is also mystically considered to be the same as the sun. This is the physical aspect of Kashyapa. Then Pt. Ojha refers to Vayupurana and quotes the information given there as the historical aspect of kashyapa. According to that text, between the vikanka and Manahashaila mountains there was a garden of champaka trees. In that garden there was the hermitage of kashyapa. Kashyapa and his sons are also supposed to be the seers of some Mantras for which the author refers to Shaunakas Brhaddevata.

According to Pt. Madhusudan Ojha, the word vasishtha basically means prana (breath) containing vigorous power (vasistha Hi urja saktimati pranavisheshe rudhah sabdah) and secondarily it means a particular rishi and the sucessors in his family. The Rishi was staying on the bank of Saraswati river. Vasishtha is also the name of a star in the sky.

In the chapter on Agastya the author tries to show that there are three types of Maruts which are the same as pranas. The first is called vasishtha, the second Agastya, and the third Matsya. Agastya who was a contemporary of Rama was different from the one who was a seer of Mantras in the Rigveda. The son, the grandson, the disciple, the wife, the sister and the four cousins (sons of the sister) of Agastya were also seers.

In the chapter on Bhrigu - Angiras, there is a discussion of cosmological interest. The main point in that chapter is that the twelve Rishis namely Bhrigu, Angiras, Atri, Marichi, Pulastya, Pulaha, Kratu, Daksha, Vasishtha, Vishvamitra, and visvakarma are the originators of the world. They are

considered to be pranas. They pair themselves into the womb namely vak (speech) and with the power obtained from (the Aksharapurusha) they produced the world. The world consisting of water is specially connected with Bhrigu-Angirasas. The author then shows the complex relations between Bhrigu and Atharvan for, in some texts they are considered to be different from each other and in some other as identical with each other. He refers to the story of Prajapati and ushas from the Aitareya-Brahmana where the origin of Bhrigu-star has been given.

In the chapter on Atri the author says that Atri had created a machine to see the sun at the time of eclipse. He has also collected many stories of Atri from the Puranas. The earth moves around the sun and the Prana in the form of Atri being heated on account of the rays of the sun, generated moon. This is the scientific explanation given by Pt. Madhusudan Ojha (A question will naturally arise - why the moon was produced once only? The causer are the same now also and why the moon is not being created now and again?) Here he says that the word netra means ray (rashmi) (p. 110). Atreyi is said to be the name of the wife of Atri; Anasuya means absence of hatred. This is only possible for a person having the vital power (prana) and Atri being such one had Anasuya as his wife.

According to Pt. Madhusudana Ojha the sun-breath is identical with Indra-breath (c.f. indra iti hyetam achakshate ya esha tapathi S.B. IV, 5.9.11) And Indra associated with Mahavrata - day is the same as Vishvamitra. Thus in Aitareya - aranyaka II.2.3 Indra addresses Visvamitra and says, "I am breath, you are breath and all the beings are the same as breath. Then the author refers to various Puranic stories in which Vishvamitra is mentioned and remarks that all these vishvamitras are different from each other. Then who was contemporary if the King Harishchandra had the sons named Madhuchandah etc.

While reading the book Maharshikulvaibhavam the reader is struck by the mastery of Pt. Madhusudana Ojha over the vast Vedic and Puranic Literature. He has extensively quoted from the numerous texts like Rigveda, Shatapatha - Brahmana, Gopatha - brahmana etc. It is interesting to note that

the Vedanga-literature in general and the Shrautasutras in particular do not seem to have been quoted by him. At the time when he wrote this work it is doubtful whether the word-indices to the Vedic literature were available to him or not. Most probably they were not and in that case he must have taken the help of his own deep study of the Vedic literature and his sharp memory. It is however strange to note that the present book does not contain any discussion on many other famous seers of the Rigveda like Gritsamada, Vamadeva, Bharadvaja and many other minor Rishis. It is not clear why he neglected them. The choice made by him and the order in which the Rishis are treated seem to be arbitary.

Another peculiarity of the writings of Pt. Ojha is his originality, non-conventional way of thinking and quite a unique approach to the subject. His way of thinking can be called neither philological nor historical nor ritualisitc nor mythological nor even science-oriented in its literal sense. In fact he claims to be writing science-based. But his science is rather his own science. His way of thinking cannot be called either traditional or modern. Truly speaking, he is not a follower of any earlier commentator in Sanskrit, nor does he have any follower. He was not a writer following the modern methods of finding the historical truth.

In fact he has categorically said that he had not created any school. And it is humdred percent correct. There cannot be any school of Pt. Ojha. His writings are unique and limited to his personality only. These are too rigid, too subjective to allow any further progress possible in the line of his way of thining.

The methodology of Pt. Ojha has its own limitations. He quotes extensively from the Vedic texts but all his quotations are out of context and their selection is arbitrary so, for example the tortoise mentioned in the S.B. in the context of Agnicayana-rite is mystically described as Parana or Aditya. This description has been quoted by Pt. Ojha to explain the Rishikashyapa as something Prana. Now the only logic behind is that the word kashyapa means tortoise. But really speaking, when torotise is mentioned in S.B. there is no reference to any rishi at all. So all the speculations in connection with the

tortoise in the SB may be taken as connected with tortoise but not with the seer. It must be remembered that the Brahmana texts have a style full of identifications and other mystic arguments. The Arthavadas in the Brahmana texts are not to be taken literally, they are to be understood in the context of the Vidhi-part and have only secondary importance. The Brahmana texts are rightly called by oldenberg pre-scientific science. But Pt. Ojha takes them as perfectly scientific and supports his science with these sentences. It can be said that the style of Pt. Ojha is similar to the Brahmana - texts.

The writings of Pt. Ojha can therefore be treated as Brahmana - texts in our century. They also can be called prescientific rather than scientific in its scientifc sense.

Another serious draw-back of Pt. Ojha's writings is his fruit- oriented approach. His conclusions are pre-supposed and he collects evidence in such a way that it will support his conclusions. He interprets the word rashmi in the sense of 'eye' (p. 110) because it suits his exposition in connection with the origin of Moon from the eye of Atri. This is what I call fruit - oriented interpretation. He is not interested in the meaning intended by the poet. Thus his approach is not root-oriented. Of course this is not a pecularity of Pt. Ojha only. All the Indian commentators try to interpret the ancient texts in such a way as would help to support their own way of thinking. Pt. Ojha is in this way in the line of the traditional interpretors in India.

विज्ञानविद्युत

भल्लूराम खीचर*

वेद सब प्रकार के विज्ञानों का मूल स्रोत है। यह वेद ही एक मात्र ऐसी विद्या है जो सत्य निधानात्मक है। आधुनिक विज्ञान का क्रमबद्ध रूप भी मौलिक रूप में वेद में ही मिलता है। इस प्रकार वैदिक अन्वेषण का कार्य आज के इस परम्भौतिक अन्धकार युग के लिए एक ही प्रस्फुटित प्रकाश की किरण स्वरूप बन सकता है और इसके लिये ही विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा ने जीवनपर्यन्त महोपदेष्टा के रूप में स्तुत्य कार्य किया है।

वेद के अनुसार ब्रह्म ही सृष्टि का उपादन, निमित्त और आलम्बन कारण है। जहाँ से यह कार्य जगत् उत्थित होता है, जो विशेष कार्यों को करता है और जो विशेष कार्यों में समभाव से विद्यमान रहता है। जो उत्थान का बिन्दु है तथा जो सभी भावों में वर्तमान रहता है, वही ब्रह्म है।[1]

पं. ओझा की दृष्टि वैज्ञानिक थी। उन्होंने प्राय: रहस्यात्मक बिन्दुओं पर ही अधिक ध्यान दिया है। वैदिक परिभाषाओं का परिचय और उनका स्पष्टीकरण उनके ग्रन्थों में पदे-पदे प्राप्त होता है। उन्होंने प्राय: विलुप्त हुए वैदिक ज्ञान को एक नये सिरे से मुमुक्षुओं के समक्ष उद्घाटित किया है। इन्हीं उद्देश्यों को ही दृष्टिगत रखते हुए उनका ग्रन्थ 'विज्ञानविद्युत' भी अपने आप में एक निराला ग्रन्थ है जिसमें चतुष्पाद ब्रह्म का मुख्य रूप से विचार किया गया है और ब्रह्मविज्ञानशास्त्र में प्रवेश के इच्छुक लोगों के लिये प्रकाशवत् उपकारक है।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि यह ब्रह्म एक होते हुए भी नानाभावों को प्राप्त हो रहा है जिसके पुर, पुरुष, परात्पर और निर्विशेष ये चार रूप बतलाये गये हैं।

---

* शोधार्थी संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय

1. उक्थं च यद् ब्रह्म यदस्ति साम यत् स उक्त आत्मा स निरूपकस्त्वयम्।
   उत्तिष्ठते यद् म्रियते विशिष्यते तस्यैष आत्मा भवतीति दशितम्॥
- ओझा मधुसूदन, ब्रह्मविनय, आत्मशब्द विचार, पृष्ठ-6 (वाराणासी 1964) कारिका 6

जड़ चेतनात्मक समस्त विकारसंघ, भूतग्राम तथा आत्मग्राम होने के कारण 'पुर' कहलाता है।[2] विविधता को ग्रहण करने के कारण इस 'पुर' को विग्रह भी कहा जाता है। इस विकारसंघ दिशा, देश, कालादि रूप औपाधिक विकार शुक्रशोणित, अन्न,जल इत्यादि रूप औपसर्गिक-विकार तथा किट्ट, फेन, मलाई इत्यादि रूप औपजनिक विकार इस प्रकार इसके (विकार संघ के) तीन रूप सिद्ध होते हैं। यह विकारसंघ ईश्वर और पुरुष की अपेक्षा से विश्व तथा जीव और पुरुष की अपेक्षा से शरीर बनता है।[3] आधिदैविक, आध्यात्मिक, और आधिभौतिक रूप विश्व के तीन भेद हैं। कारण, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के भी तीन प्रकार हैं। यह विकारत्रय का संघ ही ब्रह्म का प्रथमपाद है।

'पुर' की इतरसंज्ञा शरीर है, जिसके आत्ममय, भूतमय और दैवतमय ये तीन भेद हैं। इन्हीं भेदत्रय का आधारभूत जो विशेष प्राण पुरवासी के रूप में अन्दर प्रवेश करता है उसे 'पुरुष' कहते हैं।[4] जिसके क्षर, अक्षर और अव्यय तीन भेद हैं। इन्हीं भेदत्रय की अवर, परावर और पर ये इतर सञ्ज्ञाएं हैं। संसार के समस्त कार्यों की सत्ता 'क्षर-पुरुष' के कारण वर्तमान है। समस्त कार्यों का निमित्तकारण 'अक्षरपुरुष' बनता है। अव्यय पुरुष कार्य और कारण से शून्य है। इस प्रकार यह मात्र आश्रय रूप है।

अविनाभूतात्मक तथा क्षराक्षराव्ययात्मक पुरुष द्वारा एक अन्य जो पुरुष बनता है उसे प्रजापति कहते हैं जो गूढात्मक रूप से प्रतिष्ठित हैं। प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्त्व का गोचर होना इसी प्रजापति के कारण है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में स्थित होकर यह प्रजापति अनन्त उपाधियों को धारण करता है। इस गूढात्म प्रजापति का उत्पादक, स्थापक और लीनकर्त्ता तथा उपाधिरहित असीम एवं प्रबल बलवान पुरुष 'परात्पर' कहलाता है जो ब्रह्म का तृतीय पाद है।[5] विनष्ट होने के स्वभाव वाले तथा भिन्न-भिन्न स्वरूपों वाले बल नित्य अविनाशी रस में सन्निहित रहते हैं और यही समन्वित रस परात्पर ब्रह्म कहलाता है जिसकी इतर सञ्ज्ञा अभय भी है।

---

2. तथा हीदं सर्वं यावदिह किञ्चिद् बहिर्धा दृश्यते स सर्वोऽयं विकारसंघो भूतग्रामत्वादात्मग्रामत्त्वाच्च पुरमित्यभिधीयते।
   - मधुसूदन ओझा, विज्ञान विद्युत (जयपुर 1990) पृष्ठ 2
3. इत्थमेतेषां त्रिधा विभक्तानां विकाराणां संघः ईश्वरपुरुषापेक्षया विश्वमित्युच्यते, जीव पुरुषापेक्षया तु शरीरमित्युच्यते।
   - वही, पृष्ठ 3
4. त्रिष्वेतेष्वधिकरणेष्वन्तः प्राणविशेषः पुरवासित्वात् पुरुषो भवति।
   - विज्ञानविद्युत - पृष्ठ ४
5. सोऽयं दिग्देशकालाद्यनवच्छिन्नः कश्चिदसीमोबल समुद्रात्मा ब्रह्मभावः परात्पर इत्युच्यते
   - वही, पृष्ठ 6

अमृत और मृत्यु स्वरूप रस और बल अभूतसिद्ध है। 'रस' बल की उपाधि से विहीन होने पर निर्विशेष कहा जाता है। यादृश परात्पर पुरुष ब्रह्मभाव से वर्तमान है तादृशरूपेण चतुर्थ ब्रह्मभाव निर्धर्मक रूप से वर्तमान है जिसका वेद अनिर्वचनीय, अपरिमेय तथा अचिन्त्य रूप से बखान करते हैं। वह निर्विशेष ब्रह्म न तो किसी लक्षण से लक्षित होता है और न ही वह पहचाना जा सकता है, एवं न ही वह किसी ज्ञान की सीमा में आता है। विशुद्ध रसवाला यह निर्विशेष ब्रह्म सत्तामात्र के भाव से समस्त प्रकार के विकारों से पृथक् के रूप में ज्ञान का विषय बनता है।

आत्मानुगत क्षर पुरुष के पांच प्रकार हैं - कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, प्रजावर्ग और वित्तवर्ग। कारण शरीर के रूप में वह अविद्यास्वरूप से निर्मित है। सूक्ष्म शरीर के रूप में उसमें समस्त देवगण विराजमान हैं। स्थूल शरीर के रूप में वह पञ्चमहाभूतात्मक है। योनिसम्बन्धात्मक पुरुष चेतना के रूप में वह प्रजा स्वरूपात्मक है। भोग्यात्मक अनित्य रूप से वह वित्तवर्ग के अन्तर्गत आता है।

विकारनियन्ता एवं सर्वानुस्यूत अक्षर पुरुष के भी पाँच प्रकार हैं — ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र हृद्य कहलाते हैं तथा अग्नि और सोम पृष्ठ्य कहलाते हैं। ब्रह्मा प्रतिष्ठामय, विष्णु यज्ञमय, इन्द्र वीर्यमय, अग्नि विकासमय और सोम संकोचमय है। ये पञ्चाक्षर स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम प्रत्येक शरीर के नियन्ता के रूप में नियमित होकर प्राणसञ्चालन का कार्य करते हैं। इन्द्र की उत्क्षेपण प्राण शक्ति से जब प्रजापति भूखा और दुबला हो जाता है तब विष्णु की प्रवर्तना होती है और वह अन्य रसों का आकर्षण करता है और फिर प्रजापति प्रतिष्ठाप्राण शक्ति से अपने भीतर रसों को संस्थापित करके स्वहानि की पूर्ति करता है। इसी उत्क्षेपण-अपक्षेपण स्वरूपात्मक शक्ति के कारण यह शरीर पूर्व स्वरूपवत् प्रतिष्ठित रहता है। प्रतिष्ठाप्राणात्मक ब्रह्मा के द्वारा प्रतिष्ठित शरीर में आकर्षण विक्षेपण प्राण अपने-अपने कार्य में गतिशील रहते हैं तथा शब्द के 'कारण' बनते हैं। बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य नामक अवस्थात्रय का कारण ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र की आकर्षण और विकर्षण शक्ति ही है। इसके अतिरिक्त जितने भी विकार हैं वे सभी अक्षर पुरुष के प्राणप्रद इन्हीं तीन ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र रूपों से समुत्पन्न होते हैं। वस्तु की उत्पत्ति विष्णु प्रभावित आकर्षण शक्ति से होती है, वस्तु की स्थिति ब्रह्म प्रेरित प्रतिष्ठा प्राण से होती है और वस्तु का नाश इन्द्र प्रेरित विक्षेपण शक्ति से होता है। विविध स्वरूपात्मक समस्त परिवर्तनों और विकारों का जन्म अग्नि और सोम की कलाओं में होता है। उत्क्षेपण के उपरान्त अगति को प्राप्त हो जाना ही अग्नि कहलाता है तथा आकर्षण से प्रतिष्ठित हो जाना सोम कहलाता है। इस प्रकार यह पञ्चभेदात्मक अक्षर पुरुष सर्वजगत् नियन्ता विश्वेश्वर के रूप में दृष्टिगत हो रहा है। अग्नि और सोम प्रतिष्ठा प्राण की ही विशेष अवस्था रूप हैं अतः मुख्य रूप से तीन प्राण सिद्ध होते हैं और वे हैं प्रतिष्ठा प्राण स्वरूप ब्रह्मा, आकर्षण प्राण स्वरूप विष्णु और उत्क्षेपण प्राण स्वरूप इन्द्र। शब्द से प्रसिद्ध ब्रह्मा इत्यादि पञ्च देवता ही हैं। सम्पूर्ण जगत् के नियमतः उत्पादित होना, नियमतः प्रतिष्ठापित होना, नियमतः उपसंहृत होना एवं नियमतः बहुविकारवर्धित होना इन्हीं

पञ्चदेवताओं की कृपा है। विष्णु और इन्द्र के ब्रह्मा में अनुगत होने के कारण वही मुख्य है। अग्नि और सोम की उत्पत्ति विष्णु और इन्द्र की सहायता से ब्रह्मा द्वारा होती है। श्रयन्ती साम की सीमा ब्रह्मापर्यन्त मर्त्यभाग तक है और वारवन्तयी साम इसके आगे है। ब्रह्मा का परावतसाम परावत के पर भाग पर्यन्त है। विष्णु अपने त्रिविक्रमों का विस्तार तथा त्रिस्तोमों का त्रिवृत्तीकरण ब्रह्मा से प्रतिष्ठित होने पर करता है। तेतीस स्तोम पर्यन्त अमृताग्नि के ऊर्ध्व भाग की व्याप्ति है। ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र हृदय की गुफा में स्थित विशेष प्रकार के प्राण हैं। अक्षर पुरुष की चतुर्थ कलास्वरूप जो अग्नि है वह अपने एक भाग से मर्त्याग्नि के रूप पञ्चभूत पर्यन्त वर्तमान रहता हुआ शरीर में रहता है और अपने दूसरे भाग से अमृताग्नि के रूप में देवमय होकर शरीर से अन्त: बहिर्द्वयरूप में स्थित रहता है। सभी दिशाओं से शरीरपिण्ड की ओर प्रवाहित होने वाला सोम अक्षर पुरुष की पांचवी कला है। ब्रह्मा वाङ्मय है। ब्रह्मा का वितान वाक् है इसके वितानपर्यन्त अड़तालीस विभाग कल्पित होते हैं। कल्पित अड़तालीस विभाग ही दिन रात के रूप में अभीष्ट हैं। अहोरात्र की सन्धि ही विष्णु कहलाता है। शरीर के पृष्ठ भाग से संयुक्त तीन भागों के ऊपर स्थित पाँच षट्क हैं। उनसे पांच स्तोम बनते हैं। इनमें इक्कीसवें स्तोम तक अमृताग्नि का भाग समाप्त हो जाता है। उसके ऊपर के स्तोमद्वय सोम के भाग हैं। इस प्रकार अहोरात्र स्वरूप अग्निसोमात्मक जगत् की सिद्धि होती है। अग्नि के आदित्य, वायु और अग्नि ये तीन भेद त्रिवृत्, पञ्चदश और एकविंशता के कारण हैं। ब्रह्मणस्पति सोम और दिक् सोम स्वरूप सोम के दो भेद हैं। इस प्रकार अग्नि और सोम के भेदवंश अग्नि, वायु, सूर्य भास्वरसोम और दिक सोम इन पाँच देवताओं की सिद्धि होती है। ये दोनों प्रकार के सोम तीन अग्नियों में नित्य आहूत हो रहे हैं। स्तोम के अग्नि में आहूत होने से सम्पन्न होने वाला यह यज्ञ प्रत्येक व्यक्ति में जीवन के सञ्चार का कारण रूप है। त्रिवृत् स्तोम में आठ वसु के कारण, पञ्चदशस्तोम में एकादश रुद्र के कारण तथा इक्कीस स्तोम में बारह आदित्यों के कारण इकतीस देवगणों की सिद्धि होती है। जो देवताओं की एक सामान्य संख्या के रूप में तेतीस की कल्पना होती है वह पृथिवी तथा अन्तरिक्ष की सन्धि में स्थित एक देवता के कारण और अन्तरिक्ष तथा द्युलोक की सन्धि में स्थित ऊपर देवता के कारण पूर्ण होती है। वषट्कार प्रधिपर्यन्त विषूची नामक वाक् का ही नाम है जिसकी सीमा तेतीस स्तोम तक है। इस वाक् का हृदय सत्रहवां प्रजापति है।

इस पञ्चाक्षर पुरुष के वेद, यज्ञ, प्रजा, धर्म और लोक ये पाँच विवर्त हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में वेद चतुष्टयी प्रसिद्ध है। अग्नि पिण्ड के पिण्डरूप हृदय से प्रादुर्भूत होती हुई इक्कीसवें स्तोम तक पिण्ड को चलायमान करने की पहचान वाले वितान से फैलने वाली अन्नाद नामक अग्नि के द्वारा एकत्रित जो वाक् है उसे ऋग्वेद रूप जानना चाहिये।[6] प्राणाग्नि से संगृहीत तथा ब्रह्मा में सोम की आहुति का आह्वान करती हुई वाक् सामवेदस्वरूपिणी है। यह

6. तत्राग्निमर्यापिण्डहृदयात् प्रवर्तमानां एकविंशस्तोमान्तं पिण्डविस्रंसन लक्षणेन वितानेन वितायमाना अन्नादाग्नि समुच्चिता वागेव ऋग्रूपम्। - विज्ञानविद्युत पृष्ठ 20

सामवेद स्वरूपिणी वाक् तेजोमय है। ऋक् और साम के बीच में चलायमान एवं स्थित रूपद्वयस्वरूपा वाक् यजुः है। वायु यजुः के गतिमान स्वरूप का ही नाम है। तथा आकाश यजुः का स्थिति रूप है। परस्पर मिलित आकाश और वायु के सन्धिस्थल में स्थित वाक् का नाम यज्जू है। इसी यज्जू से यज्ञ, प्रजा, लोक और धर्म की निष्पत्ति होती है। ये वेदत्रय अग्नि, वायु और आदित्य स्वरूप हैं। इन तीनों वेदों में अग्निरूपता ही समानधर्मिता है। इक्कीस स्तोम के ऊपर तेतीस स्तोम पर्यन्त सोममयी वाक् को अथर्ववेद कहा जाता है। ये वाङ्मय चारों वेद ब्रह्मस्वरूप हैं। इन्हीं से प्रत्येक व्यक्ति प्रतिष्ठित होकर सत्ता को प्राप्त करता है।[7] यज्ञ के स्वरूप का सम्पादन वेदों से होता है जहां ब्रह्म के तीन विभाग हो जाते हैं - ऊक्थ, अर्क तथा अशिति। अन्न को अशिति कहा जाता है और वह अशिति अर्क प्राण में प्रवेश करता हुआ ऊर्क बन जाता है और वह ऊर्क ही रस है। तत्पश्चात् अर्कप्राण उक्थ में मिल जाता है। अन्न और अर्क प्राणों का एक दूसरे में परिवर्तन होता है। यज्ञमय विष्णु में समस्त विद्यमान संसार की जीवनरूपिणी स्थिति होती है। यज्ञ अन्नाद प्राण है तथा जब तक आत्मयज्ञ प्रवर्त्तमान है तभी व्यक्ति जीवन धारण करता है और फिर मर जाता है। 'प्रजा' यजुः के विकृत समस्त पदार्थों को कहा जाता है जिसके तीन भेद हैं - बीज, देव, तथा भूत। कर्मोत्पन्न भोगों के बीज अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पञ्चक्लेश हैं। कारणशरीर पञ्चबीजात्मकं है, सूक्ष्मशरीर पञ्चदेवात्मक है और स्थूलशरीर पञ्चभूतात्मकं है। इस प्रकार ये पन्द्रह कलाएं इन्द्र के चारों ओर स्थित हैं जो कि इन्द्र की प्रजा कहलाती हैं। इन्हीं कलाओं की इन्द्रियों के भोग के कारण इन्द्र को प्रजामय कहा जाता है। प्रजा का लोक तीन प्रकार का है भू भुवः इत्यादि सप्त भुवनरूप, पृथिवी, अन्तरिक्ष इत्यादि त्रिभुवनरूप और मन, प्राण, वाक् इत्यादि जन लोक। अन्न, तप इत्यादि सात जन कहे जाते हैं। अग्नि लोकमय है। धर्म के भेद से चार प्रकार के भाव बनते हैं - दिव्य भाव, वीरभाव, पशुभाव और मृतभाव। इन्हीं चारों भावों से चार विशेष वीर्यों की निष्पत्ति होती हैं। वे हैं - ब्रह्म, क्षत्र, विश और शूद्र। इन्हीं चतुर्धर्मी वीर्यों के कारण सम्पूर्ण जगत् में प्रत्येक व्यक्ति अपनी एक अलग पहचान रखता है।

अव्यय पुरुष कार्य कारण से पृथक् है लेकिन अपने स्वरूप से जगत् को भासित करने वाली जो कारणता है वह तो अव्ययपुरुष में भी है। परात्पर का ही इतरस्वरूप अभेदरूप से अव्यय पुरुष

---

7. (i) ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा।
शतपथ ब्राह्मण-6.1.8
(ii) सर्वाणीमानि भूतानि त्रय्यां वाव प्रतिष्ठितानि। शतपथ ब्राह्मण-है - 10.4.2.22

कहलाता है। परात्पर इस तत्त्व का ही दूसरा नाम है जो समस्त बलों से विशिष्ट है। बलों में माया सर्वप्रधान है, उस माया से ढका हुआ जो रस है उसे दूसरे रस से पृथक् रूप से समझा जाने पर अव्ययपुरुष कहा जाता है।[8] मायोपाधिक होने के कारण ही इस पुरुष को सर्वकर्मा, सर्वधर्मा तथा सर्वगुणी कहा जाता है। प्राण, मन की अपेक्षा स्थूल है और वाक् उससे भी स्थूल है। रस के प्रथम विकास का नाम विज्ञान है। विज्ञान, मन की अपेक्षा सूक्ष्म है और उससे ही सूक्ष्म आनन्द है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पाँच भेद अव्ययपुरुष में स्थूल सूक्ष्म भेद से निष्पन्न होते हैं और इसी कारण इस पुरुष को पञ्च धात्वात्मक कहा जाता है। मन तभी संसार का कारण बन सकता है जब इसके साथ प्राण और वाक्रूप धातु हो। विज्ञान और आनन्द जगत् की उत्पत्ति में मन, प्राण, वाक् के सहकारी अङ्ग बनते हैं। इस प्रकार यह अव्यय पुरुष संसारदशा और मोक्ष अवस्था का कारण माना जाता है। अधिदैवत, अध्यात्म और अधिभूत नामक आधारत्रय से अव्यपुरुष तीन रूपों में दृष्टिगत होता है। ईश्वर का शरीर अधिदैवत है इस पुरुष का एक अन्य नाम परोरजा भी है जो कि माहेश्वर नामक प्रथम प्रजापति है। अक्षर पुरुष ऋक् यजु साम भेदात्मक तीनों विधाओं को सम्पूर्णजगत् में वितानित कर रहा है। स्वयम्भू नामक प्रजापति ब्रह्मा की 'आपोमय परमेष्ठी प्रजापति' परिक्रमा करता है। इस आपोमय परमेष्ठी के तीन धातु इडा, गौ और ऊर्क हैं। ब्रह्म का द्वार अग्नि वायु इत्यादि रूप में छः प्रकार है।[9] अग्नि, वायु और आदित्य आङ्गिरस कहलाते हैं। वायु आप और चन्द्रमा भृगु कहलाते हैं। भृगु, अंगिरा और अत्रिमय वेद अथर्ववेद है। सत्यमय तथा मौलिक विज्ञान का नाम ही वेद है। ऋत परमेष्ठी है जिसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। अम्भ, मरीचि, मर और श्रद्धा के रूप में आप के चार प्रकार हैं। अप् तत्त्व के चार वायु हैं — वायु, मातरिश्वा, पवमान और सविता। सोम वह मौलिक तत्व है जो अत्यन्त पवित्र श्रद्धामय मन का जनक तथा ज्ञान का प्रयोजक है एवं जिसकी ब्रह्मणस्पति संज्ञा है। अग्नि विशकलन क्रिया का कारण है वह परस्पर संयुक्त पदार्थों में मौलिक तत्वों का यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा जो संयोग होता है उसका विच्छेद करता है। यम नामक विद्युत रुद्र अग्नि संयोग को रोकता है। अग्नि, यम और आदित्य रूप आङ्गिरसप्राण मृत्युमय है। अत्रि प्राण विद्युत मय है। सूर्य का जो रश्मि मण्डल है वह प्रथम विश्व रूप है, परमेष्ठीमण्डल दूसरा विश्वरूप है तथा स्वयम्भू मण्डल तीसरा विश्व रूप है इन्हीं तीनों का अथर्ववेद में वर्णन किया गया

---

8. सर्वबलविशिष्टो हि रसः परात्पर इत्याख्यायते। तत्र बलानामानन्त्येऽपि यत्तावदेकं मायानामक बलं सर्वेतर बलापेक्षया समधिकविशालं भवति। तावता परिच्छिन्नो रसो रसान्तरात् पृथक्त्वेन भावित एवाव्ययपुरुषो नामोच्यते। — विज्ञानविद्युत पृष्ठ 29

9. षड्धा वै ब्रह्मणो द्वारः अग्निर्वायुरापश्चन्द्रमा विद्युदादित्यरिति श्रूयते। — शतपथ ब्राह्मण (11.3.2.1)

है।[10] अङ्गिरा रूप अग्नि वह है जो सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करता है। यह अङ्गिरामय अग्नि ही पृथिवी की संज्ञा धारण करता है। अग्निरूपिणी पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा करने वाले सोम को चन्द्रमा कहते हैं। इस प्रकार परोरजा अव्यय के आश्रयभूत ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम ये पञ्चाक्षरपुरुष उत्तरोत्तर परिक्रमा करते हुए समस्त क्षर सृष्टि का सञ्चालन करते हैं। परमाकाश यजु के सम्बन्ध से आनन्द स्थिति स्वरूप गतियुक्त प्राण का नाम है। मध्यम लोक परमेष्ठी प्रजापति के अथर्वमय रश्मि मण्डल से निर्मित ब्रह्मानन्दमय जन का नाम है। द्यु और पृथिवी मध्यम में आये हुए अन्तरिक्ष के साथ प्रथम त्रिलोकी के रूप में रोदसी कहा जाता है तीन त्रिलोकियों से सघन सात लोक हैं। अग्निरूपा पृथिवी भूलोक, सोमरूप चन्द्रमा भुवलोक, इन्द्ररूप सूर्य स्वर्लोक, ब्रह्मणस्पति स्वरूप भृगु महलोक, वरुणमय परमेष्ठी रूप जनलोक, विद्युन्मय इन्द्ररूप तपलोक, वेदमय ब्रह्मारूप सत्यलोक। इन सातों लोकों को रज कहा जाता है।

आधिदैविक पुरुष वह है जिन तीन-तीन पुरुषों की कल्पना चन्द्र, सूर्य इत्यादि जडपिण्डों से उत्पादित अनेक प्रकार के जड पिण्डों में की गयी है। ईश्वर के समान जीवों में भी एक परोरजा अव्यय चिदात्मा में पञ्चाक्षर पुरुष क्रम से सन्निवेश रखते हैं और वे पांच भी जीव के अर्द्धेन्द्र होने के कारण अपूर्ण मात्राओं वाले दिखायी देते हैं। अध्यात्म में पञ्चाक्षर स्वरूप में पाँच अध्यात्माओं में प्रथम प्राणमय शान्तात्मा स्वयम्भू ब्रह्मा का स्थान है इसके बाद क्रमशः आपोमयी परमेष्ठी महानात्मा, वाङ्मय सूर्य विज्ञानात्मा, अन्नमय चन्द्रमा प्रज्ञानात्मा और अन्नाद्य अग्नि भूतात्मा है। बाह्य आत्मा शरीरात्मस्वरूप प्रत्येक भूत में अभिव्याप्त होता हुआ भूतों का अभिमानी जो वायु है वह शरीर को घेरने वाले आकार में संगठित होकर हंसात्मा होता है। दिव्यात्मा नामक भूतात्मा लोकत्रय में विभक्त प्राणों की त्रिविधता के कारण तीन प्रकार का है — वैश्वानर अग्नि, तैजसवायु और प्राज्ञेन्द्र। इनमें इन्द्र प्राण प्राज्ञात्मा है। कर्म परतन्त्र कर्मात्मा तीन प्रकार का है — वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। मृत्यूपरान्त शरीरात्मा पञ्चतत्त्व को प्राप्त करता है। शरीर में स्थित पृथिवी आदि जो पञ्चधातु हैं वे विश्लय होकर शरीर से अलग हो जाते हैं और पृथिवी आदि पञ्चधातुओं में मिल जाते हैं तथा वे शरीर के स्वरूप में स्थित चर्मत्वादि को छोड देते हैं। यह शरीर स्थित भूतों को पञ्चत्त्व गति कहलाती है। ब्रह्मा इत्यादि पञ्चाक्षर का आलम्बन भूत, शरीरस्थ अव्यय पुरुष विरज कहलाता है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पाँच अव्यय के भेद हैं। वे ही समस्त अक्षर पुरुषों के क्षर

10. यत्परभमवमं दश्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजो विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव॥
- अथर्ववेद - 10.7.8

पुरुषों के तथा विकार समूहों के यथाक्रम से आलम्बन होते हैं। अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष, विज्ञानमयकोष तथा आनन्दमयकोष ये अव्ययपुरुष के पञ्चकोश कहे जाते हैं। परात्पर तथा पुरुष का सब प्रकार के बलों की विशिष्टता के आधार पर साम्य होने पर भी पुरुष में चिति के सम्बन्ध में सब प्रकार के बल परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं और इस प्रकार के चयन से बल से सम्पन्न रूप जगत् की सृष्टि का अधिकारी हो जाता है। चिति या चयन ही सृष्टि है। बल दो प्रकार के हैं - संसर्जक और व्यवच्छेदक। जब संसर्जक बलों का उदय होता है तब बलों के मिलने का उपक्रम प्रारम्भ होता है। रस में बलों के चयन से सिद्ध भाव को पुरुष कहा जाता है। बल से पृथक् निर्विशेष ब्रह्म है।[11]

11. बल विशिष्टो हि रसः परात्परशब्देनाख्यातः। तत्रैतानि बलानि कस्मिश्चिद् एकस्मिन् रसे उत्थायोत्थाय प्रतितिष्ठन्ति वितिष्ठन्ते चेत्युक्तम्। तत्रैतानि बलानि खण्डखण्डान्यनन्तानि भवन्ति। न चैतानि रसमन्तरेणात्मानं लभन्ते। अतएवैषां बलानां प्रभवः प्रतिष्ठापरायणं चैष रसो बलोपहितरूपो बलातपृथकत्वेनाभ्युपगम्यम्रानो निर्विशेष इत्युच्यते।
- विज्ञानविद्युत पृष्ठ 87

The theory of Advaita Vedanta in the light of the works of Pandit Madhusudan Ojha
(with special reference to Brahma-Siddhanta)

Dr. (Mrs.) Ratna Purohit*

"yato va imani bhutani jayante, yena jatani jivanti, yat prayantyabhisamvis'anti tad vijinasasva, tad brahmeti."[1]

That, verity, from which these beings are born, that, by which, when born they live, that into which, when departing, they enter, that, seek to know. That is Brahman.

The non-dualist tradition in Vedanta known as Advaita can be traced to the Upanishads. The Upanishadic sages like Uddalaka and Yajnavalkya expounded Advaita in a lucid and telling manner to their respective pupils young and old, men and women, aspirants in all stages in life and conditions in society.

The greatest consolidator of Advaita was Shamkara who, in the brief life that he lived on this earth, accomplished a stupendous task which is a marvel even to the most acute of mind and spirit. It is out of his own self-evidencing plenary experience that Shamkara poured forth the ageless philosophy which bears the name 'Advaita'. He mightily influenced the people of his time - even the tallest of them and spread over the country a net-work of organization to serve as spiritual guide-posts. Although Shamkara disclaimed originality for what he taught, he set a model in thinking and exposition which subsequent philosophers in India have striven to follow. More than one vedantic teacher who came after him has described his style of writing as lucid (Prasanna) and deep (Gambhira). His works are charaterized by penetrating insight and alalytical skill. The metaphysic of the Absolute which he taught is, it is true, difficult to understand. He wrote monumental works, both in prose and verse; and all of them are marked by depth of thought and lucidity of language.

* Assistant Professor, Department of Jainlogy, Jain Vishva Bharti, Ladnun

Although Advaita has been, and can be, expounded systematically, it is not, strictly speaking, a system of thought or a school- philosophy. According to the Advaita tradition, it stands for the plenary experience of non-duality which is the culmination of all systems of thought and schools of philosophy. The expression Advaita, as refering to the supreme-self means the truth of non- duality; and as indicating the tradition which teaches this truth, the expression may be rendered into English as non- dualism. The supreme objective of Advaita is to urge man not to rest till he has realized that experience.

All writers professing the Advaita doctrine agree in regard to the fundamental principles of Advaita. These principles may be summed up as follows :

(1) Brahman is the only reality and it is the true import of the Upanishads.

(2) the indeterminable Maya or Avidya is responsible for making Brahman appear as the phenomenal world;

(3) the individual soul is none other than Brahman;

(4) the world is non-real like the silver which appears where there is only nacre;

(5) the non-real world is nevertheless practically efficient; and

(6) the direct knowledge of Brahman is the sole means to liberation.

Brahman

Brahman which is the ultimate reality is defined in two ways - in terms of its essential nature as well as accidental attributes superimposed thereon. That is the essential nature of a thing which is present in that thing as long as it lasts and distinguishes it from the rest; but an accidental attribute of a thing remains in that thing only for a time and differentiates it from others. These two types of definitions are called Svarupa- lakshana and Tatasthalakshana.[2] The definition per accidens (tatastha-lakshana) of Brahman is from the relative standpoint, the definition by essential nature (Svarupa-lakshana) is

from the absolute standpoint. Shruti texts which say that Brahman is real, knowledge, infinite, and biiss define Brahman in terms of its essential nature. (Satyam Jnanam Anantam Brahma).[3] Since Brahman is free from atributes (Nirguna), 'bliss' 'knowledge, etc. are not the atrributes of Brahman; but they constitute the essential nature of Brahman. The ultimate reality, which is termed as Brahman, is of the nature of consciousness and which is non-dual. It is non-dual in the sense that apart from it there does not exist any entity which is real. The Advaitin defines reality as that which is not subject to destruction in the three divisions of time - past, present and future. Brahman is real in this sense as it cannot be negated. Shri shankara states: 'He who negates the self is himself the Self'.[4]

The Upanishadic text ---

'Atrayam Purushah Svayam Jyotih'[5],. confirms that bliss is nothing but self-luminous consciousness.

Maya or Avidya :

The philosophy of Advaita centres around the doctrine of maya or avidya. Maya which is responsible for the appearance of the world of plurality as well as finite individuals is spoken of as pradhana (the primary germ), as Avyakta (the unmanifested), as Ajnana (nescience), as Prakrti (the material cause), and as Tamas (darkness). Scripture lends support to the Advaita view of Avidya. The Nasadiya-Sukta says - 'There was no asat, there was no sat' shruti states that Indra (Brahman) through maya assumes several forms (as referring to the distinct powers of maya)[6]. Another shruti declares : 'All this, the Maker (who has Maya), creates; and the other (i.e. the individual soul) is confined by Maya.[7] The Bhagavad-gita mentions, 'knowledge is enveloped by ignorance; thereby mortals are deluded.'[8] The katha Upanishad says : 'The unmanifested (avyakta) is superior to Mahat.[9] Avyakta that is spoken here is the primal nescience (mulajnana) which is the root cause of every thing in the world. Though avidya is the root cause of everything, it is not caused or originated by anything else; and so it is beginningless. The important characteristics of Avidya are thus; It is beginningless (anadi), since it is different from both real and unreal, it is said to be indeterminable

(anirvacaniya), an illusory appearance (Mithya). Moreover, it is something positive, that is, of the nature of an existent (Bhavarupa). It has two functions - concealment and projection. By the concealment it suppresses the truth, and by projection it suggests the false. Though it is beginningless, it has an end, because it is removable by right knowledge (direct knowledge of Brahman).

Jiva and Ishvara ---

Advaita, however, considers that god (Ishvara) and the soul (Jiva) are the aparent variations of Brahman. The Advaitins explain the nature of God and the soul in two ways on the analogy of the reflection of the sun in several vessels filled with waters - the theory known as Pratibimbavada and of the delimitation of the all pervasive space by pot, - known as Avacchedavada. According to Pratibimbavada, it is pure consciousness that is associated with characteristic of being an original (Bimbatvavishishtacaitanya) that is viewed as God. And the consciousness that is associated with the characteristic of being a reflection (Pratibimbatvavishishtacaitanya) is the soul.

Sruti passage ---

'rupam rupam pratirupam babhuva' affirms that Brahman undergoes reflection in each and every limiting adjunct.

In the aphoris - abhasa eva ca and ata eva ca upamasurya- kadivat[11] the author of the Brahmasutras explains the nature of the soul as reflected image. The first aphorism means that the soul is indeed the reflection of Brahman. The second aphorism means that in the Upanishadic texts it is stated that Brahman is one by nature but it appears to be many due to its limiting adjuncts.

There is yet another view in the Advaitic tradition which explains both God and the soul as the reflected images of Brahman in Maya and mind respectively.12

World ---

According to Advaita, Brahman is non-dual. Its non-dual nature would hold good only if there is no entity apart from it. The soul which may be considered to be other than Brahman is proved to be non-different from it. And the world of duality given in perception is admitted to be non-real, that is, Mithya. The Chandogya-upanishad passage 'sadeva saumya idamagra asit, ekamevadvitiyam' affirms that the world is mithya. In order to know the full significance of the term Mithya one must have a clear understanding of the concepts of sat and asat. Sat is that which is not sublatable in the three divisions of time - past, present and future. Asat is that which is not capable of being perceived as existent at any time. The world according to Upanishads is sublated by the direct knowledge of Brahman. Hence it is not sat. It is given in perceptual cognition as existent and so it is not asat or an absolute nothing. It cannot be both and hence it is characterized as Mithya or indeterminable.

Advaitins explain the origination of the world by adopting the theory known as Vivartavada. According to it, the cause apears as the effect without itself undergoing any change whatsoever. In toto: the world is indeterminable and so it does not impair the non-dual nature of Brahman.

Liberation :

Liberation being identical with Brahman is ever-existent, hence, there is no question of actual attainment in its case. Yet, it is attained as it were when Maya (which conceals its true nature) is removed. The concept of liberation has a vital bearing upon the removal of Maya. Maya could be removed by the direct knowledge of Brahman.

The Advaitin admits a two-fold means for the rise of the knowledge of Brahman, namely, the remote means and the proximate means. The first view is: the performance of the deligatory rites (Nitya-karmas) prescribed in the ritualistic section of the veda removes the demerit or sin that is present in the mind of the aspirant and thereby gives rise to the four-fold aid, namely, Nitya-nitya vastuviveka, ihamutrarthaphalabhogavirga, samadisadhanasampat and mumukshutva. The second view is: the performance of duties relating to one's

stage and class of life with a view to attain the desire to know Brahman (vividisha) or the knowledge of Brahman itself (Vedana) - removes the sin present in the mind of the aspirant and there-by gives rise to the four-fold aid.

Shravana, Manana and Nididhyasana constitute the other group of the proximate means to the knowledge of Brahman while karma constitutes the remote means to the knowledge of Brahman. The Upanishads constitute the instrumental cause of the knowledge of Brahman. The texts Tat Tvam Asi and the like which are characterized as Mahavakyas give rise to the direct knowledge that true nature of the soul is non-distinct from Brahman.

When it comes to developing these fundamental doctrines and working out their implications, whether for the sake of enlightening the followers of the school or for meeting the objections of critics, Advaita writers show considerable originality. The variety of ways in which they deal with specific problems of Advaita may give the impression that there is more than one 'school' of Advaita. But these variations do not in any way jeopardize the commitment to the basic position of Advaita which all writers share, hence it would be more proper to interpret there variations among writers as relating to the technique of Advaita - the technique of its exposition and defence - rather than to its content. Such is the lesson that Pt. Madhusudana Ojha impresses upon us in his Brahma-siddhanta - a work celebrated as a compendium of all the views of Advaita writers upto his time.

Pandit Ojha was a vedic philosopher par excellence. The entire content of the vedas was, for the first time, scientifically classified by him into five categories, - namely, Brahmavijnana, Yajna-vijnana, Itihasa, Vedanga-samiksha and Agamarahasya. In his works relating to Brahma-vijnana, he shed flood of light in the field of Indian philosophy couched in the vedas, the Upanishads, the Gita and the Brahma-sutra. Again Pt. Ojha divided Brahmavijnana into seven categories, namely, Divya-vibhuti, Ukthavairajika, Aryahridayasarvasva, Nigama-bodha, Vijnana- madhusudana, Vijnana-praveshika, and Pashcatyavijnana-panclka. It was he who on the basis of the nasadiya-sukta of Rigveda formulated and propounded, for the first time, ten different cosmogonic doctrines, which existed in the vedic times

before the different schools of Indian Philosophy came into existnece. The ten said doctrines are-Sadasadvada, Rajovada, Vyomavada, Aparavada, avaranavada, ambhovada, Amrita-mrityuvada, Ahoratravada, Daivavada and Samshayataducchedavada. These doctrines formed the subject matter of ten expositional works by Pt. Ojha. Pt. Ojha made an innovative attempt to reclassify the systems of Indian philosophy and reoriented the theory of Advaita Vedanta propounded by Adi shamkara. The works such as Brahma-Siddhanta, Sharirkavijnana and Sharirakavimarsha are rare specimens of modern Indian scholarship and are creditable movements to the late Pt. Ojha.

In the text Brahma-siddhanta terms like Brahma, Rasa, Bala, etc. are explained etymologically as well as metaphysically. Brahman and its primal functioning power have been preferably designated by Pt. Ojha as Rasa and Bala respectively.

> Prahma srutau tad rasa ityudiritam
> Parasya saktirbalamityudiryate
> balam rasad bhinnam na ganyate
> na srautamadvetamasau viruddhyate.[13]

The Rasa and Bala designated on the basis of the text namely, 'Raso vai sah' and 'Indro balam'. Bala cannot subsist without its substratum, Rasa. Rasa and Bala are also synonymous with Amrita and Mrityu respectively.[14] Inspite of their (Rasa and Bala) being distinct they are inter-dependent. Brahman is of the nature of Amrta, whole, partless, one, without second, eternal beginningless, infinite, immutalbe, attributeless and free from any action whatsoever.[15]

By the union of the predominance of Bala with Rasa is produced Maya that which is seen but from where it originates and where it submerges cannot be known is termed as maya[16]. It is also known as Shakti and Prakriti. The Bala-designated shakti has three forms - Asanaya, Vikshepa and Aavarna. Verily these three called as Sattva, Rajas and Tamas respectively in the Vedic Science. The whole universe is produced by the three forms of Sakti.

As Pt. Ojha identifies Brahman with Rasa, again this Rasa is defined in two ways, namely, Ananda and Jala. As Brahman etymologically denotes the sense of development of the world so also the Ananda concept of Rasa. As we find that waves immerge out of water and again submerge into water itself. So also the empirical world immerges out of Jala aspect of Rasa and again submerges into Rasa itself.[17]

Again Pt. Ojha states that Karma is identical with Bala and Shakti. Karma is of three types, namely Kshanika, Saatanika and Pravahika.[18]

To sum up : Whatever is seen as empirical existence is nothing but the aggregate of Bala and Rasa. It is only an humble approach to highlight the essence of the works of Pt. Ojha in the field of Indian philosophy in general and Advaita Vedanta in particular.

References :

1. Taittiriya Upanishad, III, 1
2. Vedanta paribhasha, pp 228-230
3. commentary by Bhattacarya Panchanana
3. Taittiriya Upanishad, II, 1
4. Brahma-Sutra - Bhashya, 1.1.4
5. Brahadaranyaka Upanishad, 4.3.14
6. Ibid, 2.5.19
7. Shvetashvatara Upanishad, IV, 9.
8. BG, V, 15
9. KU, II, iii, 6
10. Brhadaranyaka-Upanishad, 2.5.19
11. Brahma-sutra, 2.3.50, 3.2.18
12. Samkshepashariraka, 3.277-278
    Vedanta Paribhasha, p. 266
13. Brahma Siddhanta, p. 29
14. Ibid, p.33.
15. Ibid, p. 49
16. Ibid, p. 80
17. Ibid, pp. 250-257
18. Ibid, p. 424

देवतानिवित्

डॉ. ब्रजबिहारी चौबे*

साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की अमर कृति वेद न केवल ज्ञान का बल्कि विज्ञान का भी अपूर्व भण्डार है। ज्ञान और विज्ञान की अजस्र धारा जब तक प्रवाहित होती रही तथा वेदाध्ययन में दोनों का समुचित महत्व सम्मुख रहा, भारत जगद्गुरु की महिमा से गौरवान्वित रहा। किन्तु जब इसके अध्ययन-अध्यापन का सही स्वरूप विस्तृत होता गया, इसके अध्ययन की दृष्टि भी मन्द होती गई। आज वेद का अध्ययन किस दृष्टि से करना चाहिये वह दृष्टि ही समाप्त हो गई है। आधुनिक युग के महान् वेद-विद्वान् पं. मधुसूदन ओझा ने उस वेद विज्ञान दृष्टि को पुनः प्रतिष्ठित करने की दिशा में सराहनीय कार्य किया है। पं. ओझा का सुनिश्चित मत है कि वेदविज्ञान का विवेचन करने वाले पहले पर्याप्त ग्रन्थ थे। ब्राह्मण नाम से जो विशाल साहित्य मिलता है उसमें भी वेदविज्ञान का पर्याप्त विवेचन है। इसलिये वेदविज्ञान को पुनः जागृत करने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं। इन्हीं की सहायता से वेदविज्ञान को समझा जा सकता है। पं. मधुसूदन की यह मान्यता है कि स्वयं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने वेद-विज्ञान का विवेचन करने के लिये अनेक पारिभाषिक शब्द निर्मित किये थे। उन पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से ही उन्होंने वेद-विज्ञान को स्पष्ट किया था। जिन पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया था, कालान्तर में उन शब्दों की पारिभाषिकता का ज्ञान न होने से वे शब्द मूल पारिभाषित प्रत्यय से अलग हो गये और दूसरे यौगिक अर्थ में उनका प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार निरुक्त तथा व्याकरण की सहायता से जो उन शब्दों का अर्थ किया जाता है वह मूलार्थ नहीं। पं. मधुसूदन से पूर्व ऋग्वेद के एक भाष्यकार वेङ्कटमाधव ने भी स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया था कि व्याकरण और निरुक्त की सहायता से जो लोग वेदार्थ करते हैं वे वस्तुतः वेदार्थ का चतुर्थांश जानते हैं। जो लोग ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन कर वेदार्थ करते हैं वे सम्पूर्ण अर्थ को बताते हैं।[1]

---

* निदेशक, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारत-भारती अनुशीलन संस्थान पंजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर

1. शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्मगर्थ परास्त्रयः।
यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वे कथयन्त्यमी ॥

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद्येषां परिश्रमः ॥
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि ॥
ऋगर्थदीपिका, अष्टम अष्टक, अध्याय 1, श्लोक 8, 10-11

वेङ्कटमाधव की तरह पं. मधुसूदन भी वेदार्थ की कुंजी ब्राह्मणों को मानते हैं जिनमें प्राचीन वैदिक परिभाषायें सुरक्षित हैं। उनकी धारणा है कि वेदों को सम्यक् प्रकार से समझने के लिये या उनका सुसंगत व्याख्यान करने के लिये उन परिभाषाओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जब तक उन परिभाषाओं का सम्यक् ज्ञान नहीं होता तब तक वेद-संहिता के मन्त्रों का संहिताक्रम में व्याख्यान करना अत्यन्त कठिन है। 'देवतानिवित्' की भूमिका में उन्होंने अपनी इस धारणा को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं — 'कितनी ही परिभाषायें वेदार्थ ज्ञान साधन की नष्ट हो गई हैं, जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन करना इस छोटे से भूमिका परिलेख में असंभव है। अतएव ऋक् संहिता का, यजु:संहिता के मन्त्रों की संहिताक्रम से व्याख्या करके अर्थ समझने का प्रयास करना एक प्रकार दु:साध्य जानना चाहिये। इसका कारण भी ग्रन्थ रूप में ही आपको निवेदन किया जा सकता है यद्यपि मेरे इस कथन से बहुत से विद्वान् सहमत नहीं होंगे, तथापि वेदार्थज्ञान में मेरा अधिक परिश्रम है इससे में सविनय अनुरोध के साथ विश्वास दिलाता हूं कि जब तक वैदिक विज्ञान की परिभाषायें पृथक् करके नहीं दिखाई जायेंगी तब तक हजार भाष्य की सहायता लेने पर भी वेदमन्त्रों के यथार्थ तात्पर्य अथवा वैदिक विज्ञान के रहस्य यथावत् जाने नहीं जा सकते'।[2]

पं. मधुसूदन के उपर्युक्त कथन से उन आक्षेपों का समाधान हो जाता है जो उन पर लगाया जाता है कि उन्होंने संहिताओं का भाष्य क्यों नहीं लिखा। उनके ही शब्दों से यह स्पष्ट है कि संहिताओं का भाष्य लिखना उनका उद्देश्य नहीं बल्कि भाष्य की आधारभूत परिभाषाओं को प्रस्तुत करना था जिनको वेद विद्वान् जान सकें और अपने वेद-व्याख्यान का आधार बना सकें। इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर उन्होंने वैदिक विज्ञान की जागृति के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। वैदिक विज्ञानोपयोगी ग्रन्थों में जिनमें वैदिक विज्ञान विषयक परिभाषायें दी गई हैं 'देवनानिवित्' नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें देवता सम्बन्धी एक सौ विषयों की परिभाषायें दी गई हैं। भूतनिवित्, ऋषिरहस्य, आत्मरहस्य, ब्राह्मणहृदय, उपनिषद् हृदय, निगमबोध, निविद्रती, गाथावती, श्रुतिवाहिनी, पथ्यास्वस्ति आदि ग्रन्थों में भी वेदविज्ञान विषयक परिभाषायें दी गई हैं किन्तु देवता सम्बन्धी परिभाषाओं का सम्यक् विवेचन 'देवतानिवित्' में ही है।

देवता सम्बन्धी वैदिक विज्ञान विषयक परिभाषा ग्रन्थ का 'देवतानिवित्' नाम रखने का कारण क्या है? पं. मधुसूदन की रचनाओं में दो और रचनायें हैं जिनके साथ 'निवित्' शब्द लगा हुआ है।

---

2. देवतानिवित्, भूमिका, पृ2

वे रचनायें हैं - भूतनिवित् तथा निविद्व्रती । निविद् शब्द प्राचीन है । ऋग्वेद संहिता में सात स्थलों पर निवित् शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[3] अथर्ववेद, यजुर्वेद, ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में भी निविद् नाम से मन्त्रों के एक वर्ग का उल्लेख मिलता है । निविद् वस्तुतः 'निविदध्याय' में संकलित 11 गद्यात्मक लघु मन्त्रवर्गों का नाम है जिनमें विभिन्न देवताओं का आह्वान है ।[4] इन गद्यात्मक लघु मन्त्रों का प्रयोग अङ्-मन्त्रों के मध्य में होता द्वारा देवताओं के आह्वान में किया जाता है । संहिताओं में 'निविद्' शब्द के उल्लेख से तथा ब्राह्मणों में इसके प्रयोग के महत्व को देखने से यह बात स्पष्ट है कि ये निविद् संज्ञक गद्यात्मक मन्त्र ऋग्वेद में संकलित छन्दोबद्ध मन्त्रों से भी प्राचीन हैं ।[5] पं. मधुसूदन की दृष्टि में निविद् का अर्थ है 'वेदविद्या' । वेद वस्तुतः देवविज्ञान है । उस देव-विज्ञान को वेद-विद्या के द्वारा ही समझा जा सकता है । जिसको वेदविद्या का ज्ञान नहीं वह देव-विज्ञान रूप वेव-विज्ञान को नहीं समझ सकता । इसी अभिप्राय से पं. मधुसूदन ने अपनी इस कृति का नाम 'देवतानिवित्' रखा । इस प्रकार देवतानिवित् का शब्दार्थ हुआ 'देवविज्ञान को प्रतिपादित करने वाली वेदविद्या ।' इस कथ्य की पुष्टि देवतानिवित् के प्रारम्भ प्रतिज्ञाश्लोक से होती है —

बालानां ब्रह्मविज्ञानप्रवेशाय वितन्यते ।
शतसूत्री निविद्दैवी स्वल्पव्याख्यानुगर्भिता ॥
यो विद्यान्निविदं दैवीं देवविद्यां सुवेद सः ।
एषामेव हि देवानां विज्ञानं वेद उच्यते ॥

अर्थात् वेदविज्ञान में जिनका प्रवेश नहीं है ऐसे बालों के ब्रह्मज्ञान में प्रवेश के लिये लघु व्याख्या से युक्त सौ सूत्रों वाली दैवी निवित् (देवतानिवित्) रची जा रही है । जो इस दैवी निविद् को जानेगा वह वेदविद्या को अच्छी प्रकार से जान जायेगा । क्योंकि इन्हीं देवों का ही विज्ञान वेद कहलाता है ।

निविद् ही वेदविद्या है जिसके द्वारा देवविज्ञान रूप वेदविज्ञान को समझा जा सकता है इस कथन का आधार स्वयं श्रुति है जिसको पं. मधुसूदन ने मङ्गलाचरण के रूप में उद्धृत किया है —

'तान्पूर्वया निविदा हूम है वयम्' (ऋग्वे.1. 89.3) ।

---

3. ऋ.वे.1.89.3; 96.2; 175.6; 176.6; 2.36.6; 4.18.7; 6.67.10.

4. ऋग्वेद, खिल, अध्याय 5, खण्ड 5

5. ब्रजबिहारी चौबे, 'लिटरेरी टैण्डेन्सी आफ अर्ली वैदिक पोएट्री' विश्वेश्वरानन्द इण्डोलाजिकल जर्नल, वाल्यूम 25(1986), होशियारपुर, पृ.1-12.

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत दिया गया है कि पूर्व निविद् के द्वारा हम सभी देवों का आह्वान करते हैं। इसका पं. मधुसूदन की दृष्टि में तात्पर्यार्थ है - 'वेद-विद्या रूप निविद् के द्वारा देवविज्ञान को हम जान सकते हैं ?

वेदविज्ञान किंवा देवविज्ञान को जानने का साधन वेदविद्या ही है। उसी वेदविद्या को पं. मधुसूदन ने प्रस्तुत 'देवता निवित्' नामक ग्रन्थ में संकलित किया है। इस ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य यही है कि जो लोग वेदविज्ञान नहीं जानते उनका इसके द्वारा वेदविज्ञान में प्रवेश हो सके।

ग्रन्थ के मंगलाचरण[6] के रूप में पं. मधुसूदन ने ऋग्वेद 1.89 में वर्णित विश्वेदेवा सूक्त के कुछ मन्त्रों को उद्धृत किया है। मन्त्रों को उद्धृत करने में पं. ओझा ने यजुर्वेदीय तथा अर्थवेदीय ऋषियों की काव्यात्मक निपुणता वा दक्षता बरती है। मंगलाचरण का प्रथम मन्त्र तो ऋ. वे. 1.89.2 का सम्पूर्ण मन्त्र है किन्तु दूसरे मन्त्र में उसी सूक्त के अनेक मन्त्रों के पादों को एकत्रित कर एक मन्त्र का निर्माण किया गया है। इसमें 'तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं' ऋवे. 1.89.3 का प्रथम पाद है, 'विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह' ऋवे. 1.89.7 का चतुर्थ पाद है, 'भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा., ऋवे. 1.89.8 का प्रथम पाद है तथा 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ऋवे. 1.89.1 का प्रथम पाद है। ऋवे. 1.89.3 के प्रथम पाद 'तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं' तथा ऋवे. 1.89.7 के चतुर्थ पाद को एक अर्धर्च के रूप में प्रस्तुत करने के पीछे पं. ओझा का मन्तव्य ऋवे. 1.89.3 तथा ऋवे. 1.89.7 के बीच के सम्पूर्ण मन्त्रों को संक्षेप में प्रस्तुत करने का रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी विभिन्न मन्त्रों के पादों को मिलाकर एक मन्त्र बनाने की प्रवृति दिखाई पड़ती है, यथा

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा
यस्मान्न जात इत्येषः (यवे 32.3.)[7]
आपो ह यद्बृहतीर्यश्चिदापः (यवे. 32.7)[8]
प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिर्मर्दयाति।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ।. (अ. वे 4.15.11.)

---

6. देवानां भद्रा सुमतिरृजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥
तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह।
भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः॥

7. द्र. यवे.25.10-13, 12. 102; 8.36-37

8. द्र. यवे.27. 25-26

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचरपः सृज ।
वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ (अ.वे. 4.15.12)

ऊपर उद्धृत अथर्ववेदीय मन्त्रों में ऋग्वेद 5.83.6 के पादों को ग्रहण कर दो मन्त्र बना दिये गये हैं।[9]

ऋग्वेद के विश्वेदेवा सूक्त (1.89) के 'निविद्' शब्दयुक्त मन्त्र के मंगलाचरण के रूप में रखने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहीं से अपनी कृति को 'देवतानिवित्' नाम रखने की प्रेरणा पं. ओझा को मिली होगी । चूंकि देवतानिवित् देवविज्ञान को जानने के लिये वेदविद्या का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है इसलिये यह समुचित ही है कि इसका मंगलाचरण देवताओं की सुमति को अपने अनुकूल करने, उनके समस्त दानों को स्वाभिमुख करने, तथा उनके सख्य को प्राप्त करने वाले भाव के द्योतक मन्त्र को प्रस्तुत करता ।

देवतानिवित् में देवता सम्बन्धी 100 विषयों या पदार्थों की परिभाषायें दी गई हैं । इनको 11 पाठों में विभक्त किया गया है । 11 पाठों में परिभाषित विषय इस प्रकार हैं —

प्रथम पाठ — एको देवः, द्वौ देवौ, त्रयो देवाः, चत्वारो देवाः, पञ्च देवाः, षड् देवाः, सप्त देवाः, अष्ट देवाः, नवदेवाः, दश देवाः एकादश देवाः द्वादश देवाः = (12) ।

द्वितीय पाठ — भागिनो देवाः, स्थानिनोदेवाः, क्रमवास्तव्या देवाः, यावानो देवाः, नपातो देवाः, अर्थपतयो देवाः, कार्मनामिका देवाः = (7) ।

तृतीय पाठ — देवता द्वन्द्वानि, गणदेवताः, वसुरुद्रादित्याः, विश्वेदेवाः, मरुतो देवाः, साध्या देवाः, आप्त्याः देवाः, ऋभवो देवाः, देविकाः, देवपत्न्यः, देवस्त्रियः = (11)

चतुर्थ पाठ — ऋषयः भृग्वङ्गि-रसः, अथर्वाणः पितरः, यमाः, नक्षत्राणि, गन्धर्वाः, गणदेवानां व्रतपत्न्यः, देवमहिमानः = (7)

पञ्चम पाठ — प्रजापतेस्तनवः, अग्नेस्तनवः, अग्निरूपाणि, अग्निबन्धव, अग्निजा धर्माः, अग्नि विशेषाः, वायु प्रभेदाः, ब्रह्मणः परिमरः = (8)

षष्ठ पाठ — साहस्रम्, प्रजापतिरसप्रबर्हणम्, चतुष्पाद् ब्रह्मणश्चतुष्कलाः पादाः, पञ्चाध्यात्मिकप्राणाः, चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनम्, परमा विराट्, देवभक्तयः, प्राणाविद्या - त्रिविधा विराडात्मानः, पारिप्लविकाहोरात्रपर्वाणि, आभिप्लविकाहोरात्रस्तोमाः, पृष्ठ्याहोरात्रस्तोमाः, स्तोमबन्धुता, सामक्लृप्तिः = (14)

सप्तम पाठ — ऋतवः, छन्दांसि, देवपादाः, मनोताः, आपः, पशवः, ओषधयः = (7)

---

9. तु. दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्र पिन्वत वृष्णो ऋ अश्वस्य धाराः।
अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः ॥ — ऋ.वे.5.83.6

अष्टम पाठ — त्रेताग्निविद्या, जीवात्मनि परमात्मसंस्रव:, आत्मबन्धव:, जीवात्मप्रभेदा:, जीवात्मनां गतय:, पन्थान:, अनुवित्तय:, लोका (आत्मगम्यलोका:), दिश: = (9)

नवम पाठ — यज्ञप्रतिपत्ति:, यज्ञभेदा:, संवत्सराहर्विभाग:, सहस्रसंवत्सरप्रतिमा: = (4)

दशम पाठ — यज्ञयोनय:, ऋत्विज:, हविष्पंक्ति:, सोमविशेषा:, सोमचतुष्टयम्, सोमांशव:, ग्रहा: सृष्टिबन्धव:, रेतस: सृष्टि:, सहचराणि, सप्तपोषा: = (11)

एकादश पाठ — दीक्षादीक्षिता:, पुरोहितपुरोधातार:, सावित्री सवितार:, बार्हस्पत्या:, स्तोमभागा:, सतां सत्रस्य सद्‌भाव:, द्वादश महाभूत प्रतिष्ठा:, षट् प्रतिष्ठा:, अक्षिताक्षय प्रतिष्ठा द्वादश जया:, ब्रह्म सत्रम् = (16)

देवतानिवित् में उपर्युक्त 11 पाठों में परिभाषित विभिन्न विषयों के अवलोकन से यह बात ज्ञात होती है कि प्रथम तीन पाठों में देवता विषयक विभिन्न प्रत्ययों (Concepts) के स्वरूप को परिभाषित किया गया है । एक से लेकर द्वादश देवों का उल्लेख वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलता है । वहां एक देव से लेकर द्वादश देवों के संख्या वाचक पदों के अन्तर्गत कौन-कौन देव परिगणित होते हैं इसको प्रथम अध्याय में परिभाषित किया गया है । यदि किसी विशिष्ट संख्या के अन्तर्गत परिगणित देवताओं के नामों में विकल्प मिलता है तो उन विकल्पों को भी पं. मधुसूदन प्रस्तुत करते हैं । इन स्थलों पर विषय का उपोद्बलक कोई ब्राह्मण-वचन उपलब्ध हो तो उसे भी वे प्रस्तुत करते हैं । यदि ब्राह्मणवचन उपलब्ध नहीं तो विषय का विवेचन अपनी ओर से करते हैं । पं. मधुसूदन ने जो परिभाषायें दी हैं उनको देखने से ऐसा लगता है कि वे परिभाषायें वैसी नहीं हैं जो आम परिभाषायें होती हैं । एक व्यापक विषय को लेकर उसके अन्तर्गत जितनी बातें उससे सम्बन्धित हैं उन सबको वे बताते हैं । इस प्रकार जहाँ वे विषय का संक्षेप किन्तु समग्र रूप में विवेचन करते हैं वहां अपनी मौलिक दृष्टि को भी उद्‌घाटित करते हैं । इससे उनका विषय विवेचन तुलनात्मक अध्ययन के लिये भी पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है प्राचीन देवताविषयक ग्रन्थों में आचार्य यास्क का निरुक्त तथा शौनक का बृहद्देवता महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं । किन्तु पं. मधुसूदन का 'देवतानिवित्' देवविज्ञान-विवेचन में यास्क के निरुक्त तथा शौनक के बृहद्देवता से भी आगे बढ़ गया है । इसमें उन्होंने विभिन्न दृष्टियों से देवताओं के जो विभाग किये हैं वे यास्क आदि से भिन्न हैं ।

द्वितीय पाठ में पं. मधुसूदन ने सात प्रकार से देवताओं का विभाग किया है । 'भागिनो देवा:' के अन्तर्गत देवताओं के तीन विभाग मिलते हैं — आहुति भागा:, स्तोमभागा:, तथा छन्दोभागा: । इष्टि, पशु तथा सोम के द्वारा जिनका यजन किया जाता है वे आहुतिभागा: देवता हैं; जो शस्त्रों से शंसित होते हैं वे 'छन्दोभागा:' देवता हैं । यास्क ने सूक्तभाज, हविर्भाज, ऋग्भाज तथा निपातभाज नाम से देवताओं के विभाग का उल्लेख किया है ।[10]

10. इति इमा: देवता: अनुक्रान्ता: । सूक्तभाज: हविर्भाज । ऋग्भाजश्च भूमिष्ठा: ।काश्चित् निपातभाज: । निरुक्त,7.13.

जिनके लिये सम्पूर्ण रूप से सूक्त समर्पित हैं वे देवता 'सूक्तभाज' हैं; जिनके लिये हविः प्रदान की जाती है वे देवता 'हविर्भाज' हैं, जिनके लिये सम्पूर्ण सूक्त नहीं बल्कि कतिपय ऋचायें समर्पित हैं वे देवता 'ऋग्भाज' हैं तथा जिनके लिये सम्पूर्ण ऋक् भी नहीं बल्कि केवल पाद समर्पित हैं वे देवता 'निपातभाज' हैं। यास्क का जो 'हविर्भाज' है वही पं. ओझा का 'आहुतिभागाः' देवता वर्ग है, यास्क का जो 'ऋग्भागः' विभाग है, वही ओझा का 'छन्दोभागाः' विभाग है। यास्क ने 'स्तोमभागा' देवताओं का उल्लेख नहीं किया क्योंकि उसका उद्देश्य ऋङ्मन्त्रों में देवता निर्णय करना था।

देवताओं का प्रमुख वर्गीकरण स्थान के आधार पर किया जाता है। यास्क ने इस दृष्टि से देवताओं के तीन विभाग किये हैं — पृथिवीस्थानीय अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय। पं. ओझा ने इन नामों को ग्रहण न कर इनके लिये अलग परिभाषित नाम दिये — 'आम्भसाः, नाभसाः तथा माहसाः'। पृथिवी लोक 'अम्भस्' है, अन्तरिक्ष लोक 'नभस्' है तथा द्युलोक 'महस्' है। इन तीनों से सम्बन्धित देवता क्रमशः आम्भसाः, नाभसाः तथा माहसाः हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि पं. ओझा ने इन नामों को अपनी ओर से गढ़ा हो। वस्तुतः ये नाम ब्राह्मणों में मिलते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन तीनों नामों का स्पष्ट उल्लेख है।[11] अग्नि आदि पृथिवीस्थानीय देवता 'आम्भस' हैं, वायु आदि अन्तरिक्षस्थानीयं देवता - 'नाभस' हैं तथा सूर्य आदि द्युस्थानीय सभी देवता 'महस' हैं। पं. ओझा ने इन सबको 'स्थानीय देवाः के अन्तर्गत परिभाषित किया है।

देवताओं का एक अन्य विभाग वास्तु के आधार पर किया जाता है जिसे पं. ओझा ने 'वास्तव्य देवाः' नाम दिया है। इन्द्र, यमो, राजा, नड नैषध, अनश्नन, सांगमन तथा असन् पांसवः ये देवता जो वस्तु हैं उन सब में वास करते हैं इसलिये इनको 'बास्तव्याः देवा' कहा जाता है। आहवनीय, गार्हपत्य, अन्वाहार्य पचन, सम्य तथा आवसध्य ये पाँच देवता प्रति वस्तु में निवास करते हैं इसलिये इनको 'नित्यावासा देवाः' कहा जाता है। इन देवताओं की सत्ता वास्तुशास्त्र में वास्तुशास्त्रविद् स्वीकार करते हैं। यास्क ने अपने देवता विभाग में इन देवों का कहीं उल्लेख नहीं किया।

देवताओं का एक अन्य विभाग 'यावानो देवाः' के नाम से पं. ओझा ने किया है। ऋग्वेद में 'प्रातर्यावाण', सायंयावानः, तथा 'शुभंयावानः' पदों का प्रयोग देवताओं के लिये किया गया है। इस आधार पर पं. ओझा ने 'यावानः देवाः' के अन्तर्गत अग्नि, उषा, अश्विनौ, यम तथा सविता को प्रातर्यावाणः, इन्द्र, छन्दांसि, ऋभवः तथा वृषाकपायी को सायंयावानः तथा मरुतो को 'शुभंयावानः' वर्ग में परिगणित किया है। यास्क के देवता-विभाग में इस विभाग का उल्लेख नहीं।

---

11. अयं वै लोको अम्भांसि। तस्य वसवो धिपतयः। अग्नि ज्योतिः।
अन्तरिक्षं वै नभांसि। तस्य रुद्रा अधिपतयः वायुर्ज्योतिः/
सुवर्गो वै लोको महः। तै.ब्रा.3.8.18.

देवताओं का एक अन्य विभाग पं. ओझा ने 'नपातो देवा:' नाम से दिया है। वेदों में ऐसे कई देवतावाचक पद हैं जिनके साथ नपात् शब्द लगा हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[12] के अनुसार इन नपात् देवों की संख्या सात है — अपां नपात्, तनूनपात्, शवसो नपात्, मरुतो नपात्, तेजो नपात्, ऊर्जा नपात् तथा ऋषीणां नपात्। यास्क ने इस विभाग का भी उल्लेख नहीं किया है।

देवताओं का एक अन्य विभाग 'अर्थपतयो देवा:, के नाम से परिभाषित है। इस वर्ग में उन नामों को परिगणित किया गया है जिनमें किसी अर्थ के साथ 'पति' शब्द जुड़ा हुआ है, जैसे प्रजापति:, गृहपति: वास्तोपति: इत्यादि। यास्क ने मन्त्र में देवता-निर्णय के प्रसंग में सामान्य रूप से सभी स्तुत्य देवताओं को किसी न किसी अर्थ का पति होने से उनका अर्थपतित्व स्वीकार किया है, क्योंकि ऋषि जिस देवता की स्तुति करता है उसको उस अर्थ का पति मानता है जिस अर्थ की प्राप्ति की वह स्वयं कामना करता है।[13] इस प्रकार सभी देवता अर्थपति हैं। ऐसा यास्क स्वीकार करते हैं। किन्तु पं. मधुसूदन का 'अर्थपतयो देवा:' से अभिप्राय उन देवों से है जिनके नाम में किसी विशिष्ट अर्थ के साथ 'पति' शब्द लगा हुआ है। इन अर्थपति देवताओं के विषय में पं. ओझा यह स्वीकार करते हैं कि ये नाम देवता के आर्थपत्य के आधार पर हैं इसलिये एक देवता के आर्थपत्यवाचक नाम अनेक हो सकते हैं। इस प्रकार एक ब्रह्म के आर्थपत्यवाचक चार नाम हैं — प्रजापति:, वाचस्पति:, बृहस्पति: तथा ब्रह्मणस्पति:, अग्नि के पांच नाम हैं — गृहपति, भूपति:, भुवनपति:, भूतानां पति: तथा शतिनस्पति:। इसी प्रकार इन्द्र, रुद्र, वरुण, चन्द्र, सूर्य आदि के आर्थपत्यबोधक नाम परिगणित किये गये हैं। इस वर्ग में 44 आर्थपत्यबोधक देवनाम हैं।

देवताओं का एक अन्य विभाग 'कार्मनामिक देवा:' नाम से किया गया है। इस वर्ग में सत्य:, वैश्वानर:, जातवेदा: आदि 45 देवों का उल्लेख है। इस वर्ग में परिभाषित देवताओं को कार्मनामिक इसलिये कहा जाता हैं कि ये नाम कर्म के आधार पर हैं। देवताओं की संख्या का उल्लेख करते हुये यास्क ने स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया है कि देवताओं की स्तुति ऋषि उनके कर्मों के द्वारा भी करते हैं, जैसे इन्द्र के लिये 'वृत्रहा', पुरन्दर आदि नामों का प्रयोग कर यास्क का कथन है कि कुछ लोग इन कार्मनामिकों को भी अलग स्वतन्त्र देवता के रूप में परिगणित करते हैं, किन्तु ऐसा करना ठीक नहीं। इससे देवताओं की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हो जायेगी। वस्तुत: ये कर्मनाम उस देवता के अभिधान के व्यञ्जक ही होते हैं। जैसे 'ब्राह्मणाय बुभुक्षिताय ओदनं देहि।स्नाताय अनुलेपनम्। पिपासने पानीयम्।' इस उदाहरण में बुभुक्षिताय स्नाताय तथा पिपासने ब्राह्मण के ही विभिन्न अभिधान के व्यञ्जक हैं। इसलिये आचार्य यास्क देवों के कर्मनामों की स्वतन्त्र देवता के रूप

---

12. तै.ब्राह.2.6.15
13. तु.- यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रभुङ्क्ते तद्दैवत: स मन्त्रो भवति। निरुक्त,7.1

में परिगणना नहीं करते ।[14] पं. मधुसूदन ने कार्मनामिकों को भी स्वतन्त्र देवता के रूप में परिभाषित किया है । किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि पं. मधुसूदन ने कार्मनामिक देवों के अन्तर्गत जिन देवताओं को परिगणित किया है उनमें वे ही देवता हैं जो निघण्टु के पांचवें अध्याय में पठित हैं तथा जिनका देवत्व यास्क को भी अभिप्रेत है ।

वेदों में देवताओं का युग्म रूप में तथा गण रूप में उल्लेख मिलता है । तृतीय पाठ में इन्हीं देवता द्वन्द्वों तथा गण देवों को परिभाषित किया गया है । देवता द्वन्द्व में अश्विनौ, द्यावापृथिवी आदि 24 नाम परिगणित हैं । निघुण्टु में उपासानकता,दैव्या होतारा, उलूखलमुसले, हविर्धाने, विपाद्छुतुद्री, आर्त्नी, शुनासीरौ, देवी जोष्ट्री, देवी ऊर्जाहुती तथा रोदसी इन युग्मदेवताओं को भी परिगणित किया गया है किन्तु पं. मधुसूदन ने देवता-द्वन्द्व की सूची में इनका उल्लेख क्यों नहीं किया यह विचारणीय है । गण देवों में वसवः, रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः, मरुतः, साध्याः, आप्त्याः, ऋभवः, वाजिनः, केशिनः, देविकाः, देवपत्नयः, देवस्त्रियः, सप्तर्षयः, भृगवः, अङ्गि-रसः, अथर्वाणः, पितरः, यग्गः, नक्षत्राणि तथा गन्धर्वः परिगणित किये गये हैं । निघण्टु में भी ये गण देवता परिगणित हैं । किन्तु प्रत्येक गण के अन्तर्गत कौन-कौन देवता हैं इसका उल्लेख निघण्टु में नहीं मिलता और ना ही यास्क ने इसको परिभाषित किया है । पं. मधुसूदन ने ब्राह्मणों तथा पुराणों के आधार पर इनका स्पष्ट नामशः उल्लेख किया है । विशेष बात यह है कि वसु, रुद्र तथा आदित्य इन गणदेवों के आरण्यक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक नाम भी दिये हैं । इससे इन देवों के आध्यात्मिक तथा आधिदैविक स्वरूप का भी ज्ञान होता है । वसु, रुद्र तथा आदित्य के आध्यात्मिक तथा आधिदैविक विवेचन में एक विसंगति भी दिखाई पड़ती है । वसु पृथिवी-स्थानीय हैं, रुद्र अन्तरिक्ष-स्थानीय है तथा आदित्य द्युस्थानीय हैं, किन्तु पं. ओझा ने 11 रुद्रों का स्थान बताते हुए लिखा 'रुद्रा एकादश द्यवि' । यहां 'द्यवि' पद का प्रयोग रुद्रों के स्थान के लिये ठीक नहीं । आध्यात्मिक दृष्टि से 8 वसु आठ आग्नेय प्राण हैं, 11 रुद्र वायव्य प्राण हैं, तथा 12 आदित्य ज्योतिष प्राण हैं । 8 वसुओं के आध्यात्मिक रूप का उल्लेख करते हुए उनको अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा तथा नक्षत्र रूप में वर्णित किया गया है । किन्तु वस्तुतः ये अग्नि, पृथिवी आदि रूप आध्यात्मिक न होकर आधिदैविक हैं । फिर पं. मधुसूदन ने इनको आध्यात्मिक क्यों माना ? लगता है यहाँ अग्नि, पृथिवी आदि से पं. ओझा का अभिप्राय इन प्राणों से ही हो । पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य और आत्मा ये आठ वसु हैं, यह वसुओं का आधिदैविक रूप है । आत्मा आधिदैविक कैसे ? यहां पं. ओझा ने याज्ञवल्क्य के

---

14. तु-अथ उत अभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति इन्द्राय वृत्रघ्ने,इन्द्राय अंहोमुचे इति । तान्यपि एके समामनन्ति । भूयांसि तु समाम्नानात् । यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत् समामने । अथ उत कर्मभिः ऋषिः देवताः स्तौति वृत्रहा पुरंदर इति । तान्यपि एके समामनन्ति । भूयांसि तु समाम्नानात् । व्यज्जनमात्रं तु तत् तस्या भिधानस्य भवति । यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षिताय ओदनं देहि । स्नाताय अनुलेपनम् । पिपासने पानीयम् इति । निरुक्त 7.13

मत को प्रस्तुत किया है जो आत्मा के स्थान पर आठवां वसु विद्युत को मानते हैं । द्वादशा आदित्य का आध्यात्मिक रूप 12 मास हैं ऐसा ओझा मानते हैं । 12 आदित्य को संवत्सर का, 12 मास मानना आधिदैविक व्याख्या हो सकती है किन्तु आध्यात्मिक नहीं । पं. ओझा ने ऐसा क्यों माना यह विचारणीय है । वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यों के वैदिक नामों के साथ-साथ उनके पौराणिक नामों का भी उल्लेख ओझा ने किया है ।

गणदेवों के विषय में पं. ओझा ने 'देवतानिवित्' में जो सामग्री प्रस्तुत की है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इनके आधार पर इन गणदेवों के स्वरूप पर काफी प्रकाश पड़ता है । देवत्व के अध्येता के लिये यह सामग्री अत्यन्त उपयोगी है । पं. ओझा के वैदिक एवं पौराणिक ग्रन्थों के गहन अध्ययन का ही यह परिणाम है ।

देवतानिवित् के चतुर्थ पाठ में पं. ओझा ने ऋषय:, भृग्वङ्गिरस:, अथर्वाण:, पितर:, यमा:, नक्षत्राणि, गन्धर्वा:, गणदेवानां व्रतपत्न्य तथा देवमहिमान: इन विषयों का विस्तृत विवेचन किया है । ऋषियों, पितरों तथा नक्षत्रों के विवेचन में उन्होंने कई नई जानकारी दी हैं । नक्षत्र-विषय के प्रकरण में चतु:स्वस्तिकों की जानकारी वेद मन्त्रों के व्याख्यान में एक नई दिशा देती है । ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र है - 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा: स्वस्ति नो पूषा विश्ववेदा: ।

स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमि: स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

(ऋ. वे. 1.89.)

इस मन्त्र में चार बार जो 'स्वस्ति' शब्द का उल्लेख है वह वस्तुत: चतु:स्वस्तिक है । इन्द्र नाम का प्रथम स्वस्तिक है । यह चित्रा पर स्थित वृहत्कर्ण वाला है, कौशिक पक्षी की आकृति वाला है तथा इन्द्र कहलाता है । इससे अन्य दिविष्ठ इन्द्रतारा पृथक् होते हैं । दूसरा स्वस्तिक पूषा है । यह पूषा से लेकर सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र को व्याप्त करता है इसलिये इसको विश्ववेदा: कहा जाता है । तीसरा स्वस्तिक विष्णुरथ तार्क्ष्य है । वह सुपर्ण तार्क्ष्य अरिष्ट नामक ग्रहसंचारप्रदेश के 48 अंश व्याप्त प्रदेश में स्थित है । इसलिये उसे अरिष्टनेमि: कहा जाता है । चतुर्थ स्वस्तिक बृहस्पति नाम का तारा है । इन्हीं चार स्वस्तिकों से सम्पूर्ण व्योममण्डल चार भागों में विभक्त होकर व्याप्त है । इस प्रकार की व्याख्यायें निश्चित ही वेद विज्ञान को जागृत करेंगी जिसकी परम्परा बहुत दिनों से लुप्त हो गई है । आयुर्विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, प्राणविज्ञान आदि अनेक विज्ञानों की गुत्थियां भी इन व्याख्याओं से खुलेंगी ।

देवतानिवित् में पं. ओझा ने देवविज्ञान से सम्बन्धित कई अन्य विषयों का भी विवेचन किया है जिनमें प्राण, आत्मा, साम तथा यज्ञ का विशेष महत्व है । यद्यपि इन विषयों का प्रतिपादन संक्षेप में किया गया है किन्तु इनसे एतद्विषयक भावी अध्ययन की एक दिशा मिलती है, एक मार्गदर्शन

मिलता है । देवतानिवित् में जितने विषयों का विवेचन किया गया है वे सभी अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं । ओझा के अन्य ग्रन्थों में भी इन विषयों का यत्र तत्र विवेचन हुआ है, इसलिये उन स्थलों का भी अवलोकन आवश्यक है । सबसे अधिक आवश्यकता है इस 'देवतानिवित्' - ग्रन्थ को नये ढंग से सम्पादित कर प्रकाशित करने की । जैसा मैंने पहले उल्लेख किया था और स्वयं ओझा जी ने इसकी भूमिका में कहा है कि देवतानिवित् में देवता सम्बन्धी एक शत विषयों की परिभाषायें पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट हैं किन्तु देखा जाय तो इसमें केवल एकशत विषयों की ही परिभाषायें नहीं हैं बल्कि उन विषयों के अन्तर्गत अनेक विषयों को भी परिभाषित किया गया है । इसलिये ग्रन्थ का पुनः सम्पादन करते समय इस बात का ध्यान रखा जाय कि सब पारिभाषिक शब्द परिशिष्ट में संकलित हों ताकि प्रस्तावित 'मधुसूदन वेदविज्ञान परिभाषा कोश' में उनका पूर्णरूप से उपयोग हो सके ।

वैसर्जन होम की महिमा

डॉ. मंगलाराम*

विद्यावाचस्पति पण्डित ओझा जी ने सत्यविद्या और सत्यधर्मस्वरूप वैदकविद्या के क्षेत्र में परम प्रशंस्य कार्य किया है। उनके अनुसार अन्न और अन्नाद की भांति अग्नि और सोम का सम्बन्ध है। संसार के समस्त कर्म और वस्तुपिण्डों में होने वाली क्रियाएँ अग्निमय हैं।[1] विश्व के समस्त भूत और देवता अग्निमय हैं।[2] अग्नि में सोम की आहुति पड़ते ही मूर्ति की सत्ता स्थापित हो जाती है। अग्नि प्राण है और सोम रयि है।[3] अग्नि और सोम का परस्पर भोक्ता-भोग्यरूपेण सखाभाव है।[4] अग्नि पदार्थातीत ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण होता है। त्रिभेद-भिन्न यह ब्रह्म विश्व बनता है।[5]

वैदिकविज्ञान में "यज्ञ" विष्णु की सञ्ज्ञा धारण करता है।[6] "यज्ञ" अग्नि में सोम की आहुति पड़ना है। अग्नि, वायु और सूर्य क्रमशः पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक के अधिष्ठाता देवता हैं।[7] सोमयज्ञ के अन्त में विष्णु है, आदि में अग्नि है और बीच में सारे देवता हैं।[8] विष्णु

---

* सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर।

1. प्रत्येत्य वैश्वकर्मणानि जुहोति विश्वानि कर्माण्ययमग्निः।
   — शतपथब्राह्मण, 9.5.1.42
2. सर्वाणि वा एष भूतानि सर्वान्देवान्गर्भी भवति योऽग्निं बिभर्ति।
   — वही, 9.5.1.62
3. तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।
   — प्रश्नोपनिषत्, 1.5
4. अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
   अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥
   — ऋग्वेद, 5.44.15
5. ब्रह्म जानानो ब्राह्मणो भवति। ब्रह्म च त्रेधा विवर्त्तमानमिदं विश्वं निष्पद्यते।
   — मधुसूदन ओझा, पथ्यास्वस्ति, पृ 53 (मूल)
6. (अ) यज्ञो वै विष्णुः-यजुर्वेद, 22.20
   (ब) विष्णुर्वै यज्ञः-ऐतरेयब्राह्मण, 1.15
7. अग्निर्भूस्थानो वायुर्वेन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।
   — यास्क, निरुक्त, 7.5.2
8. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।
   एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च।
   — ऐतरेयब्राह्मण, 1.1

अपने त्रिविक्रमों द्वारा तीनों लोकों पर अधिकार जमाये हुए है।[9] मनप्राणवाक्स्वरूप विष्णु यज्ञ को गोसव भी कहा जाता है।[10] ज्ञानप्रधान अव्ययपुरुष निष्क्रिय है। क्रिया करना एकमात्र अक्षर का ही धर्म है। अव्यक्ताक्षरा प्रकृति ही विश्व का प्रभाव, प्रतिष्ठा और परायण है।[11] अक्षरपुरुष परा प्रकृति है। यज्ञ का एक दूसरा नाम अन्न भी है। स्थितिगर्भिता आगति ही सोम कहलाती है। क्षर और अक्षर पुरुषों की स्थिति को प्रदान करने वाला अव्यय पुरुष पुरुषों में उच्चतम स्थान पर रहता है।[12]

दीक्षा लेते समय जिन मेखला, कृष्णविषाण, कृणाजिन आदि का ग्रहण किया जाता है, उनका विसर्जन करने के समय जो होम किया जाता है, उसे वैसर्जन होम कहते हैं। दीक्षा लेने वाला व्यक्ति संसार के समस्त पदार्थों की दीक्षा लेता है अर्थात् उस व्यक्ति के, जो कि दीक्षा ले रहा है, अधिकार में संसार के समस्त पदार्थ आ जाते हैं। वह त्रिलोकस्वामी हो जाता है। पृथिवी से इक्कीस अहर्गण पर्यन्त वितत जो सोमयज्ञ है, उस सोमयज्ञ को व्यक्ति दीक्षणीयेष्टि से आत्मसात् करता है। संसार में यच्चयावत् यज्ञ के ही वर्तमान होने के कारण व्यक्ति जब यज्ञ पर अपना अधिकार जमा लेता है तो इससे भाव यह निकला कि वह व्यक्ति विश्वाधिपति बन गया। "सोम-यज्ञ" से तात्पर्य सोलह-सतरह अहर्गण पर्यन्त वितत रहने वाले अग्नि में सोमाहुति होने पर उस अग्नि का इक्कीस अहर्गण पर्यन्त सूर्य तक वितत हो जाना है। रोदसी त्रिलोकी के समस्त भूत इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से उत्पन्न होते हैं। त्रिलोकी-वस्तु उसी के अधिकार में आती है, जो इस यज्ञ को आत्मसात् करता है। दीक्षणीयेष्टि द्वारा जिस सर्वभूत यज्ञ को लक्ष्य में रख कर यजमान दीक्षा लेता है, उस दीक्षा से वह यजमान का सम्भरण कर दीक्षा के साधनभूत कृष्णाजिन, मेखला आदि का परित्याग करता है। दीक्षा के साधन ही तो मेखला इत्यादि हैं और यज्ञ का आत्मसात् दीक्षा से होता है। अतः दीक्षा के साधनस्वरूप कृष्णाजिन इत्यादि की तब कोई आवश्यकता नहीं रहती जब यज्ञ आत्मसात् हो जाये। लोक-प्रसिद्धि भी है कि स्थाली की तभी तक आवश्यकता रहती है जब तक कि दूध गर्म न हो जाय। जब दूध गर्म हो जाता है तो दुग्धगर्मसाधनभूत स्थाली इत्यादि का त्याग कर दिया जाता है। ठीक

---

9. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसूले।
— सामवेद,3.1 (पूर्व)

10. या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि॥
— यजुर्वेद,6.3

11. यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षरा द्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥
— मुण्डकोपनिषत्,2.1.1

12. क्षराक्षरपुरुषप्रतिष्ठावत्वादव्ययः पुरुषेषु परो भावः।
— मधुसूदन ओझा, विज्ञानविद्युत्, पृ6,
(राजस्थान पत्रिका प्रकाशन,1990)

इसी प्रकार वैसर्जन होम के दिन यजमान यज्ञात्मसात्साधनस्वरूप मेखला इत्यादि समस्त साधनों को छोड़ देता है।

वैसर्जन होम अपने आप में अन्वर्थसञ्ज्ञक है, क्योंकि यह होम विसर्जन का साधन है। "जैसे होम से दीक्षा ली जाती है, व्रतग्रहण किया जाता है, वैसे ही व्रतविसर्जन भी होम से ही करना चाहिये" यह एक सामान्य सिद्धान्त है। अत: यजमान वैसर्जन होम करता है। यज्ञसाधनभूत कृष्णविषाण इत्यादि जो कुछ भी थे, उनका यजमान इस होम द्वारा त्याग करता है। इसलिए विसर्जनसाधनत्वात् इस होम को वैसर्जनहोम कहते हैं। अब प्रश्न उठता है कि "यजमान अकेला ही इस होम को सम्पादित करता है अथवा अन्य लोग भी इस उत्सव में सम्मिलित होते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि यजमान इस होम में स्वयं के भ्रातृवर्ग एवं तद्वंशीय बन्धुवर्ग को शामिल करता है। भ्रातृवर्ग को अपिव्रत भी कहते हैं। अपि से तात्पर्य सम्पत्ति से है। इस सम्पत्ति में दायादों का भी भाग होने के कारण भ्रातृवर्ग को अपिव्रत कहा जाता है। अर्थात् जिन लोगों का यजमान के व्रत में भाग है, जो दायादवश यजमानव्रत से पृथक् नहीं रहते, वे अपिव्रत कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि सगोत्री ही अपिव्रत होते हैं। चूंकि आज ही के दिन यजमान मेखला इत्यादि का त्याग करने का इच्छुक है तथा इस यज्ञसाधनभूतों के त्याग में भ्रातृवर्ग का भी भाग है, अत: वह उन अपिव्रतों को भी वैसर्जनहोम में सम्मिलित कर लेता है। अधुना शंका यह उठती है कि क्या अपिव्रत को वैसर्जनहोम में शामिल करना सर्वदा आवश्यक कार्य है? तो इसका समाधान यह है कि यदि अपिव्रत कहीं प्रदेश चला गया हो या होम के समय वहाँ यज्ञस्थल पर उपस्थित न हो तो भी कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता अर्थात् यदि किन्हीं कारणों से अपिव्रत की उपस्थिति नहीं हो तो भी यजमान बिना किसी प्रतीक्षा के वैसर्जनहोम को सम्पादित कर सकता है। इस प्रकार जिस समय अग्न्याहुति डालकर यजमान वैसर्जनहोम करता है, तत्क्षण ही उसे कृष्णाजिन इत्यादि समस्त दीक्षा के साधनों को छोड़ देना चाहिये।

अब यदि कोई प्रश्न करे कि व्रतपरित्यागकाल में वैसर्जनहोम किया ही क्यों जाता है या इस होम का क्या प्रयोजन है? तो इसका उत्तर यह है कि विसर्जनार्थ होम करना अत्यन्त आवश्यक है। यह एक ऐसी सामान्य विधि है जिसकी पालना में ही व्यक्ति का कल्याण निहित है। इस होम का द्वितीय प्रयोजन यज्ञविद्या से जुड़ा है। पिण्ड की ही इतरसञ्ज्ञा यज्ञ है। ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र, ये प्राणत्रय शरीर के केन्द्र में स्थित हैं। इन तीनों प्राणों में ब्रह्मप्राण अन्य विष्णुप्राण और इन्द्रप्राण का आधार है अर्थात् ब्रह्मप्राण विष्णु तथा इन्द्रप्राण की प्रतिष्ठा है। विष्णु आदायक एवं इन्द्र विक्षेपक हैं। विष्णु की अशनाया शक्ति का कार्य मात्र यही है कि वह बहिवर्तमान अन्न का ग्रहण करके शरीराग्नि में आहुति प्रदान करे और इन्द्र की विक्षेपक शक्ति का कार्य यह है कि गृहीत अन्न को विक्षेपण इत्यादि से रोमावलियों द्वारा बाहर फेंक दे। इन्द्र और विष्णु की यह आदायक और विक्षेपक शक्ति-स्वरूपा स्पर्धा निरन्तर चलती रहती है। विष्णु द्वारा सोम की अग्नि में आहुति डालने पर यज्ञ

संपादित होता है । इसलिए कहीं-कहीं विष्णु को 'यज्ञ' भी कह देते हैं । एक कारण यह भी कि पृथिवी के केन्द्रस्थ अशनाया शक्तिशाली विष्णु ही इक्कीस अहर्गण पर्यन्त आक्रमण करके पार्थिवाग्नि में सोमाहुति डाला करते हैं । जगत्प्रसिद्ध विक्रान्ति को आग्नेययज्ञ-देवताओं के लिये विष्णु ने ही सम्पन्न किया है । आठ वसु, एकादश, रुद्र, द्वादश आदित्य, द्यावापृथिवी ये समस्त तेंतीस देवता "पार्थिव आग्नेय देवता" कहलाते हैं । ये देवता "यज्ञीय देवता" भी कहलाते हैं क्योंकि ये देवता अग्नीषोमात्मक यज्ञ से पैदा होते हैं ।[13]

पृथिवी के इक्कीस अहर्गणपर्यन्त वितत रहने वाला अग्नि पृथिवीपिण्ड से ही निकलता है, जिसकी घन, तरल और विरल - ये तीन अवस्थाएँ होती हैं । त्रिवृत्पर्यन्त रहने वाले अग्नि की अवान्तर आठ अवस्थाओं को आठ वसु कहते हैं, जिनमें प्रथम "वसु" ही अग्नि कहलाता है । पन्द्रह स्तोम पर्यन्त विद्यमान तरल अग्नि को वायु कहते हैं, जिसकी अवान्तर ग्यारह अवस्थाओं को रुद्र कहा जाता है । इक्कीस स्तोम पर्यन्त विद्यमान विरल अग्नि को आदित्य कहा जाता है, जिसकी अवान्तर बारह अवस्थाएँ हैं, जिनके अन्त में विष्णु है ।[14] यही इक्कीस स्तोम पर्यन्त विद्यमान आदित्य, वायु और अग्नि ही यज्ञ कहलाते हैं, जिसकी रक्षा विष्णु-विक्रम द्वारा होती है । अग्नि अन्नाद स्वरूप है, देवता आग्नेय है । यह अग्नि जब तक इसमें अन्नाहुति पड़ती रहती है, तब तक प्रज्वलित रहता है । इस अन्न का आहरण करना अशनायाधिष्ठाता विष्णु का काम है । पृथिवी के केन्द्र से निकलकर विष्णु त्रिवृत्स्तोम पर्यन्त प्रथम, पंचदशस्तोम पर्यन्त द्वितीय और एकविंशस्तोम पर्यन्त तृतीय विक्रमण करते हैं । त्रिवृत्पर्यन्त पृथिवीलोक, पंचदशपर्यन्त अन्तरिक्ष लोक और एकविंशपर्यन्त द्युलोक कहलाता है । इस प्रकार अपने तीन कदमों या डगों से विष्णु लोकत्रय में व्याप्त हो जाते हैं । यह विक्रान्ति देवताओं के लिये है, अतः यदि यह विक्रान्ति न होती तो आग्नेय देवताओं के लिए सोमाहुति न होती और यदि सोमाहुति न होती तो आग्नेय देवताओं की सत्ता ही नहीं होती । यही प्राकृतिक विज्ञान का रहस्य है ।

जैसे विष्णु ने यज्ञ में देवताओं के लिये विक्रान्ति की थी वैसे ही सोम यज्ञस्वरूप विष्णु यजमान के लिये तीन विक्रम करता है । आहवनीय, आग्निध्रीय एवं उत्तरावेदि में अध्वर्यु जो आहुति डालता है, वह यज्ञविष्णु का ही कदम रखना (विक्रमण) है । वैसर्जन होम के लिये तीनों अग्नियों में दी जाने वाली आहुति ही यज्ञविष्णु के त्रिविक्रम (डग) हैं । अर्थात् दीक्षणीयेष्टि में यजमान आग्नीवैष्णव एकादश कपाल पुरोडाश से अग्नि-विष्णु को आत्मसात् कर लेता है । आज

---

13. इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ।

— ऋग्वेद,8.30.2

14. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ।

— ऐतरेयब्राह्मण,1.1

तत्समाप्त्यर्थ अन्तिम सीमा पर पहुँच कर वैसर्जन होम करता है। जैसे कि विष्णु ने तीन विक्रम किये थे वैसे ही तीनों जगह आहुति डालना ही तीन विक्रम करना है एवं लोकत्रय में यजमान सत्ता कायम करता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यजमान तीनों लोकों में सत्ता कायम करने के लिये भी वैसर्जनहोम करता है।

अब जिज्ञासा यह होती है कि वैसर्जन होम करने के प्रयोजन (विसर्जनार्थ होम की अत्यन्त आवश्यकता के कारण तथा लोकत्रय में सत्ता की प्रतिष्ठा हेतु)तो स्पष्ट हो गए, लेकिन यह होम किस प्रकार किया जाता है ? इसके सम्पन्न करने की विधि क्या है ? इस होम को किस पद्धति से सम्पादित किया जाता है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में कहा जाता है कि अध्वर्यु अपराह्नकाल में दिन के बारह बजे के पश्चात् सौमिक वैदिका पर कुशा बिछाकर यजमान को आधा दूध देकर (आधा तो पूर्वाह्न में प्रयुक्त हो चुका था) हविर्वेदि के आहवनीय के पास आ जाता है। वहाँ आकर वह उस आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए काष्ठ डाल देता है। यहीं से आग्नीध्रीय अर्थात् यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के स्थान में अग्नि ले जाया जायेगा। ऐसी अवस्था में यदि पूर्व का अग्नि ही ले जाया जायेगा तो इसमें अग्न्यभाव हो जाएगा, अतएव और समिधा डाल दी जाती है। जब अध्वर्यु इध्म डालता है, उसी समय दूसरा ऋत्विक् उपयमनी तैयार रखता है। उपयमनी किसी पात्र में बालू मिट्टी पर रखकर ले जाई जाने वाली अग्नि का नाम है। इस प्रकार इधर एक ऋत्विक् उपयमनी लिये खड़ा रहता है, उधर दूसरा ऋत्विक् घृत को तपाने के लिये उस पर आज्य विलापिनी को रख देता है तथा वही ऋत्विक् झटपट जुहूभृत् (स्रुवा और स्रुचि) को धो-धो कर साफ कर लेता है। तत्पश्चात् यजमान उस सोमराजा को स्वांक में रख लेता है। फिर सोमक्रयणी गौ के सप्तम खुर की मिट्टी को, जिसे पूर्व में ही सुरक्षित रखने को कह दिया था, गार्हपत्य के पश्चिम भाग में डाल देता है। सोमक्रयणी गौ को सात कदम चलाकर उसके खुर की मिट्टी को सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता है, जो कि आज गार्हपत्य के पश्चिम भाग में डालने के काम आती है। अब प्रश्न यह उठता है कि सातवें पद की मिट्टी गार्हपत्य के पश्चिम भाग में क्यों डाली जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि यह गार्हपत्य पृथिवीस्थानीय है एवं गार्हपत्य के पश्चिम भाग में डाले जाने के कारण यह मिट्टी पैर की प्रतीक है। इस प्रकार गार्हपत्य के पश्चिम भाग में मिट्टी रखना पैरों से पृथिवी पर प्रतिष्ठित होना है। यजमान स्वर्गगमन का अभिलाषी है, परन्तु जीवनपर्यन्त उसे पृथिवी में प्रतिष्ठित रहना है, अतएव यजमान की प्रतिष्ठा के लिये पद की मिट्टी को गार्हपत्य के पश्चिम भाग में डाला जाता है। कई याज्ञिक उस पदपांसु को चार भाग में भी विभक्त करना मानते हैं, परन्तु यह कोई समीचीन एवं तर्कयुक्त बात नहीं है। इस प्रकार सोम राजा को गोद में रखने के पश्चात् उस अग्नि पर रखे हुए घृत में से तृणादि निकालकर चार बार जुहू और उपभृत में घृत लेना चाहिये। फिर चतुर्गृहीत जुहू और उपभृत् में मन्त्रोच्चारण के साथ पाँच बार पृषदाज्य को और डालना होता है। घी में दही को मिलाकर मिश्रित कर दिया जाता है। इसी दधिमिश्रित आज्य को पृषदाज्य कहा जाता है। पहले जुहूपभृत् में चार बार शुद्ध घृत लेना चाहिये

और फिर यह प्रार्थना करनी चाहिये कि — 'हे पृषदाज्य ! आप नाना वर्णयुक्त ज्योति हों एवं समस्त देवताओं का सम्मिधन करने वाले हो । आप तेजस्वरूप हैं सारे देवता आग्नेय हैं । घृत अग्नि को प्रज्वलित कर देता है, क्योंकि सौर देवताओं को प्रज्वलित करने वाला वही है ।[15] इस प्रकार प्रार्थना के साथ पृषदाज्ययुक्त स्रुविका को हाथ में उठाकर तैयार रखते हैं । जिस समय इध्म प्रज्वलित होता है, उस समय यह प्रार्थना करते हुए पृषदाज्य की गार्हपत्य में आहुति डाली जाती है कि हे सोम ! आप शरीर में पीड़ादायक राक्षसों के द्वेषों के नियन्ता हैं । जो हमारे नहीं हैं, हमारे बगैर हैं, जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, उन लोगों के द्वेषों, कृत्या प्रयोगों को अवरुद्ध करने वाले आप ही हैं । शत्रुओं के आक्रमण से आप ही मुझे बचाने वाले हैं । असुर प्रेरित कृत्या जिस प्रकार हमारा नुकसान नहीं करे, उसी तरह आप हमारी रक्षा करते हैं । आप हमें आफत से बचाते रहते हैं, अतएव एकमात्र आप ही हमारे बहुत बड़े बल हैं । हमारी ताकत आप ही हैं । ऐसे आपके लिये हम आहुति देते हैं ।[16] इस प्रकार आहवनीय हवन से यह यजमान इस पृथिवी प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता है एवं इस हवन से वह इस पृथिवी लोक पर स्वाधिकार कायम कर लेता है ।

प्रथम पृषदाज्य-आहुति "स्थूल-सोम" को दिये जाने के पश्चात् द्वितीय आहुति अप्तुसोम के लिये दी जाती है । अप्तुसोम अत्यन्त सूक्ष्म सोम का ही अपर नाम है । यह सूक्ष्मता दो प्रकार की हो सकती है । प्रथम है — इसके किरचे-किरचे बना लेना अथवा जरा-जरा से कतरे कर डालना और द्वितीय है - वल्ली में से भाप बनाकर निकाल लेना ।

आग्नीध्रीय अन्तरिक्षस्थानीय है । अन्तरिक्षस्थ सोम अन्तर्हित रहता है । पृथिवी पर तो उस सोम का वल्ली रूप में प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु अन्तरिक्ष में सोम अतिसूक्ष्म रहता है, अतः इसे अप्तु कहा जाता है । राक्षस इस सोम को दूषित करने की चेष्टा किया करते हैं । इन राक्षसों (दूषित परमाणुओं) को अन्तरिक्ष में ही आक्रमण करने का मौका मिलता है । जहाँ अग्नि की प्रबलंता रहती है, वहां इन दूषित परमाणुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । पृथिवी में और सूर्य में अग्नि होने के कारण इन पृथिवी लोक और सूर्यलोक में तो असुर आक्रमण करते हुए डर के मारे घबराते हैं लेकिन अन्तरिक्ष में अग्नि के कमजोर होने के कारण वहाँ असुरों को मौका मिल जाता है तथापि वहां सोम इतनी सूक्ष्म अवस्था में रहता है कि असुरों को उसका पता ही नहीं लगता । पृथिवी में से ऊपर की ओर जाने वाला सोम उसी समय भाप बनकर उड़ जाता है । वास्तव में यह प्रकृति का एक अद्‌भुत रहस्य है । यज्ञ का वितान इसी की अनुकृति है । हविर्वेदिका आहवनीय पृथिवी है । इसी को शालाद्वार्य्य एवं शालामुखीय भी कहा जाता है । आग्नीध्रीय अन्तरिक्षस्थानीय है एवं उत्तरावेदिस्थ

---

15. विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित् ।

- वाजसनेयीसंहिता,5.35

16. त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्यो न्यकृतेभ्य उरू यन्तासि वरुथं स्वाहा ।

- वही,5.35

द्युलोक है । हविर्विधान के दक्षिण में सोमाभिषव होता है एवं वह इस आहवनीय से ले जाया जाता है । मध्य में अन्तरिक्ष पड़ता है । यह असुर स्थान है । इसकी रक्षा के लिये (इस वल्ली सोम की, अप्तु अवस्था की प्रतीक) आन्तरिक्ष्य अप्तु सोम की सूक्ष्म अवस्था की भावना की जाती है । आहवनीय से पूर्व की ओर जिस सोम का गमन कराया जाता है, वही अप्तु है अर्थात् अतिसूक्ष्म होने से अक्षय्य है । तात्पर्य यह है कि बिना देखे असुर सोम को स्वयं द्वारा दूषित नहीं कर सकते । अध्वर्यु मन ही मन मन्त्रोच्चारण करता हुआ कहता है — "अप्तु नाम का सूक्ष्म सोम आज्य को प्रसन्नतापूर्वक, रुचिपूर्वक खाए । आज्याहुति ग्रहण करे । आज्य से प्रसन्न रहने वाले सोम के लिये स्वाहा है ।"[17]

बिन्दु के तीन प्रकार होते हैं — शून्यबिन्दु, स्तोकबिन्दु और द्रप्सबिन्दु । इनमें स्तोकबिन्दु ही अन्तरिक्षस्थ सोम रूप में परिणत होता है । वास्तव में अन्तरिक्षस्थ सोम स्तोक ही है अर्थात् सूक्ष्म ही है । पार्थिव प्राणदेवता इसे शत्रुओं के वध से बचाने के लिये छोटा बनाकर ही अन्तरिक्ष में ले गए । राक्षसों के भय से सोम अन्तरिक्ष में जाकर छोटा हो गया है, सूक्ष्म हो गया है । इस प्रकार प्रकृतिमण्डल में अन्तरिक्ष की ओर जाता हुआ सोम अप्तु कहलाता है और इसी अप्तु के लिए ही द्वितीय आहुति प्रदान की जाती है ।

शुद्ध सोम के लिए एवं अप्तु सोम के लिये दो आहुतियाँ देकर अध्वर्यु आग्नीध्रीय की ओर जाने के लिए गार्हपत्य में रखी हुई प्रज्वलित इध्म को उठाता है एवं दूसरे ऋत्विक् के हाथ में रखी हुई उपयमनी पर जलती हुई उस लकड़ी को रख देता है इस प्रकार इध्म रखकर यह अध्वर्यु होता को निर्देश देता है-कि हे होता ! आग्नीध्रीय की ओर ले जाते हुए अग्नि और सोम के लिए अनुवाक्या मन्त्र बोलो । प्राणदेवता को सुना दो कि अब हम अग्नि और सोम दोनों को अन्तरिक्ष की ओर ले जाते हैं । पार्थिव अग्नि ही तरल-विरल रूप में अन्तरिक्ष और द्युलोक में जाता है । सोमयज्ञ का सम्बन्ध इसी अग्नि से है । पृथिवी में से निकलकर इक्कीस अहर्गणपर्यन्त वितत रहने वाला पार्थिव अग्नि ही स्तोम यज्ञाधिष्ठाता है । अतएव इस मनुष्ययज्ञ में भी पृथिवीस्थानीय गार्हपत्य में से ही अन्तरिक्षस्थानीय आग्नीध्रीय में, द्युस्थानीय उत्तराहवनीय में अग्नि ले जाया जाता है । गार्हपत्य के समय अध्वर्यु आदि कायिक लोक द्युलोक की ओर जा रहे हैं । अतएव यहाँ से जिन-जिन चीजों की जरूरत आगे पड़ेगी, उन सबको साथ ले जाते हैं । दक्षिण हविर्धान के दक्षिणभाग में उपरवों पर रखी हुई जो शिला है, उस पर सोम का अभिषव होता है । तदर्थ पंचप्रस्तर होते हैं, जिन्हें ग्रावा कहा जाता है । उनको साथ ले लेते हैं एवं सोमरस भरा जाने वाला बहुत बड़ा घड़ा भी साथ ले लेते हैं, जिसे द्रोणकलश कहा जाता है । चालीस वायव्य पात्रों को भी साथ लिया जाता है । सोम को चालीस पात्रों में भर दिया जाता है जो चालीस ग्रह कहलाते हैं । प्राकृतिक वायु में चालीस प्रकार के ग्रह रहते हैं ।

---

17. जुषाणोऽप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा ।
— वाजसनेयी संहिता,5.35

इन्हीं को गैस कहा जाता है ।[18] ये चालीस ग्रह धारा, सव, पवित्र और अमृत इन चार जातियों में विभक्त ग्रह हैं अर्थात् सारे गैस वायु में रहते हैं और इसी आधार पर ही इन ग्रहपात्रों को वायव्य कहा जाता है, जिन्हें साथ लिया जाता है । साथ ही, बीस लकड़ियों को भी साथ लिया जाता है[19] एवं कार्ष्मर्य्यमयी तीन परिधियाँ साथ ले लेते हैं, जिन्हें श्रीपर्णी कहा जाता है ।[20] घोड़े की पुच्छाकृति का तृणविशेषक आश्ववालप्रस्तर भी लिया जाता है[21] एवं सांठे की विधृति लेते हैं । प्रस्तर के नीचे कुशा बिछाई जाती है । कुशा के ऊपर उत्तराग्र दो विधृतियाँ रखी जाती हैं । इन पर पूर्वाग्र प्रस्तर रखा जाता है । बर्हि और विधृति दोनों ही कुशा की होंगी तो प्रस्तर घिलमिल हो जाएगा, अतः प्रस्तर स्वरूप को अलग गूंदने के लिए सांठे के पत्ते की विधृति बनाई जाती है ।[22] इस विधृति से एक एक पत्ता कुशा का भी बन्धा रहता है एवं दो वपा-श्वपणी ले लेते हैं । पशु की वपा निकाली जाती है एवं उसकी आहुति दी जाती है । तत्पश्चात् दो रस्सियाँ ली जाती हैं, जिनमें एक से पशु बांधा जाता है एवं एक से यूप । अग्निमन्थन के लिये उत्तरारणि और अधरारणि ली जाती है । यूप के छिलकों को भी लिया जाता है तथा अभिमत फलवर्षणक दो दर्भतरुणकों को भी । इस प्रकार इतनी सामग्री को संग लेकर ऋत्विक् लोग पश्चिम से (गार्हपत्य से) पूर्व की ओर आते हैं । अध्वर्यु आदि ऋत्विक् तथा यह समस्त सामग्री यज्ञांगभूत ही है । इनका पूर्व की ओर जाना यज्ञ का द्युलोक की ओर जाना है । जैसे प्रकृति में पार्थिवयज्ञ ऊपर की ओर जाता है वैसे ही आज इस यजमान का यज्ञ भी ऊपर की ओर जा रहा है ।

इस प्रकार समस्त पदार्थागमनानन्तर अध्वर्यु यजमान को

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥[23]

---

18. षट् त्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम् ।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक् सामाभ्यां प्र रथं वर्त्तयन्ति ॥
— ऋग्वेद,10.114.6

19. इध्मं विंशति काष्ठम् ।
— कात्यायनश्रौतसूत्र,8.7.5

20. कार्ष्मर्यमयान् परिधीन आददते ।
— शतपथब्राह्मण,3.6.3.14

21. आश्ववालः प्रस्तर आददते ।
- वही,3.4.1.17

22. ऐक्षण्यौ विधृती आददते ।
— वही,3.4.1.18

23. वाजसनेयी संहिता,5.36

यह मंत्र बुलवाता है और स्वयं भी बोलता है । यह मन्त्र बोलकर अग्नि को सबसे आगे करते हैं । प्रकृति में अग्नि ही आगे-आगे चलता हुआ राक्षस एवं तमोमय प्राण को अलग करता जाता है । इस प्रकार ऐसे निरुपद्रव स्थान में ऋत्विक् लोग यज्ञ-सामग्री को आग्नीध्रीय की ओर ले जाते हैं । इस प्रकार अग्नि रक्षार्थ ऋत्विक् लोग आते हैं । फलतः आग्नीध्रीय के पास से आकर उस प्रणीत अग्नि को ऋत्विक् आग्नीध्र में स्थापित कर देते हैं ।

जिस समय आग्नीध्र में अग्नि रख दिया जाता है तो अध्वर्यु —

अयं नोऽग्निर्वरिवस्कृणोतु । अयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन् ।
अयं वाजान् जयतु वाजसाता वयं शत्रून् जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥[24]

यह मन्त्र बोलता हुआ अग्नि में आहुति देकर उस हवन से अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता है । अन्तरिक्ष को स्वाधिकार में करता है । यह यज्ञविष्णु का दूसरा कदम या विक्रम है ।

उपर्युक्त विधि के अनन्तर आग्नीध्रीय के ठीक दक्षिण में सोमाभिषव होता है । यह आग्नीध्र हविर्धान में ही सोमाभिषव होने के कारण हविर्धान मण्डप में जुते शकट के ठीक उत्तर में होता है, अतएव यहीं पंच प्रस्तरों का निक्षेप होता है । वहीं द्रोणकलश एवं चालीस वायव्य ग्रहपात्र भी रख दिये जाते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण बारह चीजों में से तीन तो यहीं रख दी जाती हैं एवं अवशिष्ट को साथ लेकर आगे की ओर जाते हैं । वहाँ आकर उत्तरा वेदि में स्थित आहवनीय के उत्तर भाग में अवशिष्ट वस्तुओं को रख देते हैं । फिर अध्वर्यु प्रोक्षणीपात्र (प्रोक्षणार्थ पानी) को हाथ में उठाता है । सर्वप्रथम वह इध्म का प्रोक्षण करता है । तदनन्तर उत्तरावेदि का प्रोक्षण करता है । इसके बाद प्रतिस्थाता अध्वर्यु के लिए कुशा सौंपता है । अध्वर्यु उस कुशा को वेदि पर रखता है । कुशा की जड़ में वर्तमान गांठ का मुँह पर्व की ओर रहना चाहिये एवं स्थूल भाग पश्चिम की ओर रहना चाहिये । वेदि पर स्थित कुशा का प्रक्षालन किया जाता है ।

कुशा को हस्तगत कर उसकी ग्रन्थि खोलने के अनन्तर ही जो आश्ववाल प्रस्तर तैयार रहता है, उसे हाथ में उठाकर उस कुशा को वेदि पर इकहरा ही अध्वर्यु बिछा देता है । जिस बर्हि को "पुरस्ताद् ग्रन्थि" पर रखते हैं, वह कुशामुष्टि होती है । उसका मूलभाग मौली से बन्धा रहता है । जिस समय वेदि पर कुशास्तरण करना पड़ता है, उस समय उस मौली को खोल दिया जाता है । इस प्रकार एकहरा ही कुशास्तरण होता है ।[25] बर्हि का आस्तरण करके दक्षिण, उत्तर और पूर्व में तीनों कार्ष्मर्यमयी परिधियाँ लगा देते हैं । परिधियाँ लगा कर आहवनीयाग्नि को प्रज्वलित करने के लिये उसमें समिधा डाली जाती है । समिधा डालकर जब अग्नि प्रज्वलित हो जाता है तो उसी समय

---

24. वाजसनेयी संहिता - 5.37
25. खरोत्तरार्ध एकवत् स्तरणं पश्चाद्वोत्तरवेदेः ।
— कात्यायन श्रौत सूत्र,8.162

उरु विष्णो विक्रमस्योरुक्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥[26]

यह मन्त्र बोलकर अध्वर्यु इस तीसरे आहवनीय हवन से यजमान को द्युलोक की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित कर देता है अर्थात् विष्णुयज्ञ के तृतीय कदम या विक्रम से द्युलोक पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेता है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि वैष्णवी ऋचा से यह तीसरी आहुति क्यों दी जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि देवता लोग पृथिवी पर से इस सोम को वध से बचाने हेतु छोटा बनाकर अन्तरिक्षवासी असुरों की आँखों में धूल झोंककर ले गए । जब यह द्युलोक में निरापद स्थान में आ जाता है तो जैसा यह पहले था अर्थात् पृथिवीलोक में जैसे यह स्थूलस्वरूप से था, आज इस वैष्णवी ऋचा से उसे वापिस उसी यज्ञस्वरूप में ले आते हैं ।

इस प्रकार तीसरी आहुति देने के अनन्तर जुहूपभृत् को अध्वर्यु बर्हि पर रख देता है । फिर उसको पानी से ही धोकर सोमराजा को अपने हाथ में उठाकर वह हविर्धान में ले जाता है, क्योंकि यह आज्य तेजस्वरूप होने के कारण वज्र है एवं सोम रेत है । इसी रेत से यजमान दिव्यात्मा बनने वाला है । ऐसी अवस्था में यदि घृत के हाथ सोम के लग जायेंगे तो घृतविद्युत् से सोम की प्रजननशक्ति नष्ट हो जायेगी । धुआं लगने से जैसे गेहूं की प्रजननशक्ति नष्ट हो जाती है, वैसी हालत सोम की हो जाएगी । ऐसा न हो, यह आज्यवज्र रेतवीर्य की शक्ति को नष्ट न कर डाले, इसलिए हाथ धोकर ही सोम को हविर्धानमण्डप में ले जाते हैं ।

हविर्धानमण्डप में जाकर अध्वर्यु दक्षिण हविर्धान शकट के बैठक में पहले कृष्णमृगचर्म बिछाता है । उस पर उस सोमराजा को विराजमान करके "देव सवितरेष ते सोमस्तं रक्षस्व । मा त्वा दभन् ।"27 इस मन्त्र से सोम को सविता देवता के संरक्षण में रखता है । फिर वहाँ से हाथ सरकाते ही अध्वर्यु हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है और सोमदेव से मनुष्य लोक में सम्पत्तिशाली होने की कामना करता है ।

जो दीक्षा लेता है, वह देवताओं का हवि बन जाता है । देवता इसे अपनी दाढ़ में रख लेता है । नीड में सोम रखता हुआ यजमान आज प्रत्यक्ष रूप से यज्ञ की दाढ़ में से निकलता है । हविर्धान यज्ञ का भाग है । यही द्यौ है । इस प्रकार सोम को नीड़ पर रखकर अध्वर्यु हविर्धानमण्डप बहिर्गत हो जाता है । मैं आज वरुणपाश से निकल आया हूँ अर्थात् मेरा बन्धन हो गया था (वह मनुष्य वरुणपाश में बंधा कहलाता है जो कि दूसरे के मुख में रहता है) और आज बंधनमुक्त हुआ हूँ । अब तक

---

1. वाजसनेयी संहिता,5.38
2. वाजसनेयी संहिता,5.39

यजमान सोम की दाढ़ में था, आज प्रत्यक्ष ही उससे मुक्त हो जाता है अर्थात् वरुणपाश में से निकल जाता है ।

तत्पश्चात् हविर्वेदि के आहवनीय के पास आकर "अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा:"[28] यह मन्त्र बोलता हुआ उस आहवनीय में समिधा डालता है । आज यह यजमान परायत्त नहीं है, अपितु स्वात्मसत्ता से यज्ञ कर रहा है । अतएव आज इसका अन्न खा सकते हैं । कारण कि आज दोनों की दाढ़ में से निकलकर यह मनुष्य बन जाता है । यहीं पर यजमान अंगुलि निसर्जन कर देता है ।

इस प्रकार समीक्षाचक्रवर्ती मधुसूदनजी के यागविषयक उपर्युक्त विचारों के आधार पर उनकी धारणा को इंगित करें तो कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि में परमेश्वर से परे जीवों में और कुछ नहीं है । निर्विशेष प्रजापति जगत् का मूल है । ब्रह्म सृष्टिक्षण में सच्चिदानन्द है । रस, बल और अभ्व मूलात्मक सृष्टि त्रिसत्य है । प्राण कभी मन या वाक् से हीन नहीं होता । जो अस्ति है वह सामान्य सत्ता है और जो भति है वह विशेष है । भय, कम्प, स्थिति, विचय - ये मृत्यु के केन्द्र हैं । अमित रस में मितभाव या मात्रा को माया कहते हैं । चिति की इच्छा से जो प्रवृत्ति होती है उसे चेतना कहा जाता है । भुवन, पुर और मण्डल ये पर्यायवाची शब्द हैं । हृदयस्थ ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि और सोम ये अक्षर देवता क्षत्र कहलाते हैं । विरलता का कारण अग्नि और सान्द्रता का कारण सोम है ।[29]

इस प्रकार इन उपरि वर्णित समस्त भावों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक कर्मकाण्ड की समस्त प्रक्रियाएँ किसी न किसी रहस्य से अथवा किसी कारण (हेतु) से अवश्य जुड़ी हैं अर्थात् वैदिक कर्मकाण्डीय विधि निरर्थक नहीं होती और यही वैलक्षणय वेद को विज्ञान से जोड़ने का आयास करता है तथा इसी वेद-विज्ञान के आयास को पल्लवित कर पं. ओझा ने वैदिकविद्या के क्षेत्र में एक नया क़दम रखा है ।

---

28. वही,5.40
29. सोमेन प्रबलेन प्रत्यवरोधादृतंभरोस्त्यग्निः ।
तत्र तदग्निस्वापाद् विरलत्वं सोमतो निहितम् ॥
— मधुसूदन ओझा, ब्रह्मविनय, परात्परानुवाक्, 260 कारिका

पितृ समीक्षा का अनुशीलन

डॉ. आर. टी. व्यास*

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च ॥ गीता.7.17

मैं इस जगत् का पिता हूं । माता, धाता और पितामह भी मैं ही हूँ । जो सबसे पावन ज्ञेय (ब्रह्म) है, ॐकार, ऋक्, साम और यजुष् भी मैं हूं ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाताः येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ गीता 10.6

पूर्व में (सृष्टि से पूर्व) सात महर्षि और चार मनु, जिनकी सत्ता (भाव) मुझसे भिन्न नहीं है, मेरे मनसे उत्पन्न हुए । विश्व में सारे, प्राणी इन्हीं की प्रजा हैं ।

हम अपने मृत पितामह या पिता का नाम जानते हैं, किन्तु हमारी पितृ-परम्परा में हुए सब पुरुषों का नाम नहीं जानते । हम यह भी नहीं जानते हैं कि हमारा आदि पिता कौन था । बिना पिता के सन्तान का होना संभव नहीं है, अतः हमारी बुद्धि यह निर्णय देती है कि इस सन्तानपरम्परा का कोई न कोई आदिपुरुष अवश्य रहा होगा यह प्रश्न बना रहता है । इस कूट प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण गीता में बताते हैं कि इस जगत् के चराचर सब भावों के जो भी जनक मनुष्य बुद्धि से जाने जाते हैं, उन सबका जनक (आदिकारण), उन सबकी जननी तथा उपादानकारण मैं हूँ । श्रीकृष्ण का यथार्थ स्वरूप एक अद्वितीय, अनन्त सत्ता मात्र है जो अपने होने के विषय में समान है अर्थात् जो चिद्रूप है, एवं अपने एकमात्र और अनन्त होने की समानता से निष्पन्न जो पूर्णता का भाव है, उसका अतुलनीय आनन्द भी उसमें निहित है । उस सच्चिदानन्दघन पूर्ण पुरुष ने अपने मनसे सात महर्षियों को एवं चार मनुओं को उत्पन्न किया । उन्हीं की प्रजा हम सब हैं । यदि हमें अपने एवं हमारे पितरों के स्वरूप को जानना है तो मूल सत्ता के स्वरूप को जानना पड़ेगा तथा ऋषि एवं मनु के स्वरूप को भी जानना पड़ेगा । इस विषय का वेद में सविस्तर प्रतिपादन भी किया गया है, उसकी सहायता से तथा पूरे वैदिक साहित्य का आजीवन गंभीर अनुशीलन करके पण्डित श्री मधुसूदन ओझा द्वारा प्रणीत पितृ-समीक्षा शीर्षक ग्रन्थ की सहायता से यथासंभव इसे समझने का प्रयत्न हम करेंगे ।

सर्वप्रथम वेद क्या है एवं मूल सत्ता का स्वरूप कैसे है इस विषय का स्पष्ट रूप से हृदयङ्गम कर लेना आवश्यक है । जानने के अर्थ वाले "विद्" धातु से निष्पन्न वेदशब्द का अर्थ ज्ञान है । ज्ञान का स्वरूप निश्चित करने के हेतु ज्ञाता और ज्ञेय के स्वरूप का निर्धारण पहले करना पड़ेगा । हमारा शरीर जिसका अल्प अंश है वह परिदृश्यमान यह समस्त भौतिक विश्व का विस्तार इदंतया ज्ञान का विषय होने से "ज्ञेय" कहा जा सकता है, एवं उसे जानने वाले को "ज्ञाता" कहा जाता है । इन दोनों

* नियामक, प्राच्यविद्या मन्दिर, बड़ौदा

ज्ञाता और ज्ञेय के स्वरूप का निर्धारण करके ज्ञान के विशुद्ध स्वरूप का यथावत् प्रतिपादन करने वाले साहित्य को वेद कहा जाता है। इसलिये वेद सृष्टि के मूल कारण को बताकर, उससे सृष्टि प्रक्रिया किस तरह विकसित हुई, एवं उसे जानने वाले का स्वरूप कैसा है इत्यादि विषयों का भी प्रतिपादन करता है। प्रसंगवशात् यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि ज्ञान के स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयत्न पश्चिम के देशों में भी हुआ है, परन्तु वहाँ ज्ञेय पदार्थों का विश्लेषण, परिगणन, वर्गीकरण करके उसके आधार पर जो ज्ञान निष्पन्न होता है, केवल उसी को व्यवस्थित ज्ञान या विज्ञान कहने की परिपाटी बनी है। कॉपर्निकस, न्यूटन, गैलिलियो एवं देकार्त आदि विचारकों ने जिस प्राकृतिक विज्ञान का विकास किया है उसमें संपूर्ण प्रकृति को विषय Object रूप में ही गृहीत मानने का नियम है, अत: इस प्रक्रिया में ज्ञाता Subject को विचार का विषय बनाने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया गया। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है ज्ञान का विशुद्ध स्वरूप केवल उसकी एक कोटि को निर्धारित करने से नहीं जाना जा सकता। उसकी दूसरी कोटि अर्थात् ज्ञाता का स्वरूप निर्धारण भी अनिवार्य है। किन्तु इस अनिवार्यता को अस्वीकार करके चलने वाले पश्चिम के प्राकृतिक विज्ञान की एकांगिता तथा उसके परिणाम स्वरूप मनुष्य एवं विश्व के यथार्थ स्वरूप को समझने की उसकी अक्षमता का अहसास दुनिया भर के गंभीर चिन्तकों को हो रहा है। यह एकांगिता का दोष सौभाग्य से वैदिक चिन्तन धारा में प्रारंभ से ही नहीं रहा। यही कारण है कि वेद मनुष्य के एवं विश्व के यथार्थ स्वरूप का निर्धारण करने में सफल रहा है और इसलिये पश्चिम के भी निष्पक्ष एवं तटस्थ चिन्तकों में यह मान्यता दृढ़ होती जा रही है कि वैदिक विज्ञान साङ्ग एवं संपूर्ण होने से मनुष्य मात्र के आदर का पात्र है तथा उसकी बताई दिशा में चलने से ही मानवता का भविष्य सुरक्षित-एवं मंगलमय हो सकता है। यदि एक विश्व संस्कृति साकार होगी तो वेदविज्ञान उसका आधार बनने की क्षमता रखता है, यह बात आगे के विवरण से स्पष्ट हो जायेगी।

हमने देखा कि वेद शब्द किसी ग्रंथ विशेष की ओर संकेत नहीं करता, उसका अर्थ है ज्ञानदेह (Body of knowledge) जो ज्ञेय और ज्ञाता दोनों के यथार्थ स्वरूप को हमारे संमुख प्रकट कर देता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ज्ञाता और ज्ञेय इन दो शब्दों का किसी व्यक्ति विशेष या प्राणी विशेष और उसे दिखाई देने वाले विश्व से तात्पर्य नहीं है, बल्कि कारण कार्य संघात अर्थात् व्यक्त या अव्यक्त, चर या अचर रूप में गृहीत होने वाले समस्त पदार्थ ज्ञेय हैं, एवं उनकी समष्टि को अपने स्वरूप मूल नित्य ज्ञान में समाविष्ट करके स्थिति करने वाला एकमात्र अविकारी द्रष्टा ज्ञाता है। आगे यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि एक ही द्रष्टा कैसे अनेक बनता है, एवं ज्ञेय के विभिन्न स्तरों में अनुप्रविष्ट होकर स्वरूप से असीम होता हुआ भी कैसे सीमित हो जाता है। प्रसंगवशात् यह भी बता देना उचित होगा कि वैदिक परम्परा में अनेक में निहित एक को जानना ज्ञान कहा जाता है एवं एक से कैसे यह अनन्त विस्तारवाला विश्व निष्पन्न हुआ इस विषय की यथावत् प्रक्रिया को बता देने वाला विज्ञान कहलाता है। वैदिक परम्परा के अनुसार वेदरूप ज्ञान स्वत: प्रमाण, अनादि और नित्य है। ईश्वरादि किसी पुरुष विशेष द्वारा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, अत: उसे अपौरुषेय कहा जाता है। ईश्वर

के अस्तित्व की सिद्धि ज्ञानाधीन है, ज्ञान की सिद्धि ईश्वराधीन नहीं है। इस विलक्षण विधान को तर्क से इस प्रकार सिद्ध किया जाता है। ईश्वर ने यदि किसी विशेषसमय ज्ञान को उत्पन्न किया तो उसे उत्पन्न करने के पहले ईश्वर में ज्ञान था या नहीं? इसका प्रामाणिक उत्तर यही हो सकता है कि उसमें ज्ञान था। क्योंकि बिना ज्ञान के किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं बताई जा सकती। इस प्रकार ज्ञान को अनादि मानना ही पड़ता है। इसलिये वैदिकी निष्ठा ज्ञान और ईश्वर को अभिन्न मानने की है। पुराणों में इसी कारण ईश्वर को "विशुद्धज्ञानदेह" कहा गया है। इस दृष्टि से ज्ञान मूलसत्ता जो कि चितिरूपा भी है, उससे भिन्न नहीं। केवल "सच्चित्" को हम पहले "प्रज्ञान" कह चुके हैं, इसका यही रहस्य है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान तत्त्वविषयक नहीं होता, तत्त्वस्वरूप होता है, अर्थात् ज्ञान साधन रूप न होकर साध्य रूप ही होता है। किन्तु ज्ञान के ऐसे लोकोत्तर स्वरूप को समझने की क्षमता रखने वाले विरल होते हैं। साधारण लोक-व्यवहार में ज्ञान को इस तरह साध्यरूप में नहीं समझा जाता, बल्कि साधनरूप में गृहीत होता है, जिससे अनादिनिधन परब्रह्म ज्ञेय के रूप में जाना जाता है। परन्तु ऊपर बताये गये विधान के अनुसार स्वयं पर ब्रह्म भी ज्ञानस्वरूप ही पाया जाता है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण गीता में ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञानगम्य की एकता बताते हुए कहते हैं कि ये तीनों सब के हृदय में हमेशा निविष्ट रहते हैं —

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥[1]

इस तरह अन्तिम विश्लेषण में ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य अभिन्न ही प्रमाणित होते हैं। इसी कारण भगवान श्रीकृष्ण ने गीता.13.7 से 11 श्लोकों तक अमानित्व, अदंभित्व आदि से प्रारंभ करके नित्य अध्यात्मज्ञान, निष्ठा एवं तत्त्वज्ञान के अर्थ का अर्थात् परमतत्त्वरूप ब्रह्म का नित्य अनुसन्धान तक बीस सद्गुणों को (ज्ञान के साधनरूप होने से) "ज्ञान" कहा है और इसके विपरीत अभिमान, दंभ इत्यादि दुर्गुणों को "अज्ञान" बताया है। पश्चिम की ग्रीक विचार परंपरा में भी सोक्रेटीसने "Knowledge is virtue" कहकर सद्गुणों को ही ज्ञान रूप बताया है। ग्रीक शब्द "ग्नोसीस" भी "ज्ञा" धातु से निष्पन्न हुआ है और ईश्वरीय ज्ञान में अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

वेद सृष्टि के मूल तत्त्व को "सत्" के नाम से अभिहित करता है। कुछ चिन्तकों ने असत् से सृष्टि का प्रादुर्भाव माना था[2], किन्तु तर्कसंगत विचार से यह देखा गया कि असत् से सत् का आविर्भाव होना संभव नहीं है, अत: यह जगत् उत्पन्न होने से पूर्व सत् ही था, जो एकमेवाद्वितीय था।[3] इस एक सत् को हम अव्यक्त, अनन्त सत्ता के रूप में कल्पित कर सकते हैं, लेकिन यह सत्ता

1. भगवद्गीता, 13.17

2. देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत। ऋग्वेद, 10.72.2

3. कथमसतः सज्जायेतेति।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

— छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.1-2

जड़ पत्थर की सत्ता जैसी नहीं थी, बल्कि अपने अस्तित्व के विषय में पूर्णतया समान थी, और इसी कारण से आनन्दमय भी थी । एक केवल सत्ता का अपने विषय में समान होना ही किसी प्रकार के ज्ञान की अनिवार्य पूर्व अवधारणा है । अन्यथा किसी में, किसी जगह ज्ञान उत्पन्न होने की संभावना या ज्ञान की भूमिका ही न बन पाती । इसी केवल "सच्चित्" भाव को वेद "प्रज्ञान" संज्ञा देता है, उसी में से अहं विषयक और इदंविषयक ज्ञान का प्राकट्य होता है । गाढ़ निद्रा या बेहोशी के अनन्तर मनुष्य में अहंविषयक ज्ञान एवं इदंविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उन सबका मूल आधार यह प्रज्ञान है । इससे यह सिद्ध होता है कि निद्रा या बेहोशी का अज्ञान एवं तदनन्तर उत्पन्न होने वाले आत्मविषयक और वस्तुविषयक ज्ञान दोनों आधारहीन नहीं हैं, बल्कि वे दोनों प्रज्ञानाधृत हैं ।

अब प्रश्न यह होता है कि जो केवल एक, अद्वितीय सत्ता है और जब कि वह अपने एकत्व के विषय में पूर्णतया समान है, तो वह अनेक रूपों में अभिव्यक्त कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि मूल तत्त्व रूप सत्ता जो कि चेतना भी है, अपने ही संकल्प से अपने असीमित चेतना वाले स्वरूप को अचेतना के आवरण से ढक देती है और सीमित करती है । अपने में रही हुई इस अचिन्त्य शक्ति , अमेय को मापन योग्य बनाने के कारण, माया कहा जाता है । वास्तव में किस तरह मूल सत्ता की शक्ति स्वयं को अमेय से मेय बनाती है यह विषय मानवीय बुद्धि में ठीक-ठीक उतर नहीं सकता, इसी से इसको अनिर्वचनीय कहकर ही संतोष करना पड़ता है । इसका कारण यह है कि हम सान्त में प्रतिष्ठित रहकर अनन्त को जान लेना चाहते हैं जो कि संभव नहीं है, सान्त के या सीमितता के घेरे से निकलकर यदि हम अनन्त बन जाते हैं तो यद्यपि हमारा यह अलग व्यक्तित्व शेष नहीं रह पायेगा, फिर भी हम अनन्त को किस तरह सान्त बनाते है इस विषय को भली-भाँति स्वानुभव के बल पर ही जान सकेंगे, इसके पूर्व यह विषय हमारी बुद्धि के लिये समस्या ही बना रहेगा । यह विषय न सुलझ सकने वाली समस्या इस प्रकार बनी रहती है, जिस तरह हर रोज अनुभवगोचर होने वाला स्वप्न का विश्व एवं सुषुप्ति की अचेतना हमारे अपने स्वरूप के अंगभूत हैं फिर भी हमारी समझ से बाहर हैं । (यदि हम सूक्ष्म समानता को साथ में लिये हुए स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था में प्रवेश करने की युक्ति (योग से शब्द का एक अर्थ युक्ति भी है) जान लें तो स्वप्न के द्रष्टा-दृश्य को तथा सुषुप्ति के आवरण के नीचे छिपी हुई अनन्त चेतना को यथावत् जानकर मोहमुक्त हो सकते हैं । हमारे हृदय में अभेद्य चेतना, उसे ढ़कने वाली अचेतना एवं जिस क्रम से उसमें से अनन्त भेदपूर्ण विविध भाव प्रकट होते हैं, उसकी सारी प्रक्रिया भी विद्यमान है, अत: हम यदि हमारे अस्तित्व की गहराइयों में प्रवेश पाकर उसकी आधार भूत सत्ता को जान लें तो संपूर्ण सृष्टि की "सत्" से निष्पन्न होने की प्रक्रिया को भी जान सकते हैं, अतएव वेद का प्रमुख आदेश "आत्मानं विद्धि" अपने आपको जानो - है । जो व्यक्ति अपने आपको बिना जाने ही जगत् को जानने का यत्न करता है, वह कतई सफल नहीं हो सकता । आधुनिक विज्ञान का मूल दोष यही है कि वह मनुष्य की पूरी बनावट को बिना जाने ही, उसे दिखाई देने वाले विश्व को पूरी तरह जान लेने का प्रयत्न करता है । जब कि वेद का का मुख्य प्रतिपाद्य

विषय आत्मा है,और वेद की प्रतिज्ञा है कि हमको जानने पर सबको जाना जा सकता है - "ऐकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति", अर्थात् सृष्टि की संपूर्ण विविधता और विशेषता को आत्ममुखेन जाना जा सकता है वस्तुमुखेन नहीं, क्योंकि आत्मा ही वह सद्वस्तु है जो सबका मूल कारण है, जिसे जानने से उसका कार्य रूप में व्यक्त स्वरूप भी जान लिया जा सकता है —

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं ।
मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवेकं जानथ आत्मानमन्वा वाचो विमुञ्चथ
अमृतस्यैष सेतुः ॥[4]

"जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष (तीनों लोक) तथा प्राणरूप सब इन्द्रियों के साथ मन भी पिरोया हुआ है, उस एक आत्मा को ही जानो अन्य सारी बातें छोड़ो, क्योंकि अमरता को प्राप्त कराने वाला सेतु वही है ।"

वेद का उद्घोष यही है कि आत्मा से मन, प्राण, इन्द्रियां एवं उनके विषय रूप में दीखने वाले तीनों लोक उत्पन्न होते हैं, अतएव उस सच्चित्सुखस्वरूप आत्मा को जानने का यत्न करना चाहिये । जैसे सुवर्ण को जानने से उसमें से बने हुए विभिन्न आभूषणों का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही सृष्टि के मूल रूप सच्चिदानंद आत्मा को जानने से सारी सृष्टि का ज्ञान हो सकता है । बृहदारण्यक उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि वीणा के शब्द को यदि पकड़ना है तो वीणा को अथवा वीणावादक को पकड़ना चाहिये, क्योंकि आकाश में, फैलने वाले वीणाध्वनिको बाह्य आकाश में नहीं पकड़ा जा सकता[5], वैसे ही जो सब द्रष्टा, दृश्य भाव से फैला हुआ विश्व है, उसे बाह्य आकाश में नहीं पकड़ा जा सकता, बल्कि उसके मूलरूप में रहे हुए आत्मा को जानने[6] से सर्वज्ञता तथा अमृतत्व का रहस्य पाया जा सकता है ।

पंडित मधुसूदन ओझा ने इस अनन्त मूलसत्ता को "रस" संज्ञा दी है, क्योंकि वह आनन्दरूप है तथा समुद्र की तरंगें जलरूप में उसी में से उत्पन्न होकर फिर उसी में विलीन होती हैं, वैसे ही इस अव्यक्त मूल चेतन-सत्ता में से असंख्य ब्रह्माण्ड अर्थ आनन्द है, जल भी है, इस समानता के कारण मूल सत्ता को रस कहना उचित भी है । इसमें रही हुई अनिर्वचनीय शक्ति को उन्होंने "बल" संज्ञा दी

---

4. मुण्डकोपानिषद्,2.2.5

5. स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाल्या छन्दाञ्छवन्तुयादु ग्रहणाय,
वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ।
- बृहदारण्यक उपनिषद्,2.4.7

6. आत्मनो वा अरे दर्शनेन,श्रवणेन,मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।— वही 2.4.5.

है, क्योंकि एक से अनेक बनने की संकल्प की शक्ति हो, चाहे अव्यक्त से व्यक्त होने की शक्ति हो, सारी शक्ति बलस्वरूप ही हुआ करती है, तथा स्वयं बल एकरूप होता हुआ भी क्रम से तीन, पांच, छब्बीस एवं शत-सहस्त्र-अनन्त रूपों में अपने ही से प्रकट हुए अग्रिम बल का स्व में चयन करता हुआ, अन्नाद तथा अन्न, अग्नि तथा सोमरूप से सृष्टि स्वरूप में प्रकट होने की क्षमता रखता है, इस कारण भी उसे बल कहना युक्ति युक्त लगता है।

अव्यक्त, निर्विशेष रस जब अभिन्न रूप में अपने में रही हुई शक्ति से अनन्त से सान्त होकर परिधि में बँध जाता है तब वह परात्पर न कहला कर पुरुष कहलाने लगता है, क्योंकि परिधिरूप पुर में सीमित होकर, सिमट कर सोया हुआ सा प्रतीत होने के कारण वह पुरुष कहा जाता है। पुर भी भिन्न-भिन्न आकार के होते हैं, एवं एक से प्रारंभ करके सहस्त्र, असंख्य हो जाते हैं, उनमें आने-जाने की पुरुष की क्षमता के कारण उसे पक्षी, हंस अथवा सुपर्ण भी कहा जाता है।[7] इस पुरुष की तीन कलाएँ हैं, जिन्हें अव्यय, अक्षर और क्षर कहा जाता है, और वे क्रमशः मनोमय, प्राणमय तथा वाङ्मय होती हैं। मन ज्योतिर्मय होता है एवं इच्छा शक्ति-प्रधान होती है। प्राण स्पन्दन रूप, क्रिया शक्ति प्रधान होता है, तथा वाक् (जो कि आकाश गुण होने से भौतिक आकाशादि पंचभूतों का मूल कारण है) प्रतिष्ठारूप तथा स्थिति शक्ति प्रधान है। अव्यय पुरुष की पाँच कलाएँ होती हैं - आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् इसी प्रकार अक्षर पुरुष की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम तथा क्षर पुरुष की प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न पाँच-पाँच कलाएँ होती हैं। इन पन्द्रह कलाओं के साथ परात्पर को भी कला के रूप में मानकर कुल मिलाकर सोलह कलाओं वाला - षोडशकल या षोडशी - आदिपुरुष प्रजापति का शरीर बनता है। अर्थात् एक ही मूल, अव्यक्त सत्ता अपनी शक्ति से क्रमशः पन्द्रह कलाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है - सूक्ष्म से स्थूल होती जाती है।इस प्रक्रिया को विज्ञान की दृष्टि से कार्यकारण सम्बन्ध भी कह सकते हैं। यहाँ इस तथ्य को स्मरण में रखना आवश्यक है कि सत्ता एक ही है, कारण की सत्ता ही कार्य की सत्ता के रूप में परिणत होती है, अतएव एक ही सत्ता अपने स्वरूप से च्युत न होकर अपनी विलक्षण शक्ति से व्यक्त, व्यक्ततर सत्ताओं के रूप में प्रकट होने से अद्वैत सिद्धान्त की हानि नहीं होती। यह सृष्टिक्रम है। जैसे मूल सत्ता में स्वसत्ता से संपूर्ण सृष्टि को प्रकट करने की अचिन्त्य, विलक्षण शक्ति है, उसी प्रकार प्रकट हुई सृष्टि को अपने में लीन करने की क्षमता भी साथ में विद्यमान है। इन दोनों शक्तियों के आधार पर नित्य सृष्टि तथा नित्य प्रलय सतत् होते रहते हैं —

---

7. पुरुश्चक्रे द्विपदः पुरुश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्॥
— वही, 2.5.18

गता: कला: पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
भूतानि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति[8] ॥

यह उलटा लयक्रम या प्रतिसंक्रम कहलाता है । सृष्टि क्रम में शक्ति व्यक्त होने की ओर उन्मुख रहती है, प्रतिसंक्रम के समय वही शक्ति पुन: अव्यक्त हो जाने की ओर उन्मुख रहती है । पूर्वक्रम में बल पर बल की चिति या चयन होता जाता है, परिणामस्वरूप असंख्य बलों में परस्पर गाँठ पड़ती जाती है, अतएव इसे बन्धनक्रम भी कह सकते हैं, क्योंकि बिना दृढ़ बन्धन के व्यक्त सृष्टि टिक नहीं सकती, तथा उत्तरक्रम में इससे उलटे व्यक्त हुए बल छूटते चले जाते हैं, अतएव इसको मोक्षक्रम कह सकते हैं । आगे बताई हुई प्रक्रिया के अनुसार शक्ति और शक्तिमान में भेद नहीं हो सकता यह तथ्य यदि ध्यान में रखा जाय, तो यथार्थ दृष्टि से शक्ति की स्वतंत्र सत्ता न होने से शक्तिमानी मूलसत्ता की मुक्त स्थिति स्वाभाविक ही माननी पड़ती है, अर्थात् मूल सत्ता सृष्टिरूप में व्यक्त होती हुई दिखाई पड़ने पर भी सर्वथा स्वभाव में मुक्त ही रहती है । परन्तु हम यहाँ सृष्टि क्रम का आश्रय करके विचार कर रहे हैं, इसलिये मुक्ति प्रक्रिया का विचार आगे यथावसर किया जायेगा ।

ऊपर बताया गया आदि पुरुष का - प्रजापति का - षोडशकल शरीर सूक्ष्मतम होता है । उससे तीन धाराएँ निकलती हैं, प्रथम आधिदैविक, जिसमें आनन्द तथा विज्ञान से आगे प्राणनामक कला, ऋषि तथा देवरूप सूक्ष्म भावों में परिणत होती है, एवं उसी सी आकाशगुण वाक्रूपा कला आकाशादि पाँच महाभूतों की सूक्ष्म तन्मात्रा के रूप में परिणत होती है उसी से आधिभौतिक तथा उनके अंशों से प्रत्येक प्राणी के भिन्न-भिन्न शरीर रूप पिण्ड उत्पन्न होते हैं, उसका बाह्याभ्यन्तर विस्तार आध्यात्मिक कहा जाता है । इस प्रक्रिया के अनुसार असंख्य विराट् पिण्ड या समष्टिपिण्ड तथा व्यष्टि-पिण्ड अथवा प्राणी शरीर उत्पन्न होते हैं । उनमें अभिमान करने वाले चैतन्य को क्रमश: ईश्वर तथा जीव कहा जाता है ।

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि जितने भी ब्रह्माण्ड तथा प्राणियों के शरीर रूप पिण्ड उत्पन्न होते हैं, उन सबमें अव्यय, अक्षर तथा क्षर की ऊपर कही गई सोलह कलाएँ निविष्ट रहती हैं । क्षर पुरुष की जो प्राण नाम से कही गई कला है, उसका प्रथम रूप ऋषि ही है । इस बात को शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है —

---

8. मुण्डकोपनिषद्,3.2.7

"असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहुः किं तदसदासीदिति ऋषयो वाप तेऽग्रेऽसदासीत् । तदाहुः केते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः[9]" ।

"(उत्पन्न होने से) पहले यह जगत् असत् (अव्यक्त) था । यह असत् क्या था ? ऋषि ही पूर्व में असत् रूप में विद्यमान थे । ये ऋषि कौन थे ? प्राण ही ऋषि थे ।"

इन्द्रियगम्य न होने से सृष्टि के पूर्व में विद्यमान् ऋषिप्राणों को असत् कहा गया है । इन्हीं ऋषिप्राणों का क्रमशः व्यक्त, व्यक्ततर रूप से विकास होने पर इन्हीं से पितृ-प्राण, देवप्राण, असुरप्राण, गन्धर्व प्राण तथा अन्त में पशु प्राण उत्पन्न होते हैं । बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने राजा जनक की यज्ञ सभा में उपस्थित सब याज्ञिकों एवं विद्वानों के सम्मुख एक ब्रह्मरूप प्राण को ही मूल देव[10] कहा है, इसी की विभूति के रूप में तीन देव - पृथ्वी में अग्नि, अन्तरिक्ष में इन्द्र या वायु तथा द्युलोक में सूर्य-प्रकट होते हैं । तदनन्तर इन तीन देवों के अंशों से पृथ्वी में आठ वसु, अन्तरिक्ष में सूक्ष्म वायु रूप एकादश रुद्र तथा द्युलोक में द्वादश आदित्य मिलकर 31 तथा मूल प्राणरूप ऊर्जा तथा उससे प्रकट हुई रयि (Matter) इन दोनों को जोड़कर कुल तैतीस देव होते हैं । इन्हीं के विस्तार से विश्व में सहस्त्रशः, कोटिशः, दैवी तत्त्व मिलकर सब प्राणियों को उत्पन्न करते हैं ।

इसी विषय का निरूपण करते हुए मनुस्मृति में लिखा है—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः[11] ॥

"हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से मनु, मनु से मरीचि आदि ऋषि उत्पन्न हुए, उन ऋषियों के पुत्र पितृगण हैं ।"

मूलसत्ता जब बृंहणभाव को प्राप्त होने की ओर उन्मुख होती है तब, अपनी अनन्तता को घेरे में बाँधकर सीमित हो जाती है । तब उसमें अपने अलग होने का भाव दृढ़ हो जाता है, यही मूल पूर्णाहंभाव ब्रह्म कहलाता है । उसमें पूरी सृष्टि के तत्त्व ओजस्वीरूप में विद्यमान होने से उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है । उसमें से सर्वप्रथम संकल्प स्वरूप मन उत्पन्न होता है, वही मनु है, तथा उसमें से सूक्ष्म प्राणरूप ऊर्जायें उत्पन्न होती हैं, जिन्हें क्रमशः मरीचि[12], वसिष्ठ, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह एवं क्रतु नामक ऋषि कहा जाता है । तदनन्तरः—

9. शतपथ ब्राह्मण,6

10. कतम एको देव इति । प्राण इति । स ब्रह्म त्यदित्माचक्षते ।
महिमान एवैषामेते, त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः . अष्टौ वसवः एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।
- बृहदारण्यक उपनिषद्,2.7.2.7

11. मनुस्मृति,3.174

12. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । स इमान् लोकानसृजत्, अम्भोमरीचिर्मर ।
अदोदम्भिः परेण दियं, द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरः याः अद्यस्तात् ता आपः । सोऽदूभ्यः पुरुषं समुद्धृत्तयामूर्च्छयत् । ऐतरेय उपनिषद्,1.1.1

ऋषिभ्य: पितरो जाता: पितृभ्यो देवमानवा: ।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वश:[13] ॥

"ऋषियों से पितृ उत्पन्न हुए, पितृओं से देव तथा मानव हुए । देवों से चराचर संपूर्ण जगत् अव्यक्त से व्यक्त होने के आनुपूर्वी क्रम से प्रकट हुआ ।"

यह सारा सृष्टिक्रम स्पन्दनात्मा प्राण के स्पन्दनरूप[14] स्वाभाविक कार्य के परिणामस्वरूप, बलों पर बलों के, क्रियाओं के साथ क्रियाओं की चिति-चयन से बंधने वाली ग्रन्थियों से अव्यक्त स्थिति से व्यक्त, व्यक्ततर स्थिति को प्राप्त होकर इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो सके ऐसे रूप में प्रकट होने की प्रक्रिया है ।

मानव शरीर इन ऋषि प्राणों एवं देव प्राणों का संघातरूप पिण्ड है । मरीचि आदि सात ऋषि प्राण, प्रकाशन, विकसन, संघटन, प्रसरण, उत्क्षपेण, संयोजनादि विभिन्न गुणधर्म वाले होते हैं । वे अलग-अलग रहकर सृष्टि करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं । अतएव उन्होंने एक स्थान में मिलकर, सात से एक हो कर सृष्टि प्रक्रिया सिद्ध की[15] । ये भिन्न गुण धर्म वाले, भिन्न क्रियाओं को सम्पन्न करने वाले सात ऋषि-प्राण ही इन्द्रियाधिष्ठाता देवरूप में मनुष्य शरीर में, विशेषतया मस्तक में स्थित इन्द्रियों की विभिन्न विषयों को ग्रहण करने की क्रियाएं सम्पन्न करते रहते हैं । बृहदारण्यक में यह विषय स्पष्ट रूप से निरूपित हुआ है —

"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न - ,
स्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तस्यासत ऋषय: सप्ततीरे
वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥

अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इति, इदं तच्छिर एव चमस ।... तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपम् । प्राणानेतदाह । तस्याऽऽसत ऋषय: सप्त तीरे इति प्राणा वा ऋषय:... । इमावेव गौतम भरद्वाजौ... । इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी... । इमावेव वसिष्ठकश्यपौ. . । वागेवात्रि: ।"[16]

---

13. मनुस्मृति,3.201

14. यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राणे एजति नि:सृतम् । कठोपनिषद्

15. स योऽयं मध्ये प्राण:, एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यतैन्ध. . त रद्धा सप्त नाना पुरुषानसृजन्त ।
तेऽब्रुवन् न वा इत्थं शक्ष्याम: प्रजनयितुमिमान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवाम । शतपथ ब्राह्मण,6.1.1

16. बृहदारण्यक उपनिषद्,2.2.3.4

"नीचे की ओर मुख वाले तथा ऊपर की ओर बुध्न वाले चमस में विश्व रूप यश निहित है। उस चमस की धार पर सात ऋषि रहते हैं, आठवीं वाणी ब्रह्म से ज्ञान रूप सम्पर्क रखे हुए है। यह नीचे मुखवाला चमस, हमारा यह मस्तक ही है, उसमें विश्वरूप यश जो निहित है, वह प्राण ही है। उसकी धार पर सात ऋषि निवास करते हैं, वे प्राण ही हैं। ये दो (कान) गौतम तथा भरद्वाज हैं ये दो (नेत्र) विश्वामित्र एवं जमदग्नि हैं। ये दो (नासिकायें) वसिष्ठ और कश्यप हैं। यह वाक् (जिह्वा) अत्रि है।

ये सात ऋषिप्राण इस तरह एक स्थान में एकत्र होकर सर्जन प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में समर्थ होते हैं। यत्न करते रहने का अर्थात् सदैव क्रियाशील बने रहने का इनका मूल स्वभाव है, क्योंकि प्राण कभी निस्पन्द, निष्क्रिय नहीं रहता। पुनः ये इन्द्रियाँ द्योतनशील या दैवन-प्रकाशन-करने वाली होती हैं, अर्थात् अपने अपने विषयभूत पदार्थों को प्रकट करना, ग्रहण करना इनका कार्य है, इसलिये इन्हें "देव" भी कहा जाता है। प्रकाशन करने की शक्ति देव प्राणों का स्वभाव है।

इन देवनशील देव प्राणों के अंशों से उत्पन्न हुई इन्द्रियाँ, इन्हीं के अनुग्रह से विषय रूप में अवस्थित संपूर्ण विश्व को प्रकट करती हैं। वैदिक सिद्धान्त यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध ये पाँच विषय एवं उनको ग्रहण करने वाली श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच इन्द्रियाँ साथ-साथ प्रकट होती हैं। हमने ऊपर बताया है कि मूलसत्ता से जब अहंभावरूप ब्रह्मा प्रकट होते हैं, उनके साथ ही, उनसे नित्य जुड़ी हुई वेदरूपा वाक् प्रकट होती है। तमोगुणात्मक अहंकार से शब्दगुणवाली आकाश की सूक्ष्म तन्मात्रा सर्वप्रथम उत्पन्न होती है। अहंकार से तदनन्तर वायु, तेज, जल एवं पृथिवी की तन्मात्राएँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं। सत्त्वगुणविशिष्ट अहंकार से शब्दादि तन्मात्राओं से उत्पन्न हुए आकाशादि विषयों को प्रकाशित करने वाली श्रोत्रादि इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार ग्राह्य-ग्राहक अर्थात् विषय-इन्द्रिय का द्वन्द्वभाव साथ-साथ एक ही मूल कारण से उत्पन्न होता है। इस लक्ष्य को स्वीकार करने से, मैटर प्रथम उत्पन्न हुई या माइन्ड, इस प्रश्न को लेकर चलने वाली दो धाराएँ रिअलिझम तथा आइडियलिझम तथा उनका निरर्थक विरोध वैदिक चिन्तन परम्परा में उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसमें यह भी स्पष्ट होता है कि वेद रूपा वाक् सर्जन का आदि कारण है। शब्दशास्त्र का तत्त्वचिन्तन इसी मूल सिद्धान्त पर आधृत है। भर्तृहरिके रचे हुए "वाक्यपदीय" ग्रन्थ का प्रथम श्लोक इस बात को स्पष्ट कर देता है —

---

17. अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्।
चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।
— ऐतरेयोपनिषद्, 1.2.5

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[18]

"अनादि, अनन्त ब्रह्म अक्षर एवं शब्दतत्वरूप है । वही अपने विवर्तरूप अर्थ भाव से प्रकट होता है, जिससे सारे जगत् की प्रक्रिया सिद्ध होती है ।"

ऋक्, यजु: सामरूप वेद सृष्टि की संरचना में प्रयुक्त होने वाले मूल तत्त्व हैं, अर्थात् ऋक् या शब्द से पृथिव्यादि पदार्थों की मूर्त्ति अथवा आकार बनता है, यजुष् इन पिण्डों की अवकाश में निरन्तर गति का कारण है, एवं सारूप तेजोमंडल के कारण इन सारे पिण्डों या मूर्तियों का प्रत्यक्षीकरण सिद्ध होता है, यह वैदिक विज्ञान का आधार भूत सिद्धान्त है —

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहु:
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्वं तेज: सामरूपं हि शश्वत्
सर्वं हृदि ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥[19]

"सब प्रकार की मूर्त्तियाँ (आकार) ऋक् से उत्पन्न होतीहैं । सारी गति यजुष् के कारण उत्पन्न होती है । सारा तेज़ सामरूप है । यह सब (जगत्) ब्रह्माने अपने हृदय में (मन से) उत्पन्न किया है ।"

इस विषय को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये शतपथ ब्राह्मण में सूर्यमण्डल का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है । सूर्य सब प्रजाओं का प्राण है - आत्मा है - "प्राण: प्रजानामुदयायेष सूर्य:" । तथा "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" - यह बात तो प्रसिद्ध है । सूर्य की मूर्त्ति ऋक् है, उसकी किरणों का प्रसार जहाँ तक होता है वह साम है, तथा उन दोनों के मध्य में जो अग्नि रूप पुरुष है वह यजुष् है ।[20] ऋक् रूप मूर्त्ति तथा सामरूप परिधि के मध्य में, अर्थात् अन्तरिक्ष में जो गतिशील वायु है, वह यजुष् है, वह आकाश रूप प्रतिष्ठा पर आधृत्त है । "यत्" तथा "जू:" मिलकर यजुष् बनता है—

अयं वाव यजुर्योयं पवते, एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति... । तस्माद्वायुरेव यजु: । अयमेवाकाशो जू:, यदिदमन्तरिक्षम् । एतं ह्याकाशमनुजवते । तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षञ्च, यत् च जूश्च, तस्माद्युजुरेष एव ह्येति । तदेतद्यजु: ऋक्सामयो: प्रतिष्ठितम्, ऋक्सामे वहत: ।[21]

---

18. वाक्यपदीय,1.1
19. तैत्तिरीय ब्राह्मण,2.92
20. यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम्, ता ऋच:, स ऋचां लोक: । अथ यदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोक: । अथ य हष एतस्मिन्मण्डले पुरुष: सोऽग्नि:, तानि यजूँषि, स यजुषां लोक: ।
- शतपथ ब्राह्मण,10.5.2.1
21. वही,10.3.5.1,2

इस विधान से यह प्रमाणित होता है कि प्रत्येक प्राणी या पदार्थ का पिण्ड या मूर्ति ऋक् है, उसकी किरणें जहाँ तक फैलती हैं, उस पूरे वर्तुल को साम कहते हैं तथा उनके मध्य में गतिशील आने जाने वाले प्राण को यजुष् कहा जाता है। आकाश इन सबकी प्रतिष्ठा है। सूर्यमण्डल अपने साथ जुड़े हुए अन्य ज्योतिर्मय पिण्डों के साथ तथा अपने तेजोमय अत्यन्त विस्तृत वर्तुल के साथ अवकाश में सतत गतिशील रहता है, इस दृष्टान्त से वैदिक विज्ञान द्वारा जगत् के गूढ़ रहस्य को प्रकट किया गया है। इस दृष्टान्त के आधार पर अन्य सारी मूर्तियों का और गतियों का रहस्य भी समझने की चेष्टा करनी चाहिये। ध्यान में रहे कि यह सारी प्रवृत्ति प्राण की है। आदि-कारण-भूत ऋषि-प्राण ही पितृ-प्राण, देव-प्राण आदि के रूप में परिणाम प्राप्त करके सब पिण्डों को, उनकी गति को तथा उनके अपने-अपने तेजोवर्तुलों को मर्यादा आदि बनाये रखते हैं।

आगे कहा जा चुका है कि यत् शब्द से गतिशील वायु, तथा जू: शब्द से स्थितिशील आकाश कहा गया है, इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध होने से ऐकात्म्य समझना चाहिये। इन्हीं के भावैक्य को यजुष् शब्द से अभिहित किया जाता है। वायुरूप प्राण अग्नि है, तथा शब्दगुणवाला आकाश सोम है। ये दो अग्नीषोम अङ्गिरा तथा भृगु नाम से भी जाने जाते हैं, लेजोलक्षण अङ्गिरा अग्नि है तथा स्नेहलक्षण भृगु सोम है। सोम विवर्तभूत प्राण देव कहे जाते हैं। इन ऋषि प्राण, देव प्राण तथा पितृ प्राणों से जीवों के शरीर बनते हैं, शरीराम्भक तत्त्वों को 'सहांसि' कहा जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ "पितृसमीक्षा" में पितृसहसों की अनुप्रवेश प्रक्रिया बताई गई है। लोक भेद से पितृ तीन प्रकार के होते हैं, पर, मध्यम और अवर,[22] इनको दिव्यपितृ, यदतुपितृ तथा प्रेतपितृ जानना चाहिये। इनकी मूल प्रकृति में भेद के कारण ये आग्नेय, याम्य तथा सौम्य कहे जाते हैं, क्योंकि अग्नि, यम तथा सोम, ये तीन पितृओं की सहयोगिनी देवताएं हैं। सब पिण्डों में एक केन्द्र होता है जिसे हृदय कहते हैं। हृदय शब्द में तीन अक्षर हैं वे सार्थक हैं, प्रतिष्ठा शक्ति ब्रह्मा स्थिति बनाये रखने का कार्य करता है। इन्द्र तथा विष्णु गतिस्वभाव वाले हैं, केन्द्र से बाहर तत्वों को ले जाना इन्द्र का तथा बाहर से केन्द्र की ओर लाना विष्णु का कार्य हैं। इस प्रकार हरति, द्यति तथा यच्छति इन तीनों क्रियाओं को निरन्तर सम्पादित करने वाले को हृदय कहते हैं। ऋत अन्न को कहते हैं तथा सत्य को अन्नाद कहते हैं। हृदय के लिये नाभि शब्द भी प्रयुक्त होता है। नाभि रूप केन्द्र से जुड़े हुए ऋत का एक निश्चित विस्तार होता है। जितने प्रदेश में ऋत की सत्य में प्रतिष्ठा होती है, उसकी परिधि अथवा सीमा को "प्रधि" या "पृष्ठ" भी कहा जाता है। हृदय से परिधि या प्रधिकी ओर जाने वाला प्रसारण स्वभाव बहिर्मुख अग्नि है तथा प्रधि से हृदय या केन्द्र की ओर जाने वाला आकुञ्चन स्वभाव अन्तर्मुख सोम है। प्रसरण स्वभाव वाला अग्नि निरन्तर हृदय से बाहर की ओर चयन क्रिया करता रहता है तथा चयन के

22. उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।

तीन स्तर होते है, प्रसरण प्रारंभ होने से पहले अग्नि, अग्नि ही रहता है। प्रसरण का प्रथम उन्मेष वायु है तथा उसकी अन्तिम गति आदित्य है। ये तीन भाव उत्तरोत्तर सूक्ष्म होने वाले हैं। जब कि आकुञ्चन स्वभाव वाले सोम का पृष्ठ से हृदय केन्द्र की ओर सवन किया जाता है, इसके भी तीन स्तर हैं। संकोच से पहले की अत्यन्त विरलावयव स्थिति को सोम, संकोच के प्रथम उन्मेष को वायु तथा अन्तिम परिणति को आप: कहते हैं। ये तीन भाव उत्तरोत्तर स्थूल होने वाले हैं। इस प्रकार अङ्गिरस नामक ऋषि प्राण अग्नि है तथा भृगु नामक ऋषि प्राण सोम है। ऊपर कहे गये छह भाव रूप कोशों से पृथ्वी का रूप निष्पन होता है। मुख्य रूप से नाभि से प्रारंभ करके प्रधि तक फैलने वाले तीन कोश अग्नि, वायु तथा आदित्य रूप से अवस्थित हैं। अग्नि जब जल के साथ संहत होता है तब पृथ्वी बनती है। वायु जब वायु से ही संहत होता है तब अन्तरिक्ष बनता है। तथा आदित्य जब सोम से संयुक्त होता है तब द्युलोक बनता है। द्युलोक स्थित विरलावयव सोम, आदित्य रूप अग्नि में हवन किये जाने पर पृथ्वी पर आकर अग्नि बन जाते हैं तथा अग्नि भी अपने प्रसरण स्वभाव के कारण प्रधि तक पहुँचते ही सोम रूप पशु बन जाता है। इस प्रकार अग्नि और सोम परस्पर एक दूसरे के भाव से रूपान्तरित होते रहते हैं, अतएव पृथ्वी से आदित्य तक इन दोनों का संतुलन नित्य बना रहता है। जहाँ समान बल वाले अग्नि तथा सोम की विकास तथा संकोच की प्रक्रिया का नियमन होता है, अर्थात् सोम की संकोच गति अग्नि द्वारा एवं अग्नि की विकास गति सोम द्वारा समाप्त कर दी जाती है, उस विष्टम्भं भाव को यम कहा जाता है। अग्नि और सोम के मध्य में रहा हुआ यम दक्षिण से अग्नि का तथा उत्तर से सोम का नियमन करता है। नीचे नाभि में रहा हुआ अग्नि ऊर्ध्व की ओर प्रसरण स्वभाव वाला होने से सोम स्थान प्रधि तक पहुंच कर स्वयं सोम हो जाता है, तथा परिधि स्थित सोम सर्वत: नीचे की ओर गिरता हुआ अग्नि स्थान नाभि तक पहुँच कर स्वयं अग्नि बन जाता है। ये तीन अग्नि, यम तथा सोम देवपितृ हैं। अङ्गिरा अग्नि तेजस्व है, भृगु सोम स्नेहन स्वभाव वाले रस हैं, एवं जो तेज और स्नेह से भिन्न है वह यम है। इनमें भृगु परपितृ हैं, यम मध्यम पितृ है तथा प्रेतपितृ अवर नाम से जाने जाते हैं। ये दोनों सोम और अग्नि संपूर्ण भुवन में व्याप्त हैं। हम जिन्हें प्रत्यक्ष कर सकते हैं, वे सूर्य विद्युत् एवं भौतिक पार्थिव अग्नि तथा वाष्प, तरल जल एवं घनीभूत हिम, इन दोनों का स्थूल स्वरूप हैं। किन्तु सूक्ष्म वायवीय अणुओं के रूप में ये हमें दिखाई नहीं देते और द्युलोक से भी परे स्थित अवकाश से प्रारंभ करके द्युलोक में, अन्तरिक्ष में तथा पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त हैं। द्युलोक से परे स्थित सूक्ष्म जलीय अणुओं को "अम्भ:", सूर्य की किरणों में व्याप्त जल को "मरीचि", पृथ्वी पर पाये जाने वाले जल को "मर" तथा भूतल के भीतर विद्यमान जल को "आप:" कहा जाता है।[23] अग्नि भी इसी प्रकार अपने सूक्ष्म रूप में सर्वत्र व्याप्त है —

23. आस्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्_स इमान्लोकानसृजताम्भो मरीचिर्मरमाप:। अधोऽम्भ: परेण दिवम्। द्यौ: प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षं मरीचय:।

गर्भो अस्यौषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥[24]

"हे अग्ने, तुम औषधियों, वनस्पतियों तथा सारे भौतिक पदार्थों तथा जलों के गर्भ में स्थित हो"

इससे यह स्पष्ट है कि संपूर्ण विश्व अग्नीषोमात्मक है ।

अग्निराख्यायते रौद्री घोरा या तैजसी तनूः ।
शक्तिः सोमोऽमृतमयो रसशक्तिकरी तनूः ॥

वैद्युतादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः ।
तेजो रसपि भेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥
अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।
अत एव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ॥[25]

इनमें आग्नेय प्राण देव तथा सौम्य प्राण पितर कहलाते हैं । इन दोनों के मेल से यावत् स्थावर जंगम पिण्डों की रचना होती है ।

सभी प्रकार के पिण्डों की या शरीरों की उत्पत्ति इनसे होती है, अतएव प्राणीमात्र के शरीरों के आरम्भक, जनक होने के कारण सौम्य प्राण के सर्वत्र व्यापक सूक्ष्म अंशों को पितर कहा जाता है । मनुस्मृति में इनका विवरण इस प्रकार दिया गया है—

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वाताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियानां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥

---

24. यजुर्वेद, 12.37

25. बृहज्जाबालोपनिषद्, 2.1,4,5.

अग्निदग्धाऽनग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा
अग्निष्वात्ताँश्च सौम्याँश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥

य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्र पौत्रमन्तकम् ॥[26]

"विराट् के पुत्र सोमसह साध्यों के पितर और लोक में विख्यात मरीचि के पुत्र अग्निष्वात्त देवों के पितर कहे गये हैं। अत्रि के पुत्र बर्हिषदों को देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर कहा गया है। ब्राह्मणों के सोमपा, क्षत्रियों के हविर्भुज, वैश्यों के आज्यप तथा शूद्रों के सुकाली पितर हैं। सोमपा भृगु के, हविर्भुज अंगिरा के, आज्यपा पुलस्त्य के तथा सुकाली वसिष्ठ के पुत्र हैं। अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद, अग्निष्वात्त एवं सौम्य ब्राह्मणों के पितर कहे गये हैं। ये जो पितृओं के मुख्य गण कहे गये हैं, उनके भी पुत्र-पौत्रों के विस्तार से यह जगत् भरा हुआ है।"

इन पितृओं को स्थान भेद से वसु, रुद्र तथा आदित्य स्वरूप कहा गया है —

वसून्वदन्ति तु पितृन्, रुद्राँश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहाँस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥[27]

पहले कहा गया है कि मुख्य देव एक ही है, प्राण। यह प्राण अग्निरूप है, जिसे अर्क कहते हैं। इसी एक देव के लोक भेद से तीन स्वरूप हैं, पृथ्वी संबंधी अग्नि, अन्तरिक्ष संबंधी वायु तथा द्युलोक सम्बन्धी आदित्य। इनके विभूति विस्तार से आठ वसु, एकादश रुद्र तथा द्वादश आदित्य रूप एकत्तीस तथा इनमें प्रजापति और मिलाने पर तैंतीस देव कहे जाते हैं। इनके इतने स्वरूपों में भी आगे और अवान्तर भेद होने से हजारों, करोड़ों की संख्या में ये सर्वत्र अवस्थित माने जाते हैं। अदिति परिगृहीत द्वादश प्राणों को आदित्य कहा जाता है। पुराणों में इनके नाम इस प्रकार दिये गये हैं —

इन्द्रोरधाता भगः पूषा मित्रोऽथ वरुणोऽर्यमा ।
अंशुर्विवस्वांस्त्वष्टा च सविता विष्णुरेव च ॥

इनमें से विवस्वान् नामक आदित्य प्राण से मनु, यम तथा मृत्यु नामक तीन प्राण उत्पन्न होते हैं। विराज नाम के आयुष्यारं मेक प्राण जिससे प्रवृत्त होते हैं, तथा जो हृदय में प्राण तथा अपान वायु के आश्रय रूप से विद्यमान, इन दोनों की ग्रंथिरूप व्यान वायु का नियमन करने वाला प्राण विशेष है वह मनु कहा जाता है। हृदय में मनु प्राण से ग्रथित व्यान वायु प्राणापान की गति का प्रवर्तक बनकर

26. मनुस्मृति,3.175-200
27. वही,3.284

वैश्वानर अग्नि को उत्पन्न करता है, जिसके बल से प्राणी जीवित रहता है । परम पुरुष हिरण्यगर्भ के मन से उत्पन्न होने के कारण तथा प्राणी के हृदय में आदि पुरुष के मन के अंश को गृहीत करने वाला होने से इसे मनु कहा जाता है । यही मनु सूक्ष्म रूप से हृदय में विद्यमान, सबका शासन करने वाला परम पुरुष है —

प्रशासितारं सर्वेषामणीयां समणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमेके प्रजापतिम् ।
इन्दमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥[28]

इस हैरण्यगर्भ मनु से भृगु और अङ्गिरा अत्रि और मरीचि, पुलस्त्य और पुलह, क्रतु और दक्ष, एवं वसिष्ठ और विश्वामित्र नाम के दश ऋषि प्राण उत्पन्न होते हैं । यह मनु आण्डज, पिण्डज, ऊष्मज तथा उद्भिज्ज चार प्रकार के प्राणियों को उत्पन्न करता है, इसलिये ये चारों प्रकार के प्राणी मनुज हैं, फिर भी मनु प्राण की विशेषतया उपलब्धि पिण्डज मनुष्यों में होने के कारण उन्हें मनुज शब्द से व्यवहृत किया जाता है । जैसे विवस्वत्प्राण के गर्भ में प्रविष्ट बृहत् इन्द्रप्राण मनु कहा जाता है, उसी प्रकार उसमें निर्विष्ट अग्नि को यम तथा अग्नि के गर्भ में प्रविष्ट वरुण को मृत्यु कहा जाता है, क्योंकि वह अग्नि में पड़ने वाली सोम की आहुति को रोककर, व्यान वायु ग्रन्थि को छुड़ाकर, प्राणापान व्यापार को समाप्त करके शरीर और प्राण के वियोग का कारण बनता है । विवस्वत् प्राण से ही ये तीनों, मनु, यम तथा मृत्यु उत्पन्न होते हैं, फिर भी "वैवस्वत" विशेषण केवल मनु के लिये विशेषादरार्थ प्रयुक्त किया जाता है । यम प्राण के चौदह भेद हैं, मृत्यु इनमें से एक है ।

लोक भेद से अग्नि के समान, सोम के भी तीन भेद होते हैं । द्युलोक में सोम, अन्तरिक्ष में वायु तथा पृथ्वी पर जल रूप से यह सोम त्रिविध होता है । पत्थर, जल, वायु आदि में घनता क्रमशः कम होती जाती है, इसका कारण सोम की मात्रा विशेष है । अन्नसोम पाँच प्रकार होता है — राजा, वाजः, ग्रहः, पशु तथा हविः । राजा नामक सोम से राजसूय, वाज से वाजपेय, ग्रह से सवयाग, पशु से पशुयाग तथा हवि से इष्टियाग किया जाता है । आग्नेय वायु क्षोभ कारक होने से "रुद्र" तथा सौम्य वायु सब क्षोभों को शान्त करने वाला होने से "शिव" कहा जाता है । सोमजनित जल चार प्रकार के कहे गये हैं — अम्भः, मरीचि, मरः तथा आपः । द्युलोक के तृतीय पृष्ठ पर पारमेष्ठ्य समुद्र में अम्भः (सूक्ष्म जलीय परमाणु), दूसरे पृष्ठ पर सौरमंडल में विद्यमान जल को मरीचि, पृथ्वी में विद्यमान मरः तथा चन्द्रमा में विद्यमान जल को श्रद्धा नाम से जाना जाता है ।

28. वही, 12, 122-124

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय इनके आधीन होने से त्रिविध अग्नि, त्रिविध यम तथा त्रिविध सोम को पितर कहते हैं। सोम से उत्पत्ति, अग्नि से जीवन तथा यम से मृत्यु यही सृष्टि क्रम है। आग्नेय पितृ दक्षिणाकाश से उत्तर की ओर गतिशील हैं, इन्हें आज्जिरस या अवर कहा जाता है। याम्यपितर मध्याकाश से निरन्तर नीचे की ओर गिरते हैं, वे मध्यम कहे जाते हैं तथा भृगु रूप सौम्य पितृ उत्तराकाश से दक्षिण की ओर गतिशील रहते हैं ये पर पितृ कहलाते हैं ये सब नित्य तथा प्रकृति भूत पितृ हैं, इनसे दिव्यपितृ, ऋतुपितृ तथा प्रेतपितृ उत्पन्न होते हैं।

दिव्यपितृ तीन प्रकार के होते हैं — अन्नविधाः अन्नादविधाः और अनुभयविधाः। इनमें अन्नविधाः पुनः तीन प्रकार के हैं — अग्निष्वात्त अग्नि में आत्त, गृहीत रहने से, बर्हिषदः ओषधि, वनस्पति आदि में रहने वाले, तथा सोमसदः जल-स्नेह आदि आर्द्रद्रव्यों में रहने वाले। अन्नादविधाः पितृ भी तीन प्रकार के हैं — रविर्भुजः आज्यपाः और सोमपाः तथा अनुभयविध पितृ सुकाली या सुस्वधा नाम से जाने जाते हैं। इनमें भृगु अग्निष्वात्त, अङ्गिरस बर्हिषद, अभि सोमसद, अङ्गिरस अथवा पुलह हविर्भुज, पौलस्त्य आज्यप, काव्य अथवा वैराज सोमप तथा वसिष्ठ सुकाली कहलाते हैं।

ऋतुपितृ शब्द से जिन स्थितियों में सौम्यप्राण प्रबल होकर आग्नेयप्राणों को दबा, देते हैं, जिससे वायु में अग्निसंयोग क्रमशः कम होता जाता है तथा शीतवायु, प्रवाहित होने लगतीहै, और ऋतुभेद स्पष्टतया अनुभवगम्य होने लगता है, इसी निरन्तर चलने वाले चक्रवत् प्राण के वृद्धि रूप क्रम को समझना चाहिये। प्रत्येक संवत्सर में छह मास तक सूर्य विषुवद् वृत्त से उत्तर की ओर रहता है तथा शेष छह मास तक दक्षिण की ओर। इससे वर्ष के उत्तरायण तथा दक्षिणायन दो विभाग होते हैं। जिस समय से सोमतत्त्व अग्नितत्त्व को कम करने का प्रारंभ करता है, उसे शरद् ऋतु कहते हैं। इस ऋतु के प्रारंभ में पितृपक्ष माना जाता है तथा पितृओं की तृप्ति के लिये श्राद्ध-भोजनादि किया-कराया जाता है। प्रत्येक ऋतु में भी प्रातः, माध्यन्दिन तथा सायं सवन रूप से तीन विभाग होते हैं, जिनमें पितृओं की स्थिति तत्कालीन विशेषताओं से युक्त होती है। सोमतत्त्व की आहुति से अग्नितत्त्व प्रबल से प्रबलतर होता है, इसलिये ग्रीष्मादि ऋतुओं में प्रचण्ड गरमी का अनुभव होता है। पुनः होमा गया सोम जब अपने मूल स्वरूप से प्रकट होता है तब वायु मण्डल में उष्णता कम होती जाती है। स्वयं प्रकृति ही यह होम[29] करती है, इससे ऋतुभेद अनुभव में आते हैं। इस नैसर्गिक प्रक्रिया को बल देने के लिए सोम तत्व की प्रधानता वाले द्रव्यों से अग्नि में होम किया जाता है। इस कारण शरद् ऋतु के आरंभ से लेकर विविध यज्ञ किये जाते हैं, जिससे प्राणि मात्र के जीवन की रक्षा होती है तथा उनके योगक्षेम का यथाकाल विधान भी होता है। पितृओं और देवों के अनुग्रह से जीवनयात्रा यथावत् चलती है, अतएव उनके प्राकृतिक कार्यों के अनुरूप मनुष्य भी देव-पितृओं की तृप्ति हेतु तथा अग्नि और सोम के संतुलन के लिये विभिन्न ऋतुओं में श्राद्ध-यज्ञादि करते हैं -

---

29. वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः। ऋग्वेद,10.70.14

यह देवों तथा मनुष्यों का परस्पर भावन है, सहयोग है। आधुनिक युग में यह सहभावन क्षीण हो गया है, जिसके परिणामस्वरूप कालचक्र में असंतुलन तथा वायुमंडल में व्यापक प्रदूषण रूप बड़े भयानक दोष उत्पन्न हुए हैं। यह समझना आवश्क है कि ऋतु सम्बन्धी धर्मकार्य अंधश्रद्धाप्रेरित नहीं, बल्कि मानवीय सुरक्षा तथा योगक्षेम के लिये अत्यंत उपयोगी साधन है।

अब प्रेतपितृ विज्ञान के विषय में विचार किया जाता है।

देवपितृ तथा ऋतुपितृ मनुष्य शरीर के आरम्भक हैं। इस भौतिक मानव शरीर में जीवसंज्ञक भूतात्मा साक्षिचैतन्य के रूप में रहे हुए कूटस्थ अविकारी क्षेत्रज्ञ परमात्मा से अभेद भाव से स्थित होकर जब तक स्वयं को सच्चिद्रूप तथा सब अवस्थाओं में असंग अनुभव करके मुक्त नहीं होता, तब तक अपना भिन्न अस्तित्व बनाये रखता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शरीर में अभिमान करने वाला तथा अच्छे बुरे कर्मों को करने वाला भूतात्मा तथा केवल साक्षिरूप से रहने वाला अकर्ता क्षेत्रज्ञ ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। क्षेत्रज्ञ सब शरीरों में एक होता है, तथा व्यापक होने से उसमें किसी प्रकार की गति नहीं है। परन्तु पंच भूतों से संपृक्त भूतात्मा या जीवात्मा का नित्य साक्षी होने से वह भी उसके साथ शरीर ग्रहण त्याग रूप गति में सहभागी सा दीखता है। इस लोक में से शरीर त्याग के पश्चात् परलोक की ओर जाने वाले भूतात्मा को प्रेत कहते हैं। इन अदृश्य प्रेतपितृओं के विषय में विचार करना आवश्यक है।

स्थूल शरीर छूट जाने पर व्यक्ति स्वयं को स्वप्न अवस्था के समान एक अवस्था विशेष में पाता है, तथा नया शरीर ग्रहण करने तक उसे गन्धर्व कहा जाता है। जिस ऋतु में मृत्यु होती है, उस ऋतु के प्राणों के सहारे वह सूक्ष्म अतिवाहिक शरीर से ऊपर की ओर यात्रा करता हुआ तेरह नाक्षत्र मास के पश्चात् चन्द्रमा को प्राप्त होता है —

"ये वैके चास्माल्लोका प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ततः इतो लोकात् प्रयन्तीति प्रेता उच्यन्ते।[30]

शरीर त्याग के समय चन्द्र की स्थिति के अनुसार पृथिवी के वायुमंडल से ऊर्ध्व की ओर जाते जाते चन्द्रमा को प्राप्त करने में इनको तेरह चान्द्रमास लगते हैं —

"ते च शरीरत्याग कालिकचन्द्र स्थितिमनूर्ध्वमूर्ध्व प्रयन्तस्त्रयोदशनाक्षत्रमासपूर्त्तौ चन्द्रमसमभिप्रपद्यन्ते। . . .सपिण्डत्वेन प्रतिपन्नाः सप्तविधा मनुष्यपितरो गन्धर्वशरीरा प्रेतपितरो नाम। ते द्विविधाः पिण्डभाजोऽवरा अश्रुमुखाः लेपभाजस्तु परा नान्दीमुखाः। . . त्रिविधा हीमे पितरो भवन्ति-सपिण्डाः, सोदकाः, सगोत्राश्च। उपरिष्टाच्चावस्ताच्चासप्तमात् सपिण्डाः। आचतुर्दशात्सोदकाः। एकविंशात् सगोत्राः। अत ऊर्ध्वा ज्ञातयो भवन्ति।[31]

---

30. कौषीतकी उपनिषद्, 1.2

31. पंडित मधूसूदन शर्मा, पितृ समीक्षा, लखनऊ, 1937, पृष्ठ 26

तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के पिता से प्रारंभ करके सात पुरुष सपिण्ड कहे जाते हैं, ये मनुष्यपितृ गन्धर्व शरीर होते हैं । इनमें से जो अग्निलोक तक ही जा पाये हैं, उन को पृथ्वी से संबंधित आसक्ति रहने के कारण दु:ख का अनुभव होता है, इस कारण इन्हें "अश्रुमुखा:" कहते हैं तथा जो इससे ऊर्ध्व की ओर स्थित देवलोक पहुँचने में समर्थ हो गये है, वे देवों के सहचारी होकर आनन्द में रहते हैं, अत: इन्हें "नान्दीमुखा:" कहा जाता है । पुन: अपने पिता से लेकर सात पितृओं तक "सपिण्ड", चौदह पुरुषों तक "सोदक" तथा इक्कीस पुरुषों तक "सगोत्र" कहे जाते हैं । उसके अनन्तर केवल "ज्ञातय:" कहे जाते हैं ।

मृत्यु के अनन्तर जिस स्थिति का अनुभव व्यक्ति को होता है, उसे कठोपनिषद् में "साम्पराय" कहा गया है तथा इस विषय का सविस्तर वर्णन वहाँ उपलब्ध होता है । साम्पराय को न मानने वाले की निन्दा करते हुए यह कहा गया है कि वित्तमोह से मूढ पुरुष को, मरने के बाद मेरी क्या स्थिति-गति होगी इस विषय का प्रतिभान नहीं होता । प्रश्न यह है कि जो विषय इन्द्रियगम्य नहीं है, तथा केवल श्रद्धा से जिसे मानना पड़ता है, उसमें यदि किसी बुद्धिमान् मनुष्य को शंका हो तो उसमें अनुचितता क्या है ? इस प्रश्न के पीछे एक बौद्धिक विचारधारा रही हुई है, तथा वह वेदकाल से ही उपलब्ध होती है । मूलभूत सवाल यह है कि क्या विश्व हमारी इन्द्रियों को देखने-सुनने में आता है उससे विशेष कुछ भी नहीं है ? अर्थात् व्यक्त सत्ता के पीछे क्या कोई अव्यक्त सत्ता हो ही नहीं सकती ? इसका जवाब पश्चिम के युंग नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने देते हुए कहा है कि जो लोग — सत्ता केवल भौतिक ही होती है — ऐसा मानते हैं, उनका यह दुराग्रह मूर्खतापूर्ण पूर्वाग्रह मात्र है, क्योंकि मौलिक सत्ता Psychic या मानसिक हुआ करती है, असल बात तो यह है कि भौतिक विश्व की सत्ता अनुमान मात्र है क्योंकि जिन्हें हम सीधे ही प्रत्यक्ष कहते हैं वे तो मनोमय आकार होते हैं, जब हम विश्व को देखते हैं तो असल में इन्द्रियों के माध्यम से हमारे मन तक पहुँचने वाले मानसिक बिम्बों को ही देखते[32] हैं । विश्व ऐसे बिम्बों का हमारे मन के द्वारा कल्पित आकार मात्र है । मन को

---

32. It is an almost absued prejudice to suppose that existence can only be physial. As a matter of fact, the only form of existence of which we have immediate knowledge is psychic. We might well say, on the contrary, that physical existence is a mere inference, since we know of metter only in so far as we perceive psychic images mediated by the sense.
The collected works of C.G. Jung, Vol-11, Gd. Herhert Dead. . . Tr-hy Hall, London, 1958, p.12
इसी बात को पंडित मधुसूदन ओझा ने बड़ी खूबी से योगजप्रत्यक्ष का प्रबल तर्क देकर प्रतिपादित किया है । वे लिखते हैं — "एवमिदं संबंधिनो: सम्बन्धनहेतुभूतं श्रद्धासूत्रं मनुष्येन्द्रियातिगामित्वान्मनुष्यैर्ग्रहीतुमशक्यमपि योगजदृष्टिविशेषाद् योगविद्याप्रभावेण योगिभिरुपलभ्यते इत्यस्तीति प्रतिपत्तव्यम्। सन्ति खल्वयोगिभिरनधिगम्या अतीन्द्रिया बहवोऽर्थास्तान् वयं न पश्याम इत्यतस्ते न सन्त्येवेति साहसिकानामवैज्ञानिकानां प्रलापमात्रमत्यन्तमुपेक्ष्यम् ।"
— ओझा, मधुसूदन शर्मा, पितृसमीक्षा, लखनउ, 1937, पृ.33,34

यदि अमन बना दिया जाय तो विश्व जैसी कोई चीज टिक नहीं सकती यह अद्वैतसिद्धान्तका मूलाधार है ।[33] उपनिषद् भी परब्रह्म में या भूमा-अनन्त में द्वैत का अभाव बताते हैं —

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति. . .,इतर इतरं श्रृणोति. . विजानाति/यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत. . . केन कं विजानीयात्. . .[34]"

युंग जैसे प्रबुद्ध मनोवैज्ञानिक भी सत्ता की मानसिकता तो स्वीकार करते हैं, परंतु वैदिक विज्ञान के अनुसार मन को अमन बनाने की योगयुक्ति से मनोनाश के अनन्तर अनुभव में आने वाली सन्मात्र, चिन्मात्रसत्ता ही परम या मूल सत्ता है, इस बात को वे स्वीकार नहीं करते । सत्ता की मनोमयता का आभास युंग जैसे विचारकों को उनके मानव-मन में ऊपरी सतह के नीचे छिपी हुई अवचेतना (Sub-Conscious) तथा अचेतना (Unconscious) के स्तरों के अनुसन्धान के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ था । कई मनुष्यों के स्वप्नों का रिकार्ड बनाकर, उनका वर्गीकरण, विश्लेषण, निगमन इत्यादि स्वीकृत वैज्ञानिक अनुसंधान की पद्धति को अपनाकर, उन्होंने पाया कि व्यक्ति को कृत्रिम निद्रा में डालकर उसके मन की गहराईयों में छिपे हुए स्मरण रूप संस्कारों को उद्बुद्ध करके, वहाँ बचपन में या प्राचीन काल में पड़ी हुई ग्रन्थियों को प्रबल सूचन द्वारा सुलझाया जा सकता है तथा इस प्रकार मनुष्य को कई असाध्य आधिव्याधियों से छुटकारा दिलाया जा सकता है ।[35] यदि सत्ता मूलरूप में मनोमय न होती तो मन की गहराईयों में विद्यमान ग्रंथियों को सुलझाकर शारीरिक स्वास्थ्य जैसी ठोस भौतिक सिद्धि हासिल नहीं की जा सकती थी । यह सभी का अनुभव है ध्यान से तनाव कम होता है ।

प्रस्तुत विषय से इस निष्कर्ष का सम्बन्ध यह है कि शरीर नाश के अनन्तर जीव की जो गति होती है, वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, फिर भी स्वप्न के सूक्ष्म शरीर की तरह, मनोमय सूक्ष्म भेद के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

वैदिक विज्ञान इस मनोमय सूक्ष्मदेह के अस्तित्व को स्वीकार करता है, तथा इसकी बनावट, गति, मुक्ति आदि के विषय में भी प्रामाणिक विचार करता है । आगे प्रजापति के स्वरूप का निर्णय

---

33. मनोदृश्यमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥
गौडपादकारिका,2.35

34. बृहदारण्यक उपनिषद,4.5.15

35. युंग ने वेदों में दी गई गुहा की प्रतीकात्मकता को स्वीकार करके,गुहा हृदय का या चेतना के पूरे क्षेत्र का प्रतीक है,एवं आत्मा को हृदय गुहा में निहित कहा गया है,इस बात का समर्थन करते हुए कहा है कि मनुष्य का व्यक्तित्व अतिशय गहरा है, अहंकार केवल उसकी संपूर्ण चेतना का एक अत्यंत अल्प अंश है, तथा मानव से चेतना के गहनतम केन्द्र में आत्मा का अस्तित्व अवश्य मानना पड़ता है ।
— Collected works of C.G. JUng, Vol.9, Part-II, London, 1959, PP. 188

करते समय हमने देखा है कि अव्यय, अक्षर एवं क्षर पुरुषों की पाँच-पाँच कलाओं के साथ निर्विशेष परात्पर को भी एक कला मानकर कुल मिलाकर षोडशकलाओं से प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसी से चार मनु, सात ऋषि प्राणों की निष्पत्ति भी बताई गई है। तथा ऋषि प्राणों से देवप्राण, मनुष्य प्राण, गन्धर्वादि प्राणों की उत्पत्ति मानी गई है। यह सारी सृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है। आगे और भी व्यक्त दशा में प्रकट होने वाली क्षर पुरुष की प्राणनामक कला से इन्द्रिय रूप देवचिति उत्पन्न होती है, इस में प्राणात्मा, प्रज्ञानात्मा तथा महान् आत्मा समवेत रहते हैं। इसी देवचिति को सूक्ष्म देह कहते हैं। यह 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ, 5 प्राणों तथा मन एवं बुद्धि इन सत्रह तत्वों से बना है। सिद्धान्त यह है कि स्वरूप से अजन्मा प्रजापति ही बहुधा रूपों को बनाकर गर्भ में विचरण करता[36] है। इस प्रजापति के व्यापक रूप में सारे भुवन विद्यमान रहते हैं तथा इस अतीन्द्रिय सूक्ष्मतम सत्य को धीर पुरुष ही अपने प्रज्ञानेत्र से देख सकते हैं। मुख्य आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध एवं मुक्त ही है, वह व्यापक है अत: इसमें किसी प्रकार की गति नहीं है। स्थूल शरीर पंचभूतों का संघमात्र होने से स्पष्ट रूप से भस्मान्त है यह तो सब लोग जानते हैं। अत: पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर के त्याग के अनन्तर, इस लोक से पितृ लोक या देवलोक तक गमन तथा वहां से पुन: इस लोक तक आगमन इसी सूक्ष्मदेह का होता है। इस आवागमन के पाँच स्तर हैं जिनका विवरण छान्दोग्य, बृहदारण्यकादि प्राचीन उपनिषदों में सविस्तर दिया गया है। इस गति के मुख्य दो भेद हैं, जिन्हें देवयान तथा पितृयान अथवा अर्चिरादि मार्ग तथा धूमादिमार्ग कहा गया है। इन दो में से किस मार्ग से सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव गति करेगा इस बात का निर्णय उसकी विद्या या ज्ञान एवं उसके अच्छे या बुरे कर्म के आधार पर होता है। वह किस मार्ग से पर लोक जायेगा तथा उसका अगला शरीर कौनसा होगा इस बात का निश्चय "यथाकर्म यथाश्रुतम्" उसके करम एवं ज्ञान से होता है।

चन्द्रमा विराट् पुरुष के मन से उत्पन्न हुआ है तथा सृष्टि के प्रारंभ से ही वहाँ दिव्यपितृ निवास करते हैं। अत: यही मुख्य पितृ लोक है। मृत व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर के तत्वों में मन प्रधान है, अत: सभी की मरणोत्तर गति चन्द्र की ओर स्वाभाविक रूप से होती है। यह धूमादिमार्ग या पितृयान कहा जाता है। योगसाधन का आश्रय करके जिन्होंने मन की चंल वृत्तियों का कुछ हद तक निरोध करके प्रकाशात्मक सत्त्वप्रधान बुद्धितत्त्व को उद्बुद्ध किया है, वे सजातीय आकर्षण के बल पर बुद्धि के अधिष्ठाता सूर्य की ओर गति करने में समर्थ होते हैं। सूर्यमण्डल देवप्राणों का केन्द्र है, अत: उसकी ओर जानेवाले पथ को अर्चिरादि मार्ग या देवयान कहते हैं। पितृयान का आश्रय करने वाले जीवों का पुनरागमन होता है, किन्तु जिन्होंने सूर्यमण्डल की ओर जाने वाले देवयान आश्रय किया है, वे आभूतसंप्लव अर्थात् प्रलयकाल तक देवलोक में रहकर, तदनन्तर मुक्त होकर परमात्मा के स्वरूप में

---

36. प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
— यजुर्वेद, 13.17

लीन होकर सारूप्य मुक्ति पाते हैं, यह क्रममुक्ति है । शरीर रहते ही जिन्होंने बुद्धि एवं मन का संपूर्ण संयमन सिद्ध किया है, वे जीवनमुक्त होते हैं, इनके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता —

"न तस्य प्राणा व्युक्रामन्ति, अत्रैव समवलीयन्ते ।"[37]

इनके विषय में यह भी कहा गया है कि वे जीवन काल में ही ब्रह्म रूप हुए होते हैं, अतः शरीर त्याग के अनन्तर व्यापक ब्रह्म में लीन होते हैं, अर्थात् विदेह मुक्त होते हैं —

"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" ।[38]

इसको जीवन्मुक्ति या सद्योमुक्ति भी कहते हैं । ऊपर बताई गई दो गतियों के अतिरिक्त एक तीसरी अधम गति का उल्लेख उपनिषदों में पाया जाता है । जो आजीवन दुराग्रहपूर्वक पापाचरण में ही लगे रहते हैं तथा पृथ्वी के विभिन्न पदार्थों के प्रति जिनकी आसक्ति अतिशय प्रबल होती है वे बार-बार जन्मकर मरे वाले क्षुद्र कीट-पतंगों की दुर्गति पाते हैं । इन तुच्छ शरीरों में अज्ञानवशवर्ती होकर अपने पाप कर्मों का फल दीर्घकाल तक भोगने के बाद प्राकृतिक नियमानुसार वे पुनः मानव शरीर प्राप्त करते हैं ।

ऊपर यह बताया गया है कि ज्ञान या विद्या तथा कर्म या अविद्या जीव की मरणोत्तर स्थिति-गति के नियामक हैं । ज्ञान आत्मा का स्वरूप होने से विद्या कहा जाता है, जिससे व्यक्ति स्वयं को शरीरेन्द्रियादिसंघात से भिन्न जानकर नित्यसत्ता रूप आत्मा का विवेकपूर्वक ज्ञान प्राप्त करता है, एवं व्यापक आत्मा में निष्ठा करके गति शून्य होता है, इसी को ब्रह्मी स्थिति, विद्या, मुक्ति आदि पदों से अभिहित किया जाता है । शरीरादि में अभिमान आत्मा के अविवेक से उत्पन्न होता है तथा फलाभिसंधिपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त करता है, अतः कर्म-प्रवाह को अविद्याजनित माना गया है । इन दो विद्या-अविद्या अथवा ज्ञान-कर्म की तारतम्य से जीवकी उच्च-नीच गतियाँ हुआ करती हैं । स्थूल पाञ्चभौतिक देह की स्थिति-गति जिस विश्व में है वह पाञ्चीकृत पाँच महाभूतों से बना हुआ होने से स्थूल है, एवं जिसमें मनोमय सूक्ष्म शरीर की स्थिति-गति होती है, वह विश्व अपाञ्चीकृत पंच महाभूतों से बना हुआ होता है अतः वह सूक्ष्म है । ये दोनों भौतिक ही हैं तथा दोनों का संबंध भी नित्य बना रहता है, इससे जाग्रत में स्थूल भौतिक विश्व का तथा स्वप्न में सूक्ष्म भौतिक विश्व का अनुभव प्राणीमात्र को होता है । मृत व्यक्ति की चेतना स्वप्न-चेतना जैसी होती है, अतः वहाँ स्थिरता का अभ्यास या आत्मा को जानने की साधना नहीं बन पाती । कठोपनिषद् में कहा है —

---

37. बृहदारण्यक उपनिषद्,4.4.5

38. वही,4.4.5

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृ लोके ।
यथाऽप्सु परीव दृश्यते तथा गन्धर्वलोके ।
छायातपयोरवि ब्रह्मलोक ।[39]

इस मंत्र पर अपने भाष्य में श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि पितृलोक, गन्धर्व लोकादि में आत्मा का दर्शन स्वप्न में देखी हुई वस्तु तथा जल में प्रतिबिम्बित अस्थिर वस्तु के समान अस्पष्ट होता है, तथा ब्रह्म लोक में प्रकाश तथा अंधकार की तरह स्पष्ट ज्ञान होता है, किन्तु ब्रह्म लोक प्राप्ति अतिदुष्कर है, अतएंव मनुष्य लोक में ही आत्मा को जानने का प्रयत्न करना उचित है, क्योंकि यहाँ शुद्ध सत्त्व वाले यतियों के अन्तःकरण में दर्पण में दीखने वाले स्पष्ट प्रतिबिम्ब की तरह आत्मा का स्पष्ट विवेक तथा दर्शन शक्य है । कथन का तात्पर्य यह है कि जीवन में ही मुक्तिसाधना शक्य है, मरणोपरान्त यह शक्य नहीं है । तथा अज्ञान दशा में बद्ध जीव मरने के बाद, उसके पुत्र द्वारा दिये हुए पिण्डादि से बल प्राप्त करके वायु मंडल में इधर-उधर भटकने की दुर्गति से छूट कर चन्द्रलोक-पितृ-लोक तक जाने में सहायता अवश्य पा सकता है, किन्तु मुक्तिरूप परम शान्ति तथा आनन्द की अवस्था नहीं पा सकता। इसलिये इहलोक तथा परलोक दोनों में दुःख का जो स्पष्ट कारण अनात्वभूत नश्वर प्राणी-पदार्थों में आसक्ति है उसका विवेकपूर्वक त्याग करके जीते जी ही मन की शान्ति प्राप्त करना सद्गति का एकमात्र मार्ग है । योगवासिष्ठ में कहा है —

स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा ।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥

अर्थात् मनःप्रशम अपने इष्ट पदार्थों में आसक्ति के त्याग से होता है । तथा स्वयं को जो अभीष्ट लगते हैं, ऐसे विषयों का त्याग अपने ही पौरुष-मनोबल के अधीन है - अन्य के द्वारा किया हुआ त्याग हमें मनःशान्ति नहीं दे सकता - तथा मन के शम के बिना आत्माकी शुभ गति नहीं होती, अतः अपने पुरुषार्थ का आश्रय करके, हमें ईप्सित दीख पड़ते हैं, ऐसे विषयों के त्याग से मनःशान्ति जीवनकाल में ही प्राप्त कर लेना सद्गति का एकमात्र मार्ग है । बौधायन धर्मसूत्र में आत्मश्राद्ध नामक विषय की चर्चा है । संन्यास दीक्षा लेने वाले पुरुष जैसे जीते जी अपने और्ध्वदैहिक संस्कार सम्पन्न कर लेते हैं, वैसे ही अपनी मरणोत्तर सद्गति की इच्छावाले स्त्री-पुरुषों को चाहिये कि वे स्वयं को इष्ट लगने वाले पदार्थों का दान सत्पात्र में करके मन की अशान्ति एवं चंचलता के कारण भूत आसक्ति त्याग करें । भगवान् श्रीकृष्ण ने भी काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास बताया है[40], जिसके अभाव में कोई व्यक्ति सच्चा कर्मयोगी नहीं बन सकता ।[41]

---

39. कठोपनिषद्,6.5
40. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
— भगवद्गीता,6.2
41. न ह्यसन्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।
— वही,6.2

इस प्रकार स्वयं ही अपनी आसक्तियों को न त्याग सकने वाले व्यक्ति के पारलौकिक हित के लिये उसके पुत्र तथा सम्बन्धी दिवंगत आत्मा की शान्ति के हेतु जो श्राद्ध, दानादि करते हैं, उससे भी मृत व्यक्ति को लाभ अवश्य होता है, अत: एव श्राद्धक्रिया तथा पिण्डदानादि कर्म "निर्हरण" नाम से जाने जाते हैं क्योंकि उनसे प्रेत की कुछ अशुद्धियाँ एवं निर्बलताओं का निर्हार हो जाता है तथा उसे तृप्ति एवं शान्ति का अनुभव होता है, चाहे वह जहाँ भी जो भी स्थिति में हो।

उत्तम प्रकार के यज्ञ दान तप इत्यादि कर्मों को करने वालों की शरीरस्थ वैश्वानराग्नि संस्कारयुक्त हो जाती है जिससे शरीर छूट जाने के अनन्तर वह व्यापक वैश्वानर सूर्यसंवत्सर में सम्मिलित हो जाते हैं। सूर्यमण्डल से आगे परमेष्ठीमण्डल है, जहाँ सोमतत्व की प्रचुरता होने से चन्द्रलोक नाम से भी जाना जाता है। उससे आगे स्वयम्भू मण्डल है, जिसका अधिष्ठाता मानसपुरुष है। इस मार्ग को देवयान कहा गया है, जिसका क्रम अग्नि, ज्योति, दिवस, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायन के छह मास के स्वरूप से बताया गया है। ये वस्तुत: कालविशेष नहीं हैं, बल्कि उन तत्त्वों के अधिष्ठता आतिवाहिक देवविशेष हैं। इस मार्ग से जाने वाले उत्तम कोटि के जीवन स्वर्ग लोक में देवों के साथ आनन्द भोग करके, ऊपर बताये गये मानस पुरुष के द्वारा सत्य लोक या ब्रह्मलोक में प्रवेश पाकर मुक्त हो जाते हैं।

परंतु जो लोग आत्मज्ञान या विद्या की कामना न करके इष्टापूर्तादि सामाजिक सेवा के कार्य में जीवनयापन करते हैं, वे धूमादि मार्ग से चन्द्रमा तक जाते हैं और पुन: इस लोक में जन्म लेते हैं —

"अत य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति, धूमाद्रात्रिम्। रात्रेरपरपक्षम्, अपरक्षाद्यान्, षड्मासाँस्तान्. . .ततो पितृलोकम्, पितृलोकादाकाशम्, आकाशाच्चन्द्रमसम्"[42]

इस लोक में पुन: आने का जो मार्ग है, उसका निरूपण भी प्राचीन उपनिषदों में पंचाग्निविद्या के नाम से किया गया है —

"असौ वाव लोकोऽग्निः, त्वख्यादित्य एव समित्। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा: श्रद्धां जुह्वति। तस्या आहुते: सोमो राजा संभवति।[43]

"वह (द्युलोक) अग्नि है, आदित्य उसकी समिधा है। इस अग्नि में देव श्रद्धा का होम करते हैं। उस आहुति से सोम की उत्पत्ति होती है।"

इसी क्रम से पर्जन्य रूप अग्नि में देव सोम की आहुति देते हैं, जिससे वृष्टि होती है। इस (पृथ्वी) लोकरूप अग्नि में वृष्टि की आहुति से अन्न उत्पन्न होता है। पुरुष रूप अग्नि में अन्न की

42. छान्दोग्य उपनिषद्, 5.10.3,4

43. बृहदारण्यक उपनिषद्, 6.2.7

आहुति से रेतस् उत्पन्न होता है, तथा स्त्री रूप अग्नि में रेतस् की आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है।[44]

यह उत्पन्न हुआ पुरुष अपनी नियत आयु तक जीवित रहता है, और मृत्यु के अनन्तर फिर पूर्वोक्त दो में से एक मार्ग के द्वारा पितृ लोक या देव लोक में जाकर स्वकर्मोपात्त सुख दुःख भोग करने के बाद पुन: उसी मार्ग से लौटकर इस लोक में जन्म लेता है, यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इन दो मार्गों को न जानने वाले अथवा इनसे गति करने की भी जिनमें योग्यता नहीं है, वे दन्दशूक, मक्खी, मच्छर जैसे तुच्छ जन्तु बनकर बारंबार जनम मरण प्राप्त करते हैं।[45] कुछ अत्यन्त अधम कक्षा के जीव वृक्ष, वनस्पति आदि स्थावर गति को पाते है, यह सबसे निकृष्ट गति है। यहाँ प्रसंगवशात् इस बात का विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि जब प्राणी परलोक में अपने कर्म के अनुसार सुखदु:खादि भोगते हैं तो पुन: उनको क्यों जन्म लेना पड़ता है ? इसका उत्तर यह है कि कर्म विभिन्न प्रकार के होते हैं, उनके फलों का भोग भी भिन्न-भिन्न समयों में एवं लोकों में सम्पन्न होता है। जैसे अग्नि में हाथ डालने पर तुरन्त हाथ जल जाएगा, किन्तु यदि आम का पेड़ लगाया जाय तो उसका फल कई सालों बाद मिलेगा, तथा अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों का अथवा समाजसेवा के उत्कृष्ट कर्मों का फलांश अदृष्ट रूप में विद्यमान रहकर परलोक में स्वर्गादि में फल देगा। इस प्रकार पृथ्वीलोक में, तथा अन्यत्र दूसरे उत्तम या अधम लोकों में फल देने वाले विभिन्न कर्म स्वभाव से ही काल विशेष में एवं देश विशेष में फलित होने योग्य होते हैं, इसी कारण से प्राणी को बार-बार पुनरावृत्ति का शिकार होना पड़ता है। किन्तु विवेक, वैराग्यपूर्वक तप:श्रद्धायुक्त पुरुष सत्य की खोज में आजीवन लगे रहते हैं, वे अर्चिरादिमार्ग से ब्रह्मलोक तक गति करने में समर्थ होते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती और जो पवित्र अन्त:करण वाले संध्यावन्दनादि नित्य कर्मों को निष्काम भाव से करके शास्त्रज्ञानुसार वानप्रस्थ होने के अनन्तर, संन्यास रूप त्याग का यथार्थ आचरण करके, देहेन्द्रियादि से अत्यन्त भिन्न आत्मा के नित्य शुद्ध, व्यापक स्वरूप को मरने के पहले ही जान लेते हैं, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं तथा मृत्यु के अनन्तर विदेह मुक्त होते हैं। मरण के समय इनके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, अत: उनके आवागमन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि जनम-मरण रूप संसारचक्र का मूल कारण अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान अर्थात् अविद्या है। यह अविद्या ही फलाभिनिवेशपूर्वक कर्म करने को बाध्य करती है, परन्तु विद्या से इस अविद्या का नाश हो जाने पर देहादि से होने वाले क्रियमाण कर्मों के उपरान्त प्रारब्ध, संचित कर्म भी भस्मसात् हो जाते हैं, ऐसे कर्म दग्धबीज के समान फल उत्पन्न करने की क्षमता खो देते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि विद्या और कर्म परस्पर विरोधी नहीं हैं, अर्थात् विद्या उत्पन्न होने के बाद भी ज्ञानी निष्काम-लोक संग्रात्मक, कर्मों को करते रहने पर भी उनके फल भोगने के लिये बाध्य नहीं हैं। अत: कर्म मात्र त्याज्य है, ऐसा मत एकांगी एवं अशास्त्रीय है, इसी विषय को स्पष्ट करने के

44. बृहदारण्यकोपनिषद, 6.2.10-13
45. बृहदारण्यकोपनिषद, 6.2.13-14

लिये भगवान् ने गीता में विस्तार से, संन्यास, त्याग, कर्मयोग, भक्ति, ज्ञान इत्यादि विषयों का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया है।

अब प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं। आगे बताई गई पंचाग्नि विद्या में चतुर्थ आहुति अन्न है, जिसे पुरुषाग्नि में होमा जाता है। यह यज्ञ रोज होता है, तथा इन्द्रियगम्य विषय होने से समझने में अपेक्षया सुकर भी है। पंडित मधुसूदन ओझा ने इसको वैज्ञानिक ढंग से समझाया है। यह अत्यन्त उपयोगी भी है, अतः इसका संक्षेप में विवरण देना आवश्यक है। भौतिक रूप में प्राप्त होने वाला अन्न वास्तव में प्राणमय, देवमय एवं मनोमय है, इसी कारण अन्न से प्राण तृप्त होते हैं, मूलसत्ता से सर्वप्रथम निष्पन्न होने वाला सत्वरूप मन भी अन्न के सूक्ष्म अंश से उपबृंहित हो सर्वकर्मसामर्थ्य प्राप्त करता है —

"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमस्तन्मांसम्। योऽणिळस्तन्मनः।[46]

वस्तुतः अन्न से क्रम से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओजस् और अन्त में मन बनता है। पंडित ओझा लिखते हैं —

"मुक्तस्यैवान्नस्य परिपाकवशादिमे रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्रौजोमनांसि धातवो विकारा उत्पद्यास्मिन् प्राणकोशे प्रणिधीयन्ते। तत्रैतदन्नमयं मनः चान्द्रत्वाद्दिप्यम्। ओजस्तु वायुरसत्वादान्तरिक्ष्यम्। अथ शुक्रान्तः पार्थिवो भावः तदित्थं —

"सप्तचितिकोऽयमन्नमयकोशः शरीरम्।"

रेतः, श्रद्धा, यशः इति हि चान्द्रमसास्त्रयो भावाः। शुक्राण्योषधीर्जनयित्वाऽन्नमावापः कल्पते। तत्रेदं शुक्रं रेतः सोमरसश्चन्द्रकिरणात् प्रवृज्यौषधिद्वारैतस्मिन्शारीरे प्राणे प्रचीयते। . . .जन्मनक्षत्रादारभ्यैतदष्टाविंशति नक्षत्राणि यावत्प्रत्यहं नक्षत्रभेदात्प्रभिद्यमानाः सहःसंज्ञाः सोमरसा अष्टाविंशे अहन्येकमष्टाविंशतिकलं पिण्डं जनयन्ति।"[47]

तात्पर्य यह है कि अन्नरस सब चन्द्राधिष्ठातृ देवता से अनुगृहीत औषधियों का रस होने से सोमरस है, रस से शुक्र तथा ओज तक के धातु प्राणकोश में निहित रहते हैं। जन्म नक्षत्र से प्रारंभ करके अट्ठाईस नक्षत्रों तक प्रतिदिन भिन्न-भिन्न सहःसंज्ञक सोमरस उत्पन्न होकर अट्ठाईस कलाओं वाले पिण्ड को उत्पन्न करते हैं। ये प्रतिमास नये उत्पन्न होने वाले पिण्ड पूर्व उत्पन्न हुए पिण्ड के त्रिविध क्षय के बाद ही पैदा होते हैं। सामान्य गृहस्थ, शास्त्रोक्त संयमपूर्वक जीने वाला गृहस्थ तथा यति इन तीनों के शरीर में ये पिण्ड क्रमशः अधःस्रोत, तिर्यक्स्रोत एवं ऊर्ध्वस्रोत होते हैं —

46. छान्दोग्य उपनिषद्, 6.5.1

47. ओझा, पंडित मधुसूदन शर्मा, पितृ समीक्षा, लखनऊ, 1937, पृष्ठ 27

"तत्र प्रतिमासमन्यान्यमासिक पिण्डस्यामनिवृत्तौ पूर्वः पूर्वः पिण्डोधःस्रोता वा तिर्यक्स्रोता वा ऊर्ध्वस्रोता वाऽपक्षीयते। व्यवायिनां गृहमेधिनामधारैतसां पिण्डोऽयमधः स्रोतसा स्त्रीशरीरे गत्वाऽपक्षीयते। गृहमेधिनामपि संयतानां शुक्रप्रवाहस्यैतच्छरीरपरिपुष्टिहेतुभूतौजोरसजनकतया पिण्डोयं तिर्यक्स्रोतसाऽपक्षीयते। ब्रह्मचारिणान्तु यतीनां योगिनां मनीषिणामहर्निशचिन्ताशीलत्वादूर्ध्वरेतसामूर्ध्वं शीर्ष्णि गत्वाऽयं शुक्रप्रवाहो मनोभावाय कल्पते। यावदधिकं चिन्तयते तावच्छुक्रं वीयते तेन ते कृश्यन्ति न मेधन्ति न प्रजा जनयन्ति ॥[48]

अर्थात् औषधिसमूहरूप अन्न के रस से उत्पन्न होने वाला रेतस् नीचे की ओर, ईर्द गिर्द तथा ऊपर की ओर गतिवाला होता है। स्त्रीसंगी गृहस्थों का शुक्र स्त्री शरीर में जाकर क्षीण होता है क्योंकि वे अधोरेता होते हैं। संयमी गृहस्थ तिर्यक्स्रोता होते हैं क्योंकि संतान उत्पादन जिनता ही रेतस् स्त्री शरीर में और शेष शरीर में ओजरूप से परिणत होकर क्षीण हो जाता है। मनस्वी योगी, यति चिन्तनशील होते हैं, निरन्तर आत्मचिन्तन में रत होने से उनका रेतस् ऊर्ध्वगामी होकर मस्तक में पहुँचने पर मन बन जाता है।

आगे बताया गया है कि मनुष्य में अन्नपानादिसे जो शुक्र उत्पन्न होता है, उसमें 28 सहः नामक तत्त्व होते हैं, तथा अपने पूर्व पुरुषों से प्राप्त 56 सहः को मिलाकर कुल 84 सहः होते हैं। इनमें से 21 अपने पिता के, 15 पितामह के, 10 प्रपितामाह के, 6 वृद्ध पितामह के, 3 अतिवृद्धप्रपितामह के तथा एक वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह अर्थात छठें पुरुप के होते हैं। यह छठे पुरुष का एक मात्र सहः अंश स्वशरीर में ही समाप्त हो जाएगा अतः व्यक्ति के पुत्र में वह नहीं जायगा। इस प्रकार वर्तमान बीजधारी पुरुष के शरीर में जो सहः तत्त्व हैं, उनमें से 7 स्वशरीर में ही रहेंगे, तथा पुत्र में 29, पौत्र में 15, प्रपौत्र में 10, चौथे सन्तान में 6, पाँचवे में 3 और छठे में एक सहः अंश जायेगा। इस प्रकार वर्तमान पुरुष को मध्य में रखते हुए, उसके पूर्व हुए 6 पुरुषों से और स्वयं के आगे पुत्रादि 6 पुरुषों तक सापिण्ड्य माना जाता है।

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
सप्तमः पिण्डदस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्।

अर्थात् अपने पितामातादि तीन पुरुषों के साथ हमारा सम्बन्धसूत्र घनिष्ठ होने से ये पिण्ड-भागी हैं, चतुर्थ से सात पुरुषों तक सामान्य सम्बन्ध सूत्र होता है, अतः वे केवल लेपभागी हैं। इस प्रकार सापिण्ड्य सम्बन्धसूत्र सात पुरुषों तक विद्यमान रहता है, अतः जिस कन्या से हमारा सात पुरुषों तक सम्बन्ध रहता है, उसमें एक ही पुरुष के सहः तत्त्व विद्यमान होने से उससे विवाह सम्बन्ध निषिद्ध माना गया है। इसी सहःसम्बन्धसूत्र के आधार पर श्राद्ध विधि में सापिण्ड्य प्रक्रिया सम्पन्न

---

48. वही, पृष्ठ, 27

की जाती है। मासिक श्राद्धपिण्डों का भोग करता हुआ सूक्ष्मदेहधारी प्रेत क्रमशः एक संवत्सर में चन्द्रमण्डल तक पहुँचता है। वहाँ इसके जो पूर्व पुरुष विद्यमान हैं, उनके साथ इसका सम्बन्ध जोड़कर इसे पितृ श्रेणी में स्थान दिलाया जाता है, इसी को सपिण्डीकरण कहा जाता है। सात पुरुषों तक ही यह प्रक्रिया चलती है, तदनन्तर अगले पुरुष का कोई अंश पृथ्वी में न रहने से वह इस लोक के सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है, और कर्मानुसार या तो ऊर्ध्व देवादि लोक में चला जाता है या पुनः मनुष्य शरीर धारण करके पृथ्वी पर लौट आता है।

पंडित ओझा जी के मतानुसार अन्य श्राद्धक्रियाओं से गयामें पिण्डदान करना श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे अपने कर्मों के परिणामस्वरूप चन्द्रलोक तक न पहुँचकर अन्यत्र दुर्गति के भागी बने प्राणियों के समुद्धार की संभावना है। क्योंकि वहाँ श्राद्ध करने से असंग जाति के गय नामक विशिष्ट प्राण के बल से भूतात्मा जो कि अपने कर्मों के बन्धन में आबद्ध है, वह उस बन्धन से छूटकर मुक्त हो जाता है। गया श्राद्धरूप यह पितृऋणमोचन कर्म सबसे श्रेष्ठ है। इसी कारण कहा गया है —

एष्टव्या बहवो पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुदसृजेत्॥

भारतीय संस्कृति औरस पुत्र न हो तो दत्तक पुत्र के द्वारा किये गये पिण्डदानादि श्राद्धकर्म का महत्त्व स्वीकार करती है, क्योंकि पिण्डपूर्त्ति की आवश्यक प्रक्रिया न होने पर प्राणी पृथिवी से आबद्ध रहकर मुक्ति का भागी नहीं होता।

पार्थिव देह के छूट जाने पर जीव स्वयं अपनी मुक्ति का साधन नहीं कर सकता तथा पुत्रादि द्वारा यथाविधि श्राद्ध कर्म न होने पर भी सद्गति दुर्लभ हो जाती है, अतएव जीवनकाल में ही विवेकी पुरुष को स्वपौरुषमात्रसाध्य अपनी इष्ट वस्तु का स्वयं त्याग करके, सारी आसक्तियाँ छोड़कर अपनी आत्मा का उद्धार स्वयं ही कर लेना चाहिये यही बात स्पष्ट रूप से बता देने का मुख्य हेतु "पितृसमीक्षा" ग्रंथ लिखने के पीछे पंडित ओझा जी के हृदय में निहित होगा, ऐसा कहने में किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं है।

यह संक्षिप्त ग्रंथ अर्थगांभीर्य की दृष्टि से तथा विषय गौरव की दृष्टि से सर्वथा मूल्यवान है। केवल व्यक्त इन्द्रियगम्य पदार्थों का विश्लेषण करने को विज्ञान मानने वाली नई पीढ़ी, शास्त्रोक्त धर्मकर्म को अन्धश्रद्धाप्रेरित मानकर उससे विमुख होती जा रही है। इस ग्रन्थ का गहन अनुसन्धान करने वाले किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति को इसमें प्रतिपादित विषयों की यथार्थ वैज्ञानिकता अवश्य समझ में आवेगी, तथा अपने तथा मनुष्य जाति के कल्याण-मंगल के लिये शास्त्रोक्त सन्मार्ग पर आग्रहपूर्वक चलने की प्रेरणा मिलेगी इसमें संदेह नहीं।

पण्डित मधुसूदन ओझा - विरचित
गीता विज्ञान भाष्यः (प्रथम काण्ड)
अश्रुतपूर्व-पथ-प्रदर्शक

डॉ. नरेन्द्र अवस्थी*

"गेयं गीता नाम सहस्त्रं,
ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्त्रं ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं
देयं दीनजनाय च वित्तं ॥"[1]

भगवान् शङ्कराचार्य का उपर्युक्त आदेश प्रत्येक व्यक्ति के लिये श्रीमद्‌भगवद्गीता के पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन, प्रचारण-प्रसारण में सहज रूप से सहायक है । सामान्य व्यक्तियों के लिये तो यहाँ तक कह दिया गया कि —

"गीताः सुगीताः कर्त्तव्याः किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः"

जबकि कम से कम 8वीं शताब्दी से लेकर, जब से आद्य शङ्कराचार्य का अवतरण हुआ है, १९वीं शताब्दी तक, जबकि विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा जी का जन्म हुआ, विद्वता की कसौटी ही प्रस्थानत्रयी पर स्वतन्त्र लेखन अथवा चिन्तन रही है । सभी सम्प्रदाय प्रवर्तकों ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर अपने स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत कर इस कसौटी पर अपने आपको खरा उतारने की महती चेष्टा की है ।

पंडित ओझा जी ने भी अपने पश्चिम वयस् में पूर्व जीवन के अभूतपूर्व चिन्तन को गीता विज्ञान भाष्य के माध्यम से अतीव उदात्त रूप में प्रस्तुत किया है । जिस प्रकार एक वैश्य अपनी अन्तिम अवस्था में पूर्व में संगृहीत धन राशि को लोक कल्याण के लिये दान-पुण्यादि के द्वारा सत्कार्य में व्यय करना चाहता है उसी प्रकार एक ब्राह्मण अपने समस्त जीवन में संगृहीत ज्ञान राशि को लेखन-प्रकाशन के माध्यम से लोक कल्याण के लिये समर्पित करना चाहता है अथवा सच्छिष्य को वह सम्पूर्ण ज्ञानराशि प्रदान करना चाहता है । पंडित ओझा जी ने गीता विज्ञान भाष्य के माध्यम से उसी ब्राह्मण की तरह कार्य किया है । गीता विज्ञान भाष्य के माध्यम से उन्होंने अपने सम्पूर्ण चिन्तन का सागर लोक कल्याण के लिये उंडेल दिया है ।

---

* सह आचार्य, संस्कृत-विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर ।

1. श्रीमदाद्यशंकराचार्यविरचित 'चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्',14

उनका गीता विज्ञान भाष्य एक ओर जहाँ सामान्य आस्थावान् व्यक्ति की श्रीकृष्ण तथा उनके उपदेशों के प्रति आस्था को दृढ़तर करता है वहीं दूसरी ओर विद्वन्मूर्धन्यों को भी श्रीमद्भगवद्गीता की तरफ देखने के लिये ज्ञान अथवा भक्ति अथवा कर्म की पृथक्-पृथक् प्रचलित दृष्टियों से भिन्न एक सर्वाङ्गपूर्ण बुद्धियोग रूपी सकल कल्याणकारिणी दृष्टि प्रदान करता है ।

मुझे यह कहने में भी कोई अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती कि कोई घोर नास्तिक व्यक्ति भी यदि उनके गीताविज्ञानभाष्य को, अनिच्छा से ही सही, एक बार भी पढ़ लेगा तो वह न केवल आस्तिक बन जायेगा अपितु स्वयं, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के बारे में उसका समूचा दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो जायेगा । पंडित ओझा जी का तो यहाँ तक कहना है कि जो कोई भी व्यक्ति श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित बुद्धियोग का आश्रय लेकर अपना जीवन यापन करेगा वह ऐश्वर्यादि[2] छः भागों को प्राप्त कर भगवान्-ईश्वर भी बन सकता है ।[3]

गीताविज्ञानभाष्य लिखने का औचित्य

परम्परागत विद्वत्समाज गीता को महाभारत रूपी इतिहास ग्रन्थ का अङ्ग मानकर गीता को भी ऐतिहासिक ग्रन्थ ही स्वीकार करता है तथा उसको 700 श्लोकों वाली और अष्टादश अध्यायों में विभक्त ऐतिहासिक कृति मानता है । उन विद्वानों के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता के आरम्भिक प्रथम से षष्ठ अध्याय पर्यन्त ज्ञानयोग का विवेचन, सप्तम से द्वादश अध्याय तक भक्तियोग का तथा त्रयोदश से अन्तिम अष्टादश अध्याय पर्यन्त कर्मयोग का विवेचन है । इस प्रकार 280 श्लोक ज्ञानयोग विषयक, 209 श्लोक भक्तियोग विषयक और 211 श्लोक कर्मयोग विषयक हैं ।

पंडित ओझा जी के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता को मात्र ऐतिहासिक ग्रन्थ समझना भयंकर भूल है । अपितु वह तो एक सर्वथा वैज्ञानिक शास्त्र है जिसमें कि ब्रह्म-कर्म से विशिष्ट आत्मविद्या का प्रतिपादन करते हुए बुद्धियोग का विधान किया गया है ।[4] गीता का वैज्ञानिक क्रम यह है कि इसमें चार विद्याएँ, चौबीस उपनिषद् तथा 160 उपदेश वर्णित हैं ।[5]

---

2. गीताविज्ञानभाष्य (प्रथम काण्ड) पृ.1
"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।"
3. गीताविज्ञानाभाष्य, "बुद्धियोगवशाज्जीवो विद्यावीर्य्यप्रभावतः ।
षण्णां भगानामाधानाद् भगवानीश्वरो भवेत् ॥"
4. गीताविज्ञानाभाष्य, पृ.12
"अस्ति वैज्ञानिकं शास्त्रं गीतेयं ब्रह्मकर्म्मणोः ।
विशिष्येहात्मविद्यायां बुद्धियोगो विधीयते ॥"
5. गीताविज्ञानभाष्य "यस्तु वैज्ञानिकानत्र विभागान् ज्ञातुमिच्छति ।
वैज्ञानिकक्रमस्तस्मै भिन्नवत् परिदर्श्यते ॥
सन्ति चतस्रो विद्या उपनिषदो विंशतिश्चतस्रश्च ।
उपदेशाः षष्टिशतं यस्यां सैषानुगीयतां गीता ॥"

गीता के वैज्ञानिक शास्त्रत्व की स्पष्ट प्रतिपत्ति न होने में दो दोष हैं एक तो यह मानना कि महाभारत के युद्ध में उपदिष्ट होने के कारण गीता ऐतिहासिक ग्रन्थ ही होना चाहिये और दूसरा है उपलब्ध तथा प्रसिद्ध व्याख्याओं में दोष।[6] ऐतिहासिक रूप कषाय से अनुरक्त होने के कारण ही गीता में वर्णित विज्ञान प्रकाशित नहीं होता है।[7]

विद्यावाचस्पति जी बड़े दुःख के साथ निवेदन करते हैं कि गीता की प्रचलित अनेक व्याख्याएं तो केवल श्लोकों का शब्दार्थ मात्र प्रस्तुत करती हैं, गीता में स्थापित विद्या का तो उनमें दर्शन भी नहीं है। उन लोगों ने गीता के हृदय को, जो कि सर्वथा वैदिक है, बहुत दूर फैंक दिया है। गीताविज्ञानभाष्य को रचने की सर्वप्रमुख आवश्यकता अथवा औचित्य यही है कि अतिदूर क्षेपित उस गीता हृदय का पुनरुद्धार किया जावे।[8]

बाह्याडम्बरमात्र में आसक्त पुरुषों को ऐतिहासिक दृष्टि से मानुषकृष्ण का स्वरूप भले ही यथाकिंचित् समझ में आ जाय लेकिन ईश्वरकृष्ण का पारमार्थिक स्वरूप तो गीतोपनिषद् के प्रति बिना विज्ञान दृष्टि रखे समझ में नहीं आ सकता। अतः गीताशास्त्र के वैज्ञानिक भाष्य का अवश्य अवलोकन करना चाहिये क्योंकि उसके बिना गीता का हृदय प्रकट नहीं हो सकता।[9]

प्रतिपाद्य विषय

रहस्य काण्ड नामक प्रथम काण्ड में समीक्षा चक्रवर्ती जी ने तीन प्रकार के रहस्यों को प्रस्तुत किया है —

(1) नामरहस्य

(2) शास्त्र रहस्य, और

(3) विषय रहस्य

6. गीताविज्ञानभाष्य, "या एता इह विद्या उपदिष्टाः सन्ति ताः सर्वाः।
इतिहास क्रमहेतोर्व्याख्यादोषाच्च नाऽऽभान्ति॥
भगवद्गीतोपनिषद् भारतयुद्धप्रसङ्ग उपदिष्टा।
तत इतिहासग्रन्थाध्यायक्रमतोऽद्य सा प्रथते॥"

7. गीताविज्ञानभाष्य, "अतएव चैतिहासिकरूपकषायानुरक्तायाम्।
गीतायामुपदिष्टं विज्ञानं साधु नाऽऽभाति॥"

8. गीताविज्ञानभाष्य, पृ.12
"बहवो गीता व्याख्या भवन्ति ताः श्लोकशब्दार्थम्।
दर्शयितुं प्रयतन्ते न तु विद्या दर्शयन्त्येताः॥
गीताहृदयं वैदिकमतिदूरं क्षेपितं लोकैः।
पुनरुद्धरिष्यतीदं गीताविज्ञानभाष्यं तत्॥"

9. गीताविज्ञानभाष्य, पृ.14, "त एव त्वीश्वरं कृष्णं पश्यन्ति परमार्थतः।
विज्ञानतो ये पश्यन्ति गीतोपनिषदं पराम्॥
नाभाति गीताहृदयं विना विज्ञानभाष्यतः।
पश्यन्तु गीताशास्त्रस्य भाष्यं वैज्ञानिकं ततः॥

प्रस्तुत निबन्ध में नाम रहस्य तथा शास्त्र रहस्य का संक्षेप में निरूपण कर विषय रहस्यान्तर्गत बुद्धियोग का विवेचन करना ही प्रमुख लक्ष्य है ।

(1) नाम रहस्यान्तर्गत

भगवद्गीता एवं उपनिषद् शब्द रहस्य

नाम रहस्य के अन्तर्गत भगवान्, गीता और उपनिषद् इन तीन शब्दों का रहस्य प्रकट किया गया है । इन तीनों शब्दों से मिलकर ही श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् शब्द बनता है ।

भगवान् से तात्पर्य है कि जिसमें ऐश्वर्य, धर्म, यशः, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः भग अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में रहें । जो तत्त्व सूर्य के समान स्वतः भासित होता रहता है वह तत्त्व अर्थात् आत्मज्योति 'भासते' के अनुसार 'भम्' नाम से व्यपदिष्ट है अथवा जिस तत्त्व के संयोग से व्यक्ति भा युक्त, चेतना युक्त या प्रकाशित होता है वह 'येनासौ भाति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भम् कहलाता है । आत्मतत्त्व ही वह तत्त्व है जिससे व्यक्ति चेतनायुक्त होता है । अपि च, जिन शक्ति विशेषों से इस आत्मज्योति रूप भं का दर्शन अथवा प्राप्ति होती है वे शक्ति विशेष ही 'येन भं प्राप्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भग नाम से अभिहित होते हैं । इन भगों से जो युक्त है वही भगवान् है ।

यद्यपि बादरायण, कपिल आदि ऋषियों के लिये श्री भगवान् शब्द का प्रयोग किया जाता है लेकिन उनमें छहों भगों का पूर्ण रूप में विकास नहीं है अपितु कुछ भगों का ही है । छहों भगों का पूर्ण विकास तथा नित्य पूर्ण विकास तो अव्यय पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण में ही है । अतएव यह उक्ति सार्थक सिद्ध होती है — 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं', इतना ही नहीं श्रीकृष्ण को अच्युतभगवान् तथा जगद्गुरु भी कहा जाता है क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम चारों प्रकार के बुद्धियोगों का स्वरूप संसार के सामने रखा ।

गीता शब्द उपनिषद् का विशेषण होकर भगवान् के द्वारा गायी गई उपनिषद् इस अर्थ को प्रस्तुत करता है । पूर्व में सूक्ष्म रूप से कही हुई बात का विस्तार से कथन करना ही गान कहा जाता है । भगवान् श्रीकृष्ण ने भी क्षौत उपनिषदों में संक्षिप्त रूप से कथित अव्यय विद्या का विशद रूप से स्पष्ट ज्ञान के लिये पुनः गान किया है इसीलिये यह उपनिषद् या ब्रह्मविद्या या बुद्धियोगनिष्ठा गीता शब्द से विशेषित है ।

गीता नाम का रहस्य बतलाते हुए पंडित ओझा जी ने जो सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु उपस्थित किया है वह यह है कि परम्परागत वृद्ध व्यवहार जो गीता को स्मृति मानता आ रहा है वह सर्वथा

अनुपयुक्त है । गीताशास्त्र स्मृति नहीं अपितु श्रुति है ।[10] पंडित ओझा जी ने ऐसे हठी व्यक्ति के लिये जो कि गीता को श्रुति न मानने का ही दुराग्रह करता रहे उसके लिये भी 'तुष्यतु दुर्जन न्याय' का आश्रय लेकर एक दूसरा विकल्प प्रस्तुत किया है और वह यह है कि दो प्रकार की उपनिषदें होती हैं श्रौती उपनिषद् और स्मार्त्ती उपनिषद् । गीता श्रौती उपनिषत् ना सही लेकिन स्मार्ती उपनिषद् है परन्तु किसी भी अवस्था में वह स्मृति तो नहीं ही है ।[11]

आश्चर्य की बात है कि पण्डित मधुसूदन ओझा जी के साक्षात् शिष्य श्रद्धेय पं. मोतीलाल जी शास्त्री ने उपर्युक्त दूसरे विकल्प का आश्रय लेकर श्रीमद्भगवद्गीता को स्मार्त्ती उपनिषद् मानने की सलाह दी है[12] लेकिन प्रस्तुत निबन्ध का लेखक पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री से विनम्र असहमति रखता हुआ पण्डित मधुसूदन ओझा जी का ही अनुकरण करने की इच्छा रखता है ।[13] इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि महाराष्ट्र के प्रातःस्मरणीय सन्त परम श्रद्धेय ज्ञानेश्वर महाराज जी के शिष्य श्रद्धेय श्री गुलाबराव जी महाराज ने तो श्रीमद्भगवद्गीता को न केवल श्रुति अपितु जाग्रत श्रुति स्वीकार किया है ।

उपनिषद् शब्द का रहस्य प्रकट करते हुए पण्डित ओझा जी ने वेदों के अन्तिम भाग को ही उपनिषद् मानने की परम्परागत रूढि को तोड़ दिया है । उनका कहना है कि कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्ति के लिये स्वीकृत किया गया जो सिद्धान्त विशेष या नियम विशेष है वही उपनिषद् है न कि केवल आत्मविद्या का प्रतिपादक उपनिषद् है ।[14] अपनी इस मान्यता के लिये प्रमाणरूप में उन्होंने भगवान् शङ्कराचार्य को तथा स्वयं छान्दोग्य उपनिषत् को प्रस्तुत किया है —

---

10. गीताविज्ञानभाष्य, पृ5, "भगवताऽच्यतेनैव प्रथमं दृष्टत्वादव्ययब्रह्मविषयं बुद्धियोगकर्म्मविषयं चेदं श्रीकृष्णवाक्यं श्रुतिरिवोपपद्यते । द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः, श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिरिति सिद्धान्तात् । निरपेक्षो स्वः श्रुतिः स्वतः प्रमाणमित्याहुः । द्रष्टुर्वाक्यत्वाच्चेयं गीता श्रुतिः सती सत्यतायां प्रमाणान्तरनिरपेक्षत्वात् स्वतः प्रमाणं भवति । न तु इथरस्मृतिवत् परतः प्रामाण्यमपेक्षते ॥ विषय के विशेष विवेचन के लिये द्रष्टव्य पंडित मोतीलाल जी शास्त्री द्वारा लिखित गीताविज्ञानभाष्य भूमिका प्रथम खण्ड ।

11. गीताविज्ञानभाष्य, पृ6, "अथवा तुष्यतु दुर्जनन्यायेनेदम परं ब्रूमः ।
द्विविधा ही यमुपनिषद् भवति-श्रौती स्मार्त्ती च । तत्र भेदकरणविवक्षया स्मार्तोपनिषदि गीता शब्दः प्रयुज्यते ।"

12. गीताविज्ञानभाष्य भूमिका, प्रथम खण्ड, पृ.91-92

13. द्रष्टव्य लेखक का राजस्थान-पत्रिका के 29 जुलाई 1990 के अङ्क में प्रकाशित 'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का रहस्य' नामक निबन्ध ।

14. गीताविज्ञानभाष्य, पृ8, "नैतदात्मविद्यात्वमेतस्योपनिषच्छब्दस्य पदार्थावच्छेदकं भवति । अपितु तत्तत्कर्मकलापेतिकर्तव्यता प्रकारविशेषोपपादकत्वेन व्यवस्थिते विज्ञानसिद्धान्तेऽयमुपनिषच्छब्दो निरूढः ।...
कर्मणि कर्त्तव्ये प्रवृत्तिहेतुः कृतसिद्धान्तो नियमविशेष उपनिषद् इति यावत् ।"

अतएव

"आरण्यमियान्न पुनरेयादित्युपनिषदिति वैरवानसेभ्योनियमो विधीयते ।"
(शारी: 3/4/38 भाष्ये)
"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीयवत्तरं भवति"

इति छान्दोग्यश्रुतिवचने च लोकवेदसाधारण्येन सर्वकर्म्माभिप्रायेणोपनिषच्छब्दः प्रयुज्यते ।"[15]

उनके अनुसार जो अर्थ अंग्रेजी भाषा के 'Principle' इस शब्द का है वही अर्थ संस्कृत भाषा के उपनिषत् शब्द का है ।

गीता शास्त्र रहस्य

शास्त्र रहस्य का उद्घाटन करते हुए पण्डति ओझा जी सर्वप्रथम गीता को ऐतिह्य शास्त्र न मानकर वैज्ञानिक शास्त्र सिद्ध करते हैं तथा कहते हैं कि इस गीताशास्त्र को हम दो भागों में, चार भागों में, दश भागों में, सोलह भागों में, चौबीस भागों में अथवा एक सौ साठ भागों में बाँट सकते हैं ।

यथा —

(1) द्विधा — ब्रह्मविज्ञानम्, कर्म्मविज्ञानम् ।
(2) चतुर्धा — वैराग्यविद्या, ज्ञानविद्या, ऐश्वर्यविद्या और धर्म्मविद्या ।
(3) दशधा — आत्मा, आत्मधात्, चातुर्विद्यम्, शोकनिवारणम्, ईश्वरत्वम्, शोककारणम्, त्रिवीर्य्यम् बुद्धियोग, धातुसाम्यम्, प्रतिष्ठा ।
(4) षोढशधा — विद्याचतुष्टयी, बुद्धियोगचतुष्टयी, साम्यवादचतुष्टयी और आत्मदर्शन चतुष्टयी
(5) चतुर्विंशतिधा — 24 उपनिषदें गीता में हैं —

उपक्रम में एक, राजर्षिविद्या में आठ, सिद्धविद्या में दो, राजविद्या में तीन, आर्ष विद्या में सात और उपसंहार में तीन ।

(6) षष्टिशतधा — 160 उपदेश गीता में हैं —

उपक्रम में दो, राजर्षिविद्या में पचास, सिद्धविद्या में उन्नीस, राजविद्या में बत्तीस, आर्षविद्या में उन्चास और उपसंहार में आठ ।

---

15. गीताविज्ञानभाष्य, पृ.1

वैज्ञानिक शास्त्र के रूप में गीता हमें निम्नलिखित दशविध अर्थों की शिक्षा देती हैं ।[16]

(1) आत्मयोग की शिक्षा — गीता बुद्धियोग का शास्त्र होने के कारण और बुद्धियोग ज्ञानयोग और कर्म्मयोग का समुच्चित रूप होने के कारण आत्मज्ञान का शास्त्र भी है और योग शास्त्र भी है ।

(2) आत्मा की शिक्षा — क्षर-अक्षर और अव्यय भेद से त्रिधातुक पुरुष ही आत्मा है ।

(3) आत्मधातुओं की शिक्षा — विद्या और वीर्य आत्मा की दो धातुएँ हैं । मनोमयविज्ञानगर्भित आनन्द ही विद्या है, वही ज्ञान है । मनोमय प्राणगर्भिता वाग् ही वीर्य है, वही कर्म है ।

(4) धातुसाम्य की शिक्षा — विद्या समुच्चित वीर्य का प्रयोग कर ज्ञान और कर्म के समत्व की प्राप्ति ही धातु साम्य है ।

(5) बुद्धियोग की शिक्षा — अव्ययात्मा की अंशभूत विद्या में विज्ञानात्मा की अंशभूत चतुर्विध विद्या बुद्धि का संयोग ही बुद्धियोग है ।

(6) चातुर्विद्य की शिक्षा — अव्यय, विद्या, बुद्धियोग और समत्व ही चातुर्विद्य है ।

(7) त्रिवीर्य्य की शिक्षा — ब्रह्म, क्षत्र और विड् ये तीन वीर्य हैं ।

(8) शोक के कारण की शिक्षा — विद्या नाश और कर्म नाश ये दो शोक के कारण हैं ।

(9) शोकनिवारण की शिक्षा — आत्मविद्या और निष्काम कर्म ये दो शोकनिवारण के हेतु हैं ।

(10) ईश्वरसाधर्म्य की शिक्षा — चार प्रकार के बुद्धियोग में जीवात्मा में आत्मविद्या का उदय होने से भगवत्त्वसिद्धि होती है ।

शास्त्र रहस्य के अन्तर्गत ही पं. ओझा जी ने गीता में वर्णित पाँच प्रकार के साम्यवादों का वर्णन किया है —

(1) अनासक्ति साम्यवाद
(2) निष्काम साम्यवाद
(3) यज्ञार्थ साम्यवाद
(4) ईश्वरार्पणसाम्यवाद, और
(5) जीवात्मैकत्वसाम्यवाद

---

16. गीताविज्ञानभाष्य, पृ.15

अनासक्तिसाम्यवाद का उपदेश निम्न श्लोकों में —

'अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥6/1 ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पुरुषः ॥3/19 ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥3/7 ॥ इत्यादि[17]

निम्न श्लोकों में निष्काम साम्यवाद का उपदेश —

'कार्य्यमित्येव यत् कर्म्म नियतं कुरुतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विकोमतः ॥18/9 ॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिसृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥17/10 ॥
कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्फलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥2/47 ॥इत्यादि[18]

यज्ञार्थसाम्यवाद का उपदेश निम्न श्लोकों में —

"यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥3/9 ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते ॥4/23 ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्म समाधिना ॥4/24 इत्यादि[19]

निम्न श्लोकों में ईश्वरार्पण साम्यवाद का उपदेश —

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥9/29
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥9/27

---

17. श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या 2/38, 2/48, 2/15, 18/10, 12/15, 14/24, 14/25, 18/6 भी ।
18. श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक संख्या,18/17, 18/26, 3/41, 3/43, 18/6 भी ।
19. श्लोक संख्या,4/25, 4/26, 4/27, 4/28, 4/29, 4/30, 4/31, 4/32 भी ।

शुभाशुभफलैरेवं मोदयसे कर्म्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो सामुपैष्यसि ॥9/28 इत्यादि ।[20]

अन्तिम जीवात्मैकत्व साम्यवाद का उपदेश निम्न श्लोकों में —

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥7/19 ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्टानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥15/7 ॥

विद्या विनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥"5/18 ॥ इत्यादि[21]

साम्यवाद के निष्कर्ष के रूप में विद्यावाचस्पति जीं कहते हैं कि कोई व्यक्ति योगी है लेकिन आसक्त और कामकामी है वह क्लेश ही प्राप्त करता है और सब प्रकार के कर्म्मों का परित्याग करने वाला संन्यासी भी क्लेश ही प्राप्त करता है । इसके विपरीत आसक्ति और फलाकाङ्क्षा को त्याग कर कर्म करने वाला ही चाहे वह संन्यासी हो चाहे योगी, शान्तिसुख का अनुभव करता है ।[22]

विषयरहस्यान्तर्गत बुद्धियोगविद्यारहस्य

नाम रहस्य तथा शास्त्र-रहस्य प्रस्तुत करने के पश्चात् समीक्षाचक्रवर्ती जी ने विषय रहस्य का उद्घाटन किया है । श्रीमद्भगवद्गीता के विषयों का रहस्य उद्घाटित करते हुए वैसे तो उन्होंने आत्मदर्शनसमीक्षा, आत्मसमीक्षा, ब्रह्मकर्म्मसमीक्षा, कर्म्मयोगसमीक्षा, ज्ञानयोगसमीक्षा, भक्तियोगसमीक्षा आदि विषयों का विस्तार से निर्वचन किया है लेकिन विस्तारभय से यहाँ पर केवल बुद्धियोग विद्या के रहस्य का ही प्रतिपादन किया जा रहा है । उनके मत में गीता शास्त्र वस्तुतः बुद्धियोग शास्त्र ही है ।

---

20. श्लोक संख्या 3/30, 12/10, 18/46 भी ।

21. श्लोक संख्या 5/19, 5/20, 6/29, 6/32, 13/27, 13/28, 13/30, 13/31, 18/20, 13/16 भी ।

22. गीताविज्ञानभाष्य, पृ.47, "आसक्तः कामकामीयः स योगी क्लेशमश्नुते ।
सर्वकर्म्मपरित्यागी संन्यासी क्लेशमश्नुते ॥
कर्म्माण्यारभते यो हि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
स संन्यासी च योगी च स शान्तिसुखमश्नुते ॥

बुद्धियोग का स्वरूप बतलाते हुए पण्डित ओझा जी कहते हैं —

(1) गुणमयी योगमाया के आवरण से अप्रकाशित अव्यय के प्रकाशन का उपाय बुद्धियोग है ।[23]

(2) विद्याबुद्धि का अव्यय के विद्याभाग के साथ संयोग करना बुद्धियोग है ।[24]

(3) बुद्धि से युक्त स्वयं अव्यय भी बुद्धियोग है क्योंकि भगवान् ने स्वयं 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्'[25]

यह कहकर अव्यय शब्द से योग का कथन किया है ।[26]

सांख्य शास्त्र में बुद्धि आठ रूपों वाली बतलायी गयी है ।[27] धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं अथवा विद्या बुद्धियां हैं और अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश ये बुद्धि के तामसिक रूप हैं अथवा अविद्या बुद्धियाँ हैं । ये ही पंच क्लेश हैं ।

अविद्या का प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान, अस्मिता का ऐश्वर्य, रागद्वेष का वैराग्य और अभिनिवेश का धर्म है । दूसरे शब्दों में अविद्या का नाश ज्ञान से, अस्मिता का ऐश्वर्य से, रागद्वेष का वैराग्य से और अभिनिवेश का धर्म से होता है । चूँकि चार प्रकार की अविद्या बुद्धियों के नाश के लिये विद्या बुद्धियाँ भी चार हैं अतः बुद्धियोग भी चार प्रकार का है —

(1) वैराग्य बुद्धियोग

कामानुबन्धी राग है और क्रोधानुबन्धी द्वेष है । राग में आकर्षण बल का प्रयोग होता है और द्वेष में विक्षेपण बल का । काम-क्रोध रूपी दोषों से अनासक्ति ही वैराग्य है । राग, द्वेष और मोह परस्परानुभावित साहचर्य के कारण एक दूसरे के उपलक्षण होते हैं । इसीलिये राग-द्वेष-मोह शून्यता के लिये ही वैराग्य शब्द का प्रयोग होता है ।[28] यद्यपि विषयानुगत राग-द्वेष और मोह परस्पर

---

23. गीताविज्ञानभाष्य, पृ95, "गुणमययोगमायावरणादप्रकाशितस्याव्ययस्य प्रकाशोपायो बुद्धियोगः ।"
24. उपरिवत्, "विद्याबुद्धेरव्ययेन विद्या विभागावच्छेदेन योगो बुद्धियोगः ।
25. श्रीमद्भगवद्गीता 4/1
26. गीताविज्ञानभाष्य, पृ95, "बुद्ध्यायुक्तोऽयमव्ययोऽपि बुद्धियोगः,
"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥भ.गी.4/1
इति भगवताऽव्ययशब्देन योगस्योपदिष्टत्वात् ॥
27. सांख्यकारिका, 23
28. गीताविज्ञानभाष्य, पृ95

विरुद्ध सिद्ध होते हैं लेकिन आत्मा के द्वारा गृहीत होने पर ये तीनों राग ही हैं क्योंकि यदि द्वेष से राग नहीं होता तो व्यक्ति निश्चित रूप से विद्वेष छोड़ ही देता ।[29] इसलिये सब के मूल में राग ही है और इन तीनों के प्रति औदासीन्य ही वैराग्य है ।

इस वैराग्य बुद्धियोग को प्रकाशित करने के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण ने राजर्षि विद्या का उपदेश दिया है जिसके कि संक्षेप निम्नलिखित आठ सिद्धान्त या उपनिषद् है[30]

(1) कर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा में अनुशोक व्यर्थ है ।[31]
(2) बुद्धियोगी को कामासक्ति छोड़ देनी चाहिये ।[32]
(3) बुद्धियोगी को कर्म्म नहीं छोड़ना चाहिये ।[33]
(4) बुद्धियोग के विरोधी दोष छोड़ देने चाहिये ।[34]
(5) बुद्धियोग श्रीकृष्ण का निजी मत है ।[35]
(6) बुद्धियोग से विरोध न रखने वालों को ज्ञानकर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिये ।[36]
(7) बुद्धियोग में ज्ञान और कर्म्म दोनों का समावेश है ।[37]
(8) बुद्धियोग साधक कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिये ।[38]

(2) ज्ञानबुद्धियोग

विद्या और अविद्या ये दोनों प्रतिद्वन्द्वी हैं । यहाँ पर अविद्या से तात्पर्य विद्या का सर्वथा अभाव नहीं अपितु अल्पार्थ में नञ् का प्रयोग है । परिणामतः प्रसज्यप्रतिषेध न होकर पर्युदास है । अतः ज्ञानाभाव से समुच्चित ज्ञान ही अज्ञान या अविद्या है । भ्रमज्ञान या संशय ज्ञान ही अविद्या है ।[39] स्वयं भगवान् ने कहा है—

---

29. गीताविज्ञानभाष्य, पृ.95 । यहाँ पर यह भी आलोच्य है कि पण्डित ओझा जी ने स्पष्ट रूप से राग और द्वेष के साथ मोह का भी समायोजन वैराग्य बुद्धियोग के प्रसङ्ग में किया है लेकिन पं. मोतीलाल जी शास्त्री ने मोह शब्द से अविद्या क्लेश अर्थ लेकर उसका समायोजन अग्रिम ज्ञान बुद्धियोग के साथ किया है । विशेष परिज्ञान के लिये द्रष्टव्य गीताविज्ञानभाष्य भूमिका, प्रथम खण्ड, पृ.287
30. प्रस्तुत उपनिषदों का संक्षिप्तीकरण पं. मोतीलाल जी शास्त्री के अनुसार है ।
31. गीता के श्लोक संख्या 2/11 से 30 तथा 38 में इस उपनिषद् का वर्णन है ।
32. गीता के श्लोक संख्या 2/39 से 72 तक ।
33. गीता के श्लोक संख्या 3/1 से 32 तक ।
34. गीता के श्लोक संख्या 3/33 से 43 तक ।
35. गीता के श्लोक संख्या 4/1 से 4/9 तक
36. गीता के श्लोक संख्या 4/10 से 4/42 तक
37. गीता के श्लोक संख्या 5/1 से 6/9 तक
38. गीता के श्लोक संख्या 6/10 से 6/47 तक
39. गीताविज्ञानभाष्य, पृ.95-96

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव: ।"[40]

संसार में जहाँ कहीं भी भय है वह ज्ञानमिश्रित अज्ञान के कारण ही है । तत्त्वज्ञान से तो व्यक्ति अभय को प्राप्त हो जाता है ।[41] सुयोग से व्यक्ति सुखी होता है इसके विपरीत हीनयोग-मिथ्यायोग या अतियोग से व्यक्ति दु:खी होता है । यह सब प्रज्ञापराध के कारण होता है । अत: अविद्या भी दु:ख का कारण है ।[42]

इस अविद्या के नाशपूर्वक तत्त्वज्ञान के लिये ही भगवान् ने सिद्धविद्या का उपदेश दिया है । निम्न सिद्धान्त या उपनिषद् ज्ञानबुद्धियोग का प्रकाश करती हैं —-

(1) सम्पूर्ण विश्व प्रकृति-पुरुष का ही लीला क्षेत्र है ।[43] यही ज्ञानोपनिषत् है ।

(2) ब्रह्म-कर्म्म, अहो-रात्र, सर्ग-प्रलय एवं भक्तियोग ही प्रकृति का प्रकृतित्व है ।[44] यही विज्ञानोपनिषत् है ।[45]

(3) ऐश्वर्य बुद्धियोग

तृतीय अविद्या बुद्धि है अस्मिता । अस्मिता का शाब्दिक अर्थ है अविकास अस्मिता के कारण ही व्यक्ति शक्तिहीन होता है । जैसे कि शिशु के शरीर में प्रज्ञा, प्राण और भूत की मात्रा अस्मिता होने के कारण वह निर्बल होता है । युवावस्था में वही शिशु सभी मात्राओं के विकसित हो जाने पर बालोचित दु:खों से मुक्त हो जाता है । उसी प्रकार बुद्धि की अस्मिता भी ज्ञान में किञ्चिद् अज्ञान के समावेश का कारण है ।[46] इसी अस्मिता के नाश के लिये और महिमा या ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये भगवान् ने राजविद्या का उपदेश दिया है जिसकी निम्न तीन उपनिषद् हैं —

(1) ईश्वर के स्वरूप ज्ञान से ऐश्वर्यसिद्धि मिलती है ।[47]
(2) ईश्वर सम्बन्धी योग एवं विभूति विज्ञान ही ईश्वरभाव की प्राप्ति में मुख्य कारण हैं ।[48]
(3) ईश्वर की उपासना ही ईश्वरभाव प्राप्ति का अन्यतम द्वार है ।[49]

---

40. गीता,5/15
41. गीताविज्ञानभाष्य, पृ96, "यत्र क्व च विभेति, ज्ञानसमुच्चितादज्ञानादेव विभेति । तत्त्वज्ञात्त्वभयं भवति ।"
42. गीताविज्ञानभाष्य, पृ.96.
43. गीता के श्लोक संख्या 7/1 से 7/28 तक
44. गीता के श्लोक संख्या 7/29 से 8/28 तक
45. गीताविज्ञानभाष्य, पृ.102
46. गीताविज्ञानभाष्य पृ.96
47. गीता के श्लोक संख्या 9/1 से 34 तक
48. गीता के श्लोक संख्या 10/1 से 11 अध्याय तक
49. गीता का बारहवाँ अध्याय ।

(4) धर्म्मबुद्धियोग

भावना और वासना नामक संस्कारों के कारण हृदय में एक ग्रन्थिबन्ध हो जाता है जिसके कारण व्यक्ति अपने स्वाभाविक भावचतुष्टय को भूल जाता है अर्थात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन नैसर्गिक भावों पर आवरण आ जाता है - यही अभिनिवेश है । इस अभिनिवेश का अपक्षय या तो (1) प्रारब्धजन्य सुख-दुःखादि के भोग से, या (2) संस्कार सिद्ध विरुद्ध धर्मान्तरों के प्रत्याघात से, अथवा (3) अविद्या की प्रतिबन्धक विद्याबुद्धि के प्राबल्य से होता है । इनमें से प्रथम दो विकल्पों के प्रति तो व्यक्ति परतन्त्र है लेकिन अन्तिम विकल्प के प्रति व्यक्ति स्वतन्त्र है । व्यक्ति चाहे तो निवृत्तिकर्म से जनित विद्या के अतिशय या प्राबल्य को प्राप्त कर प्रवृत्तिकर्म्म जनति विषय वासना रूपी आत्मा के अधर्मों का नाश कर सकता है । इसी से व्यक्ति के स्वाभाविक धर्मों का उदय होता है ।[50] यही धर्म्मबुद्धियोग है । इसी को प्रतिपादित करने के लिये अच्युतभगवान् श्रीकृष्ण ने आर्षविद्या का उपदेश दिया है जिसमें कि निम्न सात उपनिषद् हैं —

(1) प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं ।[51]

(2) सत्त्वरजस्तमोलक्षण गुणत्रयी ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है ।[52]

(3) अश्वत्थ वृक्ष ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है ।[53]

(4) देवता एवं असुर से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है ।[54]

(5) गुण एवं कर्म्म का प्रचय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है ।[55]

(6) अत्याज्य कर्म्म ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं ।[56]

(7) अनावरक कर्म्म ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं ।[57]

उपर्युक्त चारों प्रकार के बुद्धियोगों की 24 उपनिषदों में 150 उपदेश निहित हैं जिनका कि विस्तार भय से यहाँ संक्षिप्त निरूपण भी सम्भव नहीं है ।

---

50. गीताविज्ञानभाष्य, पृ96
51. गीता के श्लोक संख्या 13/1 से 35 तक
52. गीता के श्लोक संख्या 14/1 से 27 तक
53. गीता के श्लोक संख्या 15/1 से 20 तक
54. गीता के श्लोक संख्या 16/1 से 23 तक
55. गीता के श्लोक संख्या 17/1 से 18/40 तक
56. गीता के श्लोक संख्या 18/41 से 48 तक
57. गीता के श्लोक संख्या 18/49 से 56 तक

इस प्रकार वेदरहस्योद्घाटनप्रवण महामहोपदेशक पण्डित मधुसूदन ओझाजी ने श्रीमद्भगवद्गीता के विज्ञान भाष्य के माध्यम से एक अश्रुतपूर्व पथ का प्रदर्शन किया जो कि सर्वथा अभिनन्दनीय है।

अन्त में, निष्कर्ष रूप में श्रीमद्भगवद्गीता के उन्हीं श्लोकों को यहाँ प्रस्तुत करता हूँ जिन्हें स्वयं पण्डित ओझा जी ने सर्वनिष्कर्ष के रूप में उद्धृत किया है —

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥[58]
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥[59]
चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥[60]
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥[61]
सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥[62]

पुनश्चः भगवान् आद्यशङ्कराचार्य उद्धृत हैं —

'भगवद्गीता किञ्चिदधीता,
गङ्गाजललवकणिका पीता।
येनाकारि मुरारेरर्चा,
तस्य यमः किं कुरुते चर्चा॥[63]
भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, गोविन्दं भज मूढमते।

58. श्रीमद्भगवद्गीता 18/61
59. श्रीमद्भगवद्गीता 18/62
60. श्रीमद्भगवद्गीता 18/57
61. श्रीमद्भगवद्गीता 9/34, 18/65
62. श्रीमद्वद्गीता 18/66
63. चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्6

सन्ध्योपासन विज्ञान

डॉ. कृष्णपाल सिंह*

समीक्षा चक्रवर्ती विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा ने वैदिक वाङ्मय का सम्यक् अनुशीलन करके विलुप्त वैदिक विज्ञान को नवीन परिप्रेक्ष्य में पुनः प्रकाशित करने का भागीरथ प्रयत्न किया है। ब्राह्मणग्रन्थों की प्रतीक शैली को हृदयङ्गम करके वैदिक परिभाषाओं के सम्यक् ज्ञानार्थ अनेकशः परिभाषा संबंधी ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार ब्रह्म विज्ञान, इन्द्रविजय, यज्ञविज्ञान, वेदाङ्गसमीक्षा, पुराण समीक्षा, सन्ध्योपासनरहस्य इत्यादि रूप से 200 से भी अधिक ग्रन्थों का प्रणयन करके वैदिक विज्ञान का उद्धार किया है।

उनकी यह मान्यता रही है कि भारतीयों के नित्यनैमित्तिक यज्ञानुष्ठानादि रूप जितने कर्म हैं उनके पीछे एक वैज्ञानिक रहस्य है क्योंकि ऋषियों ने आधिभौतिक, आधिदैविक (प्राकृतिक) तथा आध्यात्मिक जगत् के तत्वों का साक्षात्कार पूर्वक परस्पर सम्बन्ध को देखकर उनके दैनिक जीवन में उपयोगी होने से प्रयोग अथवा विनियोग किया है इसी प्रसंग में पं. जी की कृति संध्योपासनरहस्यम् नामकग्रन्थ पर विचार सरणि को उनके मन्तव्यानुसार आगे प्रवाहित करने का प्रयत्न है।

सन्ध्याशब्दार्थ

संध्याशब्द का अर्थ यह है कि "संध्यायन्ति संध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा संध्या" अर्थात् सम्यक् प्रकार ध्यान करते हैं अथवा ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें उसे संध्या कहते हैं। सम् उपसर्गपूर्वक ध्यै चिन्तायाम् धातु से संध्या शब्द की निष्पत्ति होती है अतः पं. ओझा जी के अनुसार संध्या शब्द का अर्थ है संधिकाल में आगमिष्यमाण प्राण रूप देवता की आराधना करना। आराधना उस देवता का सम्यक्ध्यान है और सम्यक् ध्यान ही सम्यक् ध्यानम् इस व्युत्पत्ति से संध्या कहलाती है।

पं. जी के मन्तव्यानुसार संध्योपासन के साथ विश्वामित्र आयुः प्राण का घनिष्ठ संबंध है। इसलिये संध्योपासन के विभिन्न कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्या से पूर्व विश्वामित्र आयुः प्राण की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। यहाँ पर उसी का संक्षेप में विश्वामित्र आयुः प्राण का निरूपण किया गया है।

विश्वामित्र प्राण

द्विज विश्वामित्र आयुः प्राण की प्रातः संधिवेला में आराधना सम्यक् ध्यान करके दीर्घायुष्य की कामना करते हैं। संध्योपासन में इसका विशेष महत्व है इसलिये इसके स्वरूप ज्ञान की महती आवश्यकता है।

---

* डी.ए.वी. कॉलेज, अजमेर

जिस प्रकार पृथिवी अग्निप्राण से संयुक्त है उसी प्रकार द्युलोक सौर इन्द्रप्राण से युक्त है। आकाश में जो यह तप रहा है। यही प्राण इन्द्रप्राण कहलाता है इसलिये आकाश में तप्यमान वेदत्रयीरूप सूर्यप्राण को इन्द्र कहते हैं। इस सूर्य से निसृत होने वाली ऐन्द्री वाक् चारों ओर साहस्र है। इस वाक् साहस्र के विभाग अहः कहलाते हैं। यह वाक् साहस्री महोक्थ, महाव्रत व पुरुष, भेद से तीन प्रकार की होती है। ये ही सूर्य में क्रमशः ऋक् यजुः और साम हैं।

महोक्थ-ऋक्

महोक्थ का अपर नाम ऋक् है। उत्तरोत्तर छोटी होने वाली तथा चारों ओर फैलने वाली वस्तु की अनन्त मूर्तियों का जो समुद्र (समूह) है उसे महोक्थ कहते हैं। यह महोक्थ ही ऋक् है और ऋक् ही वस्तु की मूर्ति (आकार) का निर्माण करती है। यही तथ्य ऋग्भ्योजातां सर्वशो मूर्तिमाहुः इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसी हेतु से इस मूर्ति समुद्र को ऋक् समुद्ररूप महोक्थ कहा गया है।

महाव्रत

समस्त दिशाओं से अर्थात् सब ओर से नाभि वस्तु केन्द्र की ओर आने वाले सोममय अन्न का भक्षण करके और उससे अभिवृद्ध होकर तीव्र रूप में तपता हुआ जो चौतरफ फैलता हुआ अग्निसमुद्र है उसे महाव्रत कहते हैं।

पुरुष

देव तथा भूतों की उत्पत्ति के लिये सांसारिक सब पदार्थों का उपादान कारण भूत जो अग्नि समुद्र है उसे पुरुष कहते हैं।

इस प्रकार उपरि चर्चित महोक्थ, महाव्रत, तथा पुरुष तीनों अहः ही तीन समुद्र (समूह) है जो परस्पर समान देश में रहने वाले हैं। उनका स्वरूप अमूर्त प्राणमय है। इसलिये वे स्थानावरोधक नहीं हैं। इन्हीं तीन से साहस्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन तीनों में महाव्रत अहः रूप से सर्वत्र व्याप्त है और सब ओर से वस्तु की नाभि की ओर आने वाले सोममय अन्न का भक्षण करता हुआ जो तप्त हो रहा है वही ऋक्, साम, यजुः रूप वेदत्रयीमय सूर्यप्राण है। महाव्रत अहः से उपलक्षित सूर्यगत इस इन्द्रप्राण को ही विश्वामित्र प्राण कहते हैं। इसका विस्तृत विवेचन ऐतरेयारण्यक में दृष्टिगोचर होता है।

विश्वामित्र प्राण का वृहती स्वरूप

यह विश्वामित्र प्राण वृहतीरूप है। यह आकाश वृहती रूप प्राण से व्याप्त है ओत-प्रोत है। जिस प्रकार यह आकाश वृहती रूप प्राण से आधारित व ओत प्रोत है, उस प्रकार पिप्पीलिका पर्यन्त

समस्तभूत समुद्र वृहती प्राण से व्याप्त और आधारित हैं अर्थात् उसी पर आश्रित हैं । यह प्राण ही उनका आधार भूत है । इस समन्वय से प्राण वृहती छंदो रूप है । वृहती छंद 36 अक्षरों वाला होता है । इसलिये वृहती प्राण 36 अक्षरात्मक है । यह प्राण भी 36 अक्षरात्मक है । विश्वामित्र प्राण भी 36 अक्षरात्मक है । इसका प्रत्येक अक्षर दश अक्षरात्मक विराट् सम्पत्ति से व्याप्त है । 36 अक्षरों का दश से गुणन करने पर 36x10=360 अक्षरात्मकता इस प्राण की प्रमाणित होती है । 360 ही सम्वत्सर के दिन होते हैं । इसलिये सम्वत्सर रूप सूर्यरस से प्राप्त यह विज्ञानात्मरूप विश्वामित्र प्राण 360 अक्षरो वाला सिद्ध होता है और यही प्राण हमारा आत्मा है । यह विश्वामित्र प्राण शरीर में दश विध होता है ऐसा शतपथ श्रुति कह रही है । अत: वृहतीसाहस्रात्मक (षट्त्रिंशत्सहस्रात्मक) विश्वामित्र प्राण ही हमारा आत्मा है । अध्यात्म में विज्ञानात्मरूप इस विश्वामित्र प्राण के आरम्भक ये 36 हजार अक्षर शरीर से उत्पन्न हो कर जब परज्योति सूर्य में मिल जाते हैं तब वह विज्ञानात्मा अपने शुद्धस्वरूप से निष्पन्न हो जाता है और शरीर का परित्याग कर सूर्य (ब्रह्म) में चला जाता है । इसलिये 36 सहस्र दिन अर्थात् 100 वर्ष ही पुरुष की आयु है ऐसा ऐतरेय आरण्यक श्रुति प्रतिपादित कर रही है और कौषीतकि श्रुति के अनुसार यह विश्वामित्र सौर प्राण ही आयु है । प्राण ही अमृत है । जब तक शरीर में प्राण की सत्ता विद्यमान रहती है, तब तक ही आयु होती है ।

सहस्राक्षर सौर प्राण सब तरफ से प्राणों को धारण करता है । उसी प्रकार अध्यात्म में वृहती सहस्राक्षर रूप विज्ञानात्मा भी चारों ओर से प्राणों को धारण करता है । इसलिये विज्ञानात्मा में चारों ओर से प्राण संयुक्त रहते हैं और चारों ओर से अन्न आता रहता है "विश्वत: अस्मिन्नन्नानि" "मेध्यन्ति" "विश्वत: प्राणा अस्मिन् आमेदन्ते" इस व्युत्पत्ति से यह महाव्रत रूप अह: प्राण ही विश्वामित्र कहलाता है और विज्ञानात्मा सबका मित्र होने से विश्वामित्र कहलाता है यह कौषीतकि श्रुति कह रही है ।

इस प्रकार जब तक इस शरीर में प्राण रूप विज्ञानात्मा की अवस्थिति रहती है तब तक ही जीवन आयु रहती है । आयु स्वरूप इसी विज्ञानात्मारूप विश्वामित्र की आराधना करने के लिये ब्राह्मण (द्विज) प्रात: सायं संध्याओं में सूर्योपस्थान करते हुए सवितृदेवताक विश्वामित्र तत्वात्मक गायत्री का ध्यान करते हुए जपादि का अनुष्ठान करते हैं ।

विश्वामित्र आयु प्राण की उपासना की अनिवार्यता

यह विज्ञानात्मरूप विश्वामित्रप्राण उपासक की रक्षा करता है और गयनात्मक प्राणों की रक्षा करता है । "गायत्रं त्रायते गयान् वा प्राणांस्त्रायते" इस व्युत्पति से इस प्राण की गायत्र संज्ञा होती है । इस प्राण की आराधना करते हुए वे इसकी प्राप्ति से दीर्घायु होते हैं । जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है कि "ऋषयो दीर्घसंध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयु:" अर्थात् ऋषियों ने दीर्घकालिक संध्या के अनुष्ठान

से दीर्घायु की प्राप्ति की । किन्तु जो प्रात: सायं इस प्राण की उपासना नहीं करते वे दीर्घायुष्य रूप फल की अवाप्ति से वंचित रह जाते हैं । इसलिये सावधानी पूर्वक प्रतिदिन संध्योपासना करनी चाहिये, अत: उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि विश्वामित्र रूप आयुप्राण की प्रात्यर्थ प्रात: सायं इन दोनों बेलाओं में संध्योपासना करना प्रत्येक के लिये आवश्यक है ।

प्रात: सायंकालिक संध्योपासन का रहस्य

संध्योपासन का समय प्रात: और सायं ही क्यों है ? क्या इसका कोई वैज्ञानिक आधार है ? इत्यादि रूप से इन प्रश्नों का समाधान समीक्षा चक्रवर्ती पं. मधुसूदन जी ने अपने संध्योपासनरहस्यम् नामक ग्रन्थ में किया है । उनका विचार है कि विश्वामित्र प्राण में सौर इन्द्रप्राण इनकी सत्ता यद्यपि पूरे अह: काल अर्थात् सूर्यप्रकाशोपलक्षित काल में बनी रहती है । अत: प्रात: सायं संधिकाल में ही इस प्राण की उपासना करने का कोई न कोई हेतु अवश्य होना चाहिये । इस विषय में उनका कहना है कि सूर्यप्रकाशोपलक्षित काल अर्थात् अह: और रात्रि (सूर्यदर्शनोपक्षित काल) के संधिकाल में पार्थिववाक् सौरवाक् और उन दोनों के मध्यवर्ती आन्तरिक्ष्य वाक् का संध्यन (मेल) होता है । इसी कारण से इस काल का नाम संध्या है और इसी में ही संध्योपासना की जाती है ।

"अथो वागेवेदं सर्व" यह ऐतरेय श्रुति यह बतला रही है कि संसार में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब वाग्रूप ही है । इस वाक् तत्व के अन्त: प्राणतत्व है और प्राणतत्व के अन्त: मनस्तत्व समाहित है ।

यह वाक् तीन रूप से विभक्त है । पार्थिववाक्, आन्तरिक्ष्यवाक्, द्यौ लोकस्थ वाक् जिसे दिव्य वाक् भी कहते हैं । सूर्योदय से पूर्व यह वाक् सूर्या वाक् अर्थात् उषा वाक् कहलाती है । मध्याह्न समय में यह वाक् सूर्या संज्ञक होती है । सायंकाल सूर्यास्तकाल में यह वाक् वृषाकपायी संज्ञक होती है । उषा, सूर्य और वृषकपायी इन तीनों की सरण्यू साधारण संज्ञा है ।

इन तीनों में उषा और वृषाकपायी ये दो संध्या कहलाती हैं । क्योंकि अहोरात्र की संधि में द्युलोक तथा पृथ्वीलोक के रसों के मिश्रण मेल से इन दोनों का स्वरूप प्रकट होता है । पृथ्वी रस और द्युलोक रस के मिश्रण से जो स्वरूप प्रकट होता है उसे उषा कहते हैं । यह स्थिति प्रात: संध्या के समय होती है । उषा की स्थिति सूर्योदय से पूर्व काल में मानी जाती है । यह उषा पृथ्वीरूप होने से अग्निमयी है । इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे गायत्री शब्द से कहा गया है । यह पृथ्वी भी चित्य (मर्त्य) तथा चितेनिधेय (अमृत) भेद से दो प्रकार की है । दर्शनों में पृथ्वी के इन्हीं रूपों को चित्यानित्य भेद से वर्णित किया गया है । चित्य (मर्त्य) अनित्य पृथ्वी इस भूमि पिण्ड में विद्यमान अग्नि है । यह भूमि पिण्ड भी गायत्री है । गायत्री अष्टाक्षर छन्द है । यह भूमि पिण्ड भी आप:, फेन, मृत, सिकता, शर्करा, अश्म, अय:, हिरण्यरूप अष्टद्रव्यात्मक सम्पत्ति से युक्त है ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि भूमिपिण्ड रूप चित्य (अनित्य) पृथ्वी और चितेनिधेयरूप (अमृता) नित्य पृथ्वी दोनों ही गायत्री संज्ञक हैं। अतएव पृथ्वी गायत्री है और अग्नि पृथ्वी संबंधी होने से गायत्र कहलाता है। उषा पृथ्वीरस रूप अग्नि का अंश होने से उसकी भी गायत्री संज्ञा स्वयमेव हो जाती है। सूर्य से आये हुए तेजोधाम रूप सब देवता इस उषा में मिलते हैं। इसलिये कृष्णवर्ण वाली पार्थिव वाक् रूप यह उषा दिव्य शुक्ल वाक् रूप सूर्य से अहोरात्र की संधि में मिलती है। इस प्रकार पार्थिव वाक् तथा दिव्यवाक् की संधान फलस्वरूपा यह संध्या भी वाक् गायत्री संज्ञक होती है। संध्या के आरम्भ करने वाले दिव्य तथा पार्थिव मन, प्राण विशिष्ट वाक् तत्वों के संधि काल में ध्यान करता हुआ एकाग्रचित्त से गायत्री का जप करता हुआ आध्यात्मिक मनः प्राण विशिष्ट वाक् का गायत्री में संधान करता है तो गायत्री वाक् में आत्मवाक् का मेल होने के कारण विश्वामित्र संबंध आत्मवाक् में आयु का मेल होता है। इसलिये मनुस्मृति में कहा गया है कि "ऋषयोः दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः" अर्थात् ऋषियों ने दीर्घकालिक संध्या करके दीर्घायुष्य की प्राप्ति की है। अभिप्राय यह है कि दीर्घकालिक संध्या से केवल दीर्घायु की ही प्राप्ति नहीं होती अपितु आधिदैविक गायत्र तेज का भी आत्मा में आधान होता है। जिससे ब्रह्म तेज की उत्पत्ति होती है यह प्रातःकालिक संध्या का रहस्य है।

सायंकालिक संध्या का रहस्य

प्रातःकालिक संध्या के वैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन करने के पश्चात् सायंकालिक संध्या का भी वैज्ञानिक विवेचन किया है। जैसा कि पूर्व में हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि सायंकालिक संध्या का नाम वृषाकपायी है। इसका अपर नाम सरस्वती भी है। इसकी उत्पत्ति के विषय में पं. जी का कहना है कि द्युरस रूप इन्द्र में पृथ्वी रस रूप अग्नि की आहुति से अर्थात् संबंध से जो स्वरूप प्रकट होता है उसे वृषाकपायी अथवा सरस्वती कहते हैं। इसी को नक्ता भी कहा गया है। यही ऐन्द्री द्यौ है। यही सायं संध्या है। सायं संध्या के समय पार्थिव अग्नि रस की वृद्धि होती है। और सूर्यरस रूपा ऐन्द्र द्युभाग का ह्रास होता है इस समय बड़े हुये पृथिवीरस रूप अग्नि में जाते हुए सूर्यरस रूप द्यु भाग की उपासना की जाती है। अतः सायंकालिक अहोरात्र की संधि में इन इन्द्रवाक् और अग्निवाक् का मिश्रण होता है। और यही सायं संध्या का काल है। इस समय जपी हुई सावित्री आध्यात्मिक वाक् को भी अपने में सम्मिलित करती है। अध्यात्म में इन्द्र की प्रत्यासत्ति से आयु नाशक दोषों का विनाश होता है। और ब्रह्म तेज की उत्पत्ति होती है। यही सायंकालिक संध्या का रहस्य है।

प्रातः और सायंकालिक संध्याओं में ही संध्योपासन की अनिवार्यता क्यों ?

आधिदैविक सौरप्राण से अध्यात्म में उत्पन्न विज्ञानात्मा (बुद्धि) में सौर प्राण का आधान करने हेतु संध्योपासन कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। यहाँ यह आशंका स्वयं ही उत्पन्न होती है कि सौर प्राण सारे दिन स्थित होने पर भी केवल प्रातः सायं संध्याओं में ही संध्योपासन कर्म क्यों किया जाता है। इस आशंका के समाधान में समीक्षा चक्रवर्ती पं. ओझा का कहना है कि उपर्युक्त शंका पर विचार करने से पूर्व अहोरात्र में संधिकाल कितने हैं और वे क्यों संधिकाल कहलाते हैं। इसका भी अन्वेषण करना चाहिये।

संध्या प्राणों अर्थात् देवताओं की संधि का काल है। अहोरात्र में ऐसे संधिकाल चार होते हैं।

1. प्रातः 2. सायं 3. मध्याह्न 4. मध्यरात्र

मध्यरात्र से मध्याह्न तक मित्रदेवता की और मध्याह्न से मध्यरात्र (निशीथ) तक वरुण देवता की स्थिति रहती है। इसी दृष्टि से "मैत्रमहः" यह वचन दिन का देवता मित्र को और "वारुणी रात्रिः" यह वचन रात्रि देवता वरुण को बतला रहा है। मध्यरात्र और मध्याह्न में मित्र और वरुण देवता की संधि होने से ये दोनों काल संधिकाल के नाम से जाने जाते हैं।

इसी प्रकार सूर्योदय से सूर्यास्त तक सौरप्राण रूप इन्द्र देवता की तथा सूर्यास्त से सूर्योदय पर्यन्त अग्निदेवता की स्थिति है। इसीलिये "ऐन्द्रमहः" और "आग्नेयी रात्रिः" इन वचनों से अहः काल का देवता इन्द्र और रात्रि काल का देवता अग्नि है। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय इन्द्र और अग्निदेवता की संधि होने से ये दोनों काल भी संध्याकाल कहलाते हैं इस प्रकार अहोरात्र में चार संधिकाल बनते हैं।

1. प्रातः संधिकाल (सूर्योदयकाल)

2. सायं संधिकाल (सूर्यास्तकाल)

3. मध्याह्न संधिकाल

4. मध्यरात्रि (निशीथकाल) संधिकाल

सूर्योदय से इन्द्र देवता का आगमन होता है और पूरे दिन उसकी स्थिति बनी रहती है। इसमें इन्द्र आने वाला देवता है और अग्नि जाने वाला देवता है। इसकी संधि में अर्थात् प्रातः काल संध्या काल में इन्द्रदेवता की आराधना की जाती है। इसके विपरीत सायंकालीन संध्या के समय अग्नि आने वाला देवता है। क्योंकि सूर्यास्त से सूर्योदयपर्यन्त उसकी स्थिति बनी रहती है अतः सायं के समय अग्नि देवता की संध्योपासना की जाती है। जिस समय रात्रि और दिन का मेल होता है। उसी समय उन दोनों के देवता क्रमशः अग्नि और इन्द्र की संधि होती है। इस हेतु ये दोनों संध्याकाल कहलाते हैं।

इसी प्रकार रात्रि के मध्य भाग (मध्यरात्र) तथा दिन के मध्यभाग (मध्याह्न) में भी मित्र तथा वरुण देवता का मेल होता है। इसलिये उन्हें भी संध्याकाल कहते हैं। किन्तु अर्धरात्रि में असुरों की सत्ता होने के उस समय संध्योपासन का निषेध है क्योंकि उस समय उपास्य असुर हैं, वे तामस् होने से बुद्धि में मालिन्य उत्पन्न कर देते हैं इसलिये यह समय संध्योपासना के लिये निषेध किया गया है। और जो वरुण को असुर मानते हैं वे मध्याह्न काल में भी संध्योपासना को ठीक नहीं मानते हैं। इस प्रकार यदि तीन काल में संध्यान भी की जाय तो भी प्रातः सायं संध्यापोसना अवश्य ही करनी चाहिये क्योंकि मास के कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष में संधिकाल में साग्निक पुरुषों के लिये दर्श व पूर्णमासेष्टि करना आवश्यक है उसी प्रकार निरग्निकपुरुषों के लिये अहोरात्र की संधिभूत प्रातःकाल तथा सायं काल में संध्योपासन अनिवार्य है।

गायत्री रहस्य

गायत्री रहस्य अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण में मौद्गल्य विद्या के नाम से प्रतिपादित है। इसके अन्तर्गत गायत्री के चतुर्विंशति योनियों, 12 मिथुनों का तथा सावित्री के तीनों चरणों का स्वरूप प्रकट किया गया है। सावित्री के तीनों चरणों द्वारा अन्त में ब्राह्मण का व्रत से संबंध स्थापित किया गया है। इस व्रत से ब्राह्मण तेजस्वी, तीव्र, समृद्ध बनता है और उसके प्रजातन्तु का विच्छेद नहीं होता है। ऐसा ब्राह्मण ब्रह्म को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्म से सम्बद्ध रहता है। 12 मिथुन हैं — मन और वाक्, अग्नि और पृथिवी, वायु और अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र, अहः और रात्रि, उष्ण और शीत, अभ्र और वर्षा, विद्युत और स्तनयित्न (गर्जन), प्राण और अन्न, वेद और छन्द, यज्ञ और दक्षिणा ये दो-दो योनि वाले मिथुन ही गायत्री रूप सावित्री के द्वादश मिथुन और 24 योनियाँ हैं। जो इस रहस्य को जानता है वह ब्रह्मवेत्ता बन जाता है। उसको पुण्यकीर्ति तथा सुरभि की प्राप्ति होती है, पाप रहित हो जाता है, अक्षर कीर्ति की उपलब्धि होती है।

इस मौद्गल्य विद्या के अनन्तर पं. ओझा ने ब्रह्मगायत्री, सूर्यगायत्री तथा चन्द्रगायत्री के वैज्ञानिक रहस्यों का विस्तृत विवेचन किया है।

सूर्योपस्थान का वैज्ञानिक विवेचन

पं. ओझा के अनुसार संध्या में जिस प्रकार आचमन का महत्व है उसी प्रकार सूर्योपस्थान का भी अपना विशिष्ट स्थान है संध्योपासन का अनुष्ठान करते हुए उपासक जब उपस्थान कर्म तक पहुँच जाता है तब उपासक सूर्य (ब्रह्म) को सर्वव्यापक समझता हुआ ब्रह्म तेज के प्राप्त्यर्थ सूर्योपस्थान का अनुष्ठान करता है। पं. ओझा ने संध्या की इस क्रिया को एक अग्निहोत्र के रूप में देखा है। उनके मन्तव्यानुसार यह संध्योपासन भी एक प्रकार का अग्निहोत्र ही है। अग्निहोत्र भी निरुक्ता अग्निहोत्र और अनिरुक्ता अग्निहोत्र भेद से दो प्रकार का होता है। जो अग्निहोत्र अरण्याग्नि अथवा गृह्याग्नि

में सम्पन्न किया जाता है उसे निरुक्ताग्नि अग्निहोत्र कहते हैं । इस अग्निहोत्र में प्रात: कालिक आहुति सूर्य (इन्द्रदेवता) और सायंकालिक आहुति अग्नि देवता की होती है ।

सूर्य जब अस्त हो जाता है तब अग्नि ज्योति होती है और जब सूर्योदय होता है तब सूर्य ज्योति होती है यही तथ्य यजुः श्रुति "सूर्योज्योति" इत्यादि मंत्रों से प्रतिपादित कर रही है। निरुक्ताग्नि अग्निहोत्र पारलौकिक होता है क्योंकि परलोक में फलप्राप्ति अग्निहोत्र में प्रात:काल इन्द्र (सूर्य) में अग्नि का आधान किया जाता है जैसा कि कहा गया है कि "अग्निवेवैतत् सायं प्रात: सूर्य जुहोति" सूर्यो प्रातरग्निम् ।

किन्तु संध्योपासन रूप अग्निहोत्र तो अनिरुक्ताग्नि अग्निहोत्र है। इसमें प्रात: संध्या अग्निदेवताक गायत्री और सायं संध्या इन्द्र देवताक सरस्वती है । यह अग्निहोत्र ऐहलौकिक है। मनुष्य इस लोक में 100 वर्ष की आयु प्राप्त करने के लिये, ब्रह्मवर्चस ब्रह्मतेज प्राप्त्यर्थ इसका अनुष्ठान करते हैं जिस प्रकार निरुक्ताग्नि अग्निहोत्र कर्म में इस आत्मा में ऐच्छिक फल के उद्देश्य से अग्नि का उपस्थान किया जाता है उसी प्रकार संध्योपासना रूप मनुष्यलोकीय अग्निहोत्र में पारलौकिक फलोद्देश्य से सूर्योपस्थान कर्म किया जाता है । यही सूर्योपस्थान का रहस्य है ।

अर्घ्यदान रहस्य विचार

निरुक्ताग्निहोत्र में सूर्य को अर्घ्यप्रदान नहीं किया जाता है। किन्तु सूर्योपस्थान से पूर्व संध्योपासन रूप अनिरुक्ताग्नि अग्निहोत्र में गायत्री मंत्र द्वारा अर्घ्य प्रदान किया जाता है । अर्घ्यदान के रहस्य का निरूपण तैत्तिरीयारण्यक में किया गया है । वहाँ कहा गया है कि राक्षसों ने उग्रतप किया । प्रजापति ने उनसे युद्ध करने को कहा । इसलिये राक्षस उदय से अस्तकाल तक युद्ध करते रहे ।

ये राक्षस गायत्री मंत्र से अभिमंत्रित जल से शान्त होते हैं । इसलिये द्विज लोग अभिमंत्रित जल सूर्य की ओर प्रक्षिप्त करते हैं और प्रदक्षिणा द्वारा पाप विमोचन करते हैं । उदित व अस्त होते हुए सूर्य का ध्यान करने वाला सकल भद्रों को प्राप्त करने में समर्थ होता है । आदित्य ही ब्रह्म है। इसकी उपासना करने वाला ब्रह्मरूप हो कर ब्रह्म में मिल जाता है । यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है राक्षस क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इन आशंकाओं के समाधान में पं. ओझा का कहना है कि यहाँ पृथिवी की कृष्णरश्मि रूप अंधकार ही राक्षस है, उसका सूर्य प्रकाश के साथ सम्पर्क ही सूर्य के साथ राक्षसों का युद्ध है । पृथिवी की कृष्णरश्मियों से मिलकर सूर्य रश्मियाँ ही बुद्धि का निर्माण करती हैं । क्योंकि प्राणी में बुद्धि का निर्माण सूर्यरश्मियों से ही होता है । इसलिये हमारी बुद्धि भी अज्ञान से आक्रान्त होकर मन्द न हो जाय, इसके निवारण के लिये सूर्य का ध्यान करते हुए गायत्री मंत्र से अभिमंत्रित जल सूर्य की तरफ फेंका जाता है । यह जल कृष्णप्राणों को अभिभूत करते हुए

ज्ञान के कारण श्वेतप्राणों की उद्दीप्त कर देते हैं जिसके फलस्वरूप ओजस्विनी दिव्यबुद्धि उत्पन्न होती है । सूर्य रश्मि रूप विशुद्ध ब्रह्म से युक्त ब्रह्मरूप यह विज्ञानात्मा (बुद्धि) आत्मा देहपात के पश्चात् सूर्यरूप ब्रह्म में लीन हो जाता है । यही सूर्य को अर्घ्यप्रदान करने का रहस्य है । वायुपराण में भी इसी रहस्य का निरूपण किया गया है । यहाँ ओझा जी ने अद्वैतवाद की मान्यता के अनुसार अपने विचारों को उपनिबद्ध किया है ।

सन्ध्या का समय

पं. जी ने संध्या के समय का निरूपण विधान पारिजात, व्यास तथा संवर्त के अनुसार किया है । कुशोच्छोदित आसन पर बैठकर आचमन पूर्वक कर सम्पुटाकार करके प्रतिदिन प्रत्येक द्विज को संध्योपासन करना अभीष्ट है । उसका काल यह है कि जब आकाश में नक्षत्र दिखाई दे रहे हों तो उस समय प्रातः कालिक संध्या प्रारम्भ करनी चाहिये और जब सूर्य पूर्णरूपेण अस्त नहीं हुआ हो किन्तु दृष्टिगोचर हो रहा हो उस समय सायंकालिक संध्योपासना करनी चाहिये ।

तात्पर्य यह है कि सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व प्रातः कालिक संध्या और सूर्यास्तगमन से दो घड़ी पूर्व सायंकालिक संध्योपासनानुष्ठान का विधान है ।

आचमन कर्म का वैज्ञानिक रहस्य

संध्योपासन में आचमन कर्म का विशिष्ट महत्व है । इस आचमन क्रिया द्वारा विज्ञानमय आध्यात्मिक सूर्य को अर्घ्यप्रदान किया जाता है । यह क्रिया सूर्य को अर्घ्यप्रदान से पूर्व की जाती है । सूर्य ही स्थावर, जङ्गम संसार का आत्मा है । "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" यह श्रुति प्रतिपादित कर रही है । जिस प्रकार बाह्य आधिदैविक सूर्य रश्मि की निर्मलता पार्थिव कृष्णरश्मिरूप तमः परिहार के लिये अर्घ्यप्रदान किया जाता है उसी प्रकार आन्तरिक (आध्यात्मिक) सूर्यरश्मियों की निर्मलता तथा मेध्यतार्थ यह आचमन किया जाता है । यही तथ्य शतपथ में "व्रतमुपैष्यन्नप उपस्पृशंति" इत्यादि वचन द्वारा प्रकट किया गया है । यजमान व्रतग्रहण करता है और आचमन करके यह भी भावना करता है कि मैं मेध्य बनकर व्रत ग्रहण करूं इसलिये अपः से आचमन किया जाता है । अप (जल) पवित्र है जल पीकर पवित्र बनकर व्रत ग्रहण करूं इसलिये आचमन किया जाता है ।

यह आचमन दो प्रकार का है (1) समंत्रक आचमन (2) निर्मंत्रक आचमन । समंत्रक आचमन उसे कहते हैं जो मंत्रपूर्वक किया जाता है दूसरा बिना मंत्र पाठ के ही जो आचमन किया जाता है उसे निर्मंत्रक आचमन कहते हैं ।

प्राणायाम

जिस प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के मल भस्मीभूत हो जाते हैं इसी प्रकार प्राणायाम के और भी अन्य अनेक लाभ हैं। इसकी विधि यह है कि दो बार आचमन करके शरीर का जल से प्रोक्षण करके कुश हाथ में लेकर प्रथम बिना मंत्र के ही तीन प्राणायाम करे। उसके बाद एक बार समंत्रक प्राणायाम करे। उसकी विधि यह है कि प्राणों को रोककर ओंकार पूर्वक भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्, इन व्याहृतियों के उच्चारणपूर्वक "ओं आपोज्योतिः" इत्यादि शिरः संज्ञक मंत्र से युक्त सवितृदेवता के गायत्रीमंत्र का तीन बार जाप करे यही समन्त्रक प्राणायाम है।

समंत्रक आचमन की विधि

आचमनीय जल को दर्भ सहित हाथ में लेकर ओंकारपूर्वक "आपोहिष्ठा, यो वः शिवतमः", "तस्या अरं", इन तीन मंत्रों का उच्चारण करके मस्तक का मार्जन करें। पश्चात् "सूर्यश्च मा" इत्यादि मंत्र का उच्चारण करके आचमनीय जल का पान करें यही समंत्रक आचमन की विधि है।

मार्जन

आचमन करके ओंकार युक्त तीन व्याहृतियों वाले गायत्री मंत्र से "आपोहिष्ठा मयोभुव" इस सूक्त की एक-एक मात्रा के द्वारा "ओं आपो ज्योतिरसो" इस मंत्रोच्चारण पूर्वक जल से शरीर पर अभिषेक करें यही मार्जन विधि है।

पापव्यपोहः

संध्योपासना का यह भी एक अंग है जिसमें पाप नाशन की क्रिया की जाती है इसकी विधि इस प्रकार है कि मार्जनोपरान्त गोकर्णाकार हाथ से जल लेकर नासिका अग्रभाग में धारण करके शरीरान्तर्गत व्याप्त पाप की कृष्णधोरपुरुष के रूप में भावना करते हुए प्राणों का संयम कर, अधमर्षण सूत्र की आवृत्ति कर दक्षिण नासिका के विवर से श्वास को निकाल और कृष्ण वर्ण वाले पाप को सब ओर से समेट कर नासिका द्वारा हस्थगत जल में प्रक्षिप्त कर दिया है, ऐसी भावना करें। उस उदक को देखता हुआ बाईं ओर भूमि पर वेग से प्रक्षिप्त करें और यह भावना करें कि पाप के वज्रद्वारा हजारों टुकड़े कर दिये हैं। यही पापव्यपोह की विधि है। कितने ही इस विधि का अनुष्ठान नहीं करते हैं।

अर्घ्यनिवेदन

आचमन के पश्चात् दर्भ हाथ में लेकर जल की पूर्ण अंजलि भर कर "वहित्था पर्वतानाम्" इत्यादि मंत्रोच्चारणपूर्वक आदित्य के सामने खड़े होकर "ओं भू:, ओं भुव:, ओं स्व:" इन व्याहृतियों से युक्त गायत्रीमंत्र का तीन बार उच्चारण करके अंजलि को सूर्य की ओर फेंक देते हैं। जो पाप नाशन विधि का अनुष्ठान नहीं करना चाहते हैं। वे बिना आचमन किये हुए सूर्य की ओर अर्घ्य प्रदान करें। यही अर्घ्यनिवेदन विधि है।

अंगन्यास

संध्योपासन में अंग न्यास का विवेचन पं. जी ने किया है किन्तु अन्त में अवैदिक है ऐसा कह कर इसके महत्व को कम कर दिया है।

गायत्र्याह्वानम्

अङ्गन्यासोपरान्त मंत्र देवता का ध्यान करके - "आगच्छ वरदे देवि जपे मे सन्निधौ भव। गायन्तं त्रायसे यस्माद् गायत्री त्वं तत: स्मृता" इस मंत्र से गायत्री का आह्वान करके मंत्रार्थ का ध्यान करता हुआ ओंकार तथा भूर्भुव: स्व: आदि व्याहृतिपूर्वक सावित्री मंत्र का जप करना चाहिये। इसी प्रसंग में उन्होंने जप के गणना प्रकार का भी निर्देश किया है।

गायत्री आदि संध्यादेवताओं का ध्यान

संध्या ही मंत्रोक्त देवता है उसी की उपासना करनी चाहिये। संध्या देवता का प्रत्येक संध्याओं में एक रूप से ध्यान करे अथवा प्रति संध्या भिन्न-भिन्न रूप से ध्यान करे। एक रूप से ध्यान करने के लिये ऋक् यजु साम भेद से तीन चरण युक्त, तिर्यक्, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व तथा अध: दिशाओं के भेद से कुक्षियुक्त, मस्तकवाली, अग्निमुख वाली विष्णुरूप हृदय वाली, ब्रह्ममस्तक वाली,रुद्र शिखा वाली, दण्ड, कमण्डल, अक्षसूत्र तथा अभय चिह्न से युक्त चार भुजाओं वाली, शुभ्रवर्णवाली, शुभ्रवस्त्र, शुभ्रअवलेपन, शुभ्रमाला तथा शुभ्र आभूषणों वाली, शरत्कालीन चन्द्र समान, सहस्रकान्ति युक्त, सर्वदेवता रूप एक ही गायत्री का तीनों संध्याओं में ध्यानानुष्ठान करें। इसी प्रकार विभिन्न समय में भिन्न संध्या देवता का ध्यान करें।

जप का समय

अङ्गन्यास के पश्चात् मंत्र देवता के ध्यानपूर्वक गायत्री का आह्वान कर मन्त्र के अर्थ का अनुसंधान करता हुआ ओंकार पूर्वक तथा तीनों व्याहृति पूर्वक सावित्री मंत्र का जप करना चाहिये। यह जप की विधि है। जप करने का समय यह है कि सूर्योदय से 2.5 यानि ढाई घड़ी पूर्व तथा ढाई घड़ी बाद तक जप का समय माना गया है।

प्रातः "सूर्यश्च" इस मंत्र का और सायं "अग्निश्च" इस मंत्र का उच्चारण करे और सूर्य आधा अस्त हो जाय तब से लेकर आकाश में नक्षत्र दर्शन पर्यन्त जप करना चाहिये ।

जपानन्तर नमस्कार

जपोपरान्त "जातवेदसे सुनवाम सोमम्" इस मंत्र से उपस्थान करके "तच्छयोरावृणीमहे नमो ब्रह्मणे, नमोस्त्वग्न्ये," इन मंत्रों से उपस्थान करके प्रदक्षिणारूप से संध्या को नमस्कार कर, संध्या गायत्री, सावित्री, सरस्वती तथा सब देवताओं को नमस्कार करे पश्चात् "उत्तमे शिखरे देवि" इत्यादि मंत्र से संध्या का विसर्जन करके भद्रं वो अग्नि इत्यादि उच्चारण कर तीन बार शांति शब्द का उच्चारण करते हुए "नमो ब्रह्मणे" यह कहते हुए प्रदिक्षणा घूमे और जो सत्य लोक से पर्वत पर्यन्त जो देवता गण हैं उन्हें नमस्कार है ।

कात्यायनोक्त वाजसनेयी संध्यावन्दन विधि

इस ग्रन्थ में वाजसनेयी शाखा में जो संध्यावन्दनविधि प्रचलित है उसका निरूपण कात्यायनाचार्य के मतानुसार किया है । सर्वप्रथम मिट्टी से दोनों जंघाओं दोनों हाथों को प्रक्षालित करके आचमन कर तीन बार प्राणायाम कर, जलमिश्रित पुष्पों को ऊपर प्रक्षिप्त कर ऊँचे हाथ कर "उद्वम" "उद्धत्यम" "चित्रम्" "तच्यक्षु:" इन मंत्रों के द्वारा गायत्री मंत्र के द्वारा विभ्राट् इस अनुवाक्, पुरुषसूक्त, शिवसंकल्प, मण्डल ब्राह्मण के द्वारा सूर्य का उपस्थान कर, प्रदक्षिणा कर तथा नमस्कार कर बैठे। यद्यपि सूत्रकार ने संक्षेप में मध्याह्न संध्या का ही निरूपण किया है तथापि सर्वशाखाधिकरणन्याय से वाजसनेयिशाखा वालों को भी त्रिकाल संध्या करनी चाहिये, विरुद्ध अंश को छोड़ देना चाहिये, क्योंकि पारक्यमविरोधियत् इस वचन से पर शाखागत अविरुद्धांश का ही ग्रहण करना चाहिये न कि स्वशाखा विरुद्ध अंश का। इसलिये वाजसनेयिशाखा वालों को भी मार्जन सर्वाङ्ग युक्त त्रिकाल संध्या करनी चाहिये ।

संध्यावन्दन विषय में महर्षियों के वचन

संध्यातर्पण के पश्चात् संध्यावन्दन विधि में मार्जन, अर्घ्यप्रदान, सूर्योपस्थान, जपध्यान, गायत्रीध्यान, जपप्रकार, आसनविषय, जपमालाप्रकार, व जपमाला विषय, जपसंख्या, काम्यविशेष, कर्मचक्र, हवन, परिशेष वक्तव्य, ब्रह्मार्पण, नित्यकर्म के न करने पर प्रायश्चित विधि तथा संध्यावन्दन की नित्यता विषयक विभिन्न वचनों का संग्रह किया गया है ।

चतुर्विंशतिगायत्री मुद्रायें

जप के पूर्व अथवा पश्चात् गायत्रीहृदय में प्रतिपादित 24 मुद्राओं को देखना चाहिये । वे

चौबीस मुद्रायें निम्न प्रकार हैं। सम्मुख, सम्पुट, वितत, विस्तीर्ण, द्विमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, पंचमुख, षण्मुख, अधोमुख, व्यापकांजलिक, शंकर, यमपाश, ग्रथित, सम्मुखोन्मुख, विलम्बमुष्टिक, मीन, कूर्म, वराहक, सिंहक्रान्त, महाक्रान्त, मुद्गर, पल्लवै इन 24 मुद्राओं का निरूपण किया गया है।

संध्यातर्पण विधि

संध्यातर्पण अर्घ्यप्रदान के पश्चात् करना चाहिये। जैसा कि शौनक आचार्य ने कहा है कि अर्घ्यप्रदान के पश्चात् जप के पश्चात् पूर्व की ओर मुख कर कुशासन पर बैठकर ऋष्यादि का स्मरण कर संध्या कालों में तर्पण करना चाहिये।

सर्वप्रथम प्रणव का उच्चारण करके तर्पण करना चाहिये। इसका प्रयोग इस प्रकार है — ओं भू: पुरुष का, ओं ऋग्वेद और उसके मण्डल का, हिरण्यगर्भरूप का, आत्मा का, गायत्री का, वेदमाता का, संक्रांति का, संध्या का, कुमारी का, ब्राह्मणी का, उषा का, निर्नुज का, सर्वसिद्धि करने वाली का, सर्वमंत्रों के अधिपति का, तर्पण करता हूँ। इस विधि से यदि संध्यातर्पण करे तो सर्वतोभद्र होता है।

शौनकोक्त गायत्रीतर्पण

चतुर्विंशति गायत्री मुद्रओं के निरूपणोपरान्त शौनकोक्त गायत्री तर्पण की विधि का प्रतिपादन किया गया है। सावितृ प्रीति योग के लिये गायत्रीतर्पण करता हूँ ऐसा संकल्प कर "ओम्भू: पुरुषम् ऋग्वेदम् तर्पयामि" इत्यादि मंत्र से लेकर ओमनन्तमूर्तिं तर्पयामि" इस मंत्र पर्यन्त 24 मंत्रों द्वारा गायत्रीतर्पण करना चाहिये। जिससे चराचर का भी तर्पण होता है। इस प्रकार उपर्युक्त विधि से मध्याह्न, सायंकाल में इन्हीं मंत्रों द्वारा तर्पण करना चाहिये।

इसके अनन्तर इस ग्रन्थ में आश्वलायनगृह्य परिशिष्ट में वर्णित संध्या पद्धति का निरूपण किया गया है।

प्रकृत संध्योपासन पद्धति पौराणिक परम्परानुगत होने से संध्यागत अनेक कर्म अवैदिक हैं यह तथ्य स्वयं ओझा जी ने "इति अवैदिकम्" कह कर स्वीकार किया है। उन्होंने जिस कर्म को अवैदिक कहकर त्याज्य माना है वहाँ अन्य और भी कर्म ऐसे हैं जो अवैदिक हैं किन्तु उनको अवैदिक नहीं कहा है अत: वैदिक प्रामाण्यानुरोधेन संध्यागत अवैदिक एवं वैदिक (वेदोक्त) अंश अनुसंधेय एवं समीक्षणीय है।

An Introduction to the 'शारीरकविमर्श' of Pt. Madhusudan Ojha

Dr. G.L. Suthar*

Vidyavacaspati Pt. Madhusudan Ojha was a Vedic philosopher par excellence. The West minister Gazette published in London on the 26th of July, 1902 remarked about the profound scholarship of Pt. Ojha in the following befitting manner - ". . . A Hindu savant, a great celebrity in India, a human store-hourse of Vedic wisdom and philosophy." Following in the footsteps of the great Advaita Vedantin Shankara and other earlier commentators, Pt. Ojha has also furthered the tradition of composing commentaries and treatises on prasthanatrayi, viz the Upanisads, the Gita and the Brahmasutra. The word 'Prasthanatrayi' has been translated into English as 'the triple basis'[1] by Professor Karl H. Potter. Pt. Ojha's condensed but competent commentary on the Brahmasutra of Badarayana Vyasa is known as 'Sharirakavijnana'. With a view to explaining in a nutshell the philosophy of the Brahmasutra in consonance with the Brahmavijnana propounded by him, Pt. Ojha composed the vedantic treatise called 'शारीरकविमर्श' about which Pt. Giridhar Sharma Chaturvedi, his worthy disciple, has made the observations as follows - "यह 'शारीरकविमर्श' सब शास्त्रों का निचोड़ है और वेद के रहस्य का प्रशस्त मार्गप्रदर्शक है। ग्रन्थकार की प्रतिभा और विद्या का यह समुज्ज्वल आदर्श है। आशा है, विद्वान, इससे लाभ उठावेंगे। इसमें नया विषय होने के कारण स्थान-स्थान पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता बहुत है — वह भी ईश्वर की कृपा से कभी परिपूर्ण होगी।"[2] Truly speaking, Sharirakavimarsha consisting of sixteen chapters (prakaranas) is one of the pre-eminent treatises pertaining to Brahmavijnana revealed by Pt. Ojha.

First of all, there arises a question as to what has been the basis for using the title 'शारीरकविमर्श' for the work. On Studying Shamkara's scholium on the Brahmasutra we find that shamkara designated his Bhasya as 'शारीरकमीमांसा'[3] Vacaspati Misra in Bhamati has derived the term as follows - "शरीरमेव शरीरकम्, तत्र

* Director Pt. Madhusudan Ojha Research Cell, Deaprtment of Sanskrit, J.N. Vyas University, Jodhpur

निवासी शरीर को जीवात्मा, तस्य त्वम्पदामिधेयस्य तत्पदाभिधेयपरमात्मरूपतया या मीमांसा सा तथोक्ता।"[4] Sadananda Yoginadra, author of the popular vedantic manual Vedantasara, has used the term 'शारीरकसूत्र' for the Brahmsutra. Explaining derivatory meaning of the term, Ramatirthayati, author of the commentary 'Vidvanmanoranjani, says - "शरीरमेव शरीरकम् तत्र भवो जीव: शारीरक:, स सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि अथेति ब्रह्मजिज्ञासेत्यादीनि।"[5] Now it is clear that the title 'शारीरंकविमर्श' has for its basis the titles such as 'शारीरकमीमांसा' and 'शारीकसूत्र' used by Shamkara and other Vedantins. The versatile sanskrit Pandit M.M. Vasudeva Shastri Abhyankar, a contemporary of Pt. Ojha, has designated the Brahmasutra as 'शारीरकमीमांसा'[6].

In the first chapter entitled 'अथ ब्रह्मीमांसाप्रवृत्तिनिमित्तम्' Pt. ojha has closely examined as to what was the necessity of authoring the Brahmamimamsashastra (Brahmasutra). Putting forth the prima facie view, Pt. Ojha questions as to what is the purpose of attempting an inquiry (mimamsa) into the nature of Atman when it has already been discussed in other scriptures. According to Pt. Ojha, there are five scriptures dealing with the discussion of Atman - the Vedas, the Upanisads, philosophies, Mimamsa and the Gita. The former two are called Srutis, while the philosophies are known as Smrtis, There should not be any possibility of dobut about Atman because it is already established on the authority of the Srutis and Smrtis. Hence the utility of the Brahmasutra is questionable.

Rejecting the aforesaid prima facie view, Pt. Ojha observes that the Brahmasutra is undoubetly an exposition of the essential nature of Atman as is evident from the assertive aphorisms - "Athato Brahmajijnasa, Janmadyasya Yatah" (B.S.1.1.1 & 2), but at the same time it should be kept in mind that, like Atman, the Scripture propounding Atman, i.e. the Veda also is Brahman. Hence the Veda-Brahman too is intended to be discussed in the Brahmasutra. Since the Scripture (Veda) is the proof for ascertaining the true nature of Atman, it is desirable to determine the true nature of Atman with the assistance of determination of the import of the scripture (Veda). What Pt. ojha means to say is that the concept of Atman is discussed and affirmed in the Brahmasutra resorting to the authroity of the Vedas and the Vedantas (Upanisads).[7]

Again there arises a doub about the utility and novelty of the discussion of Atman in the Brahmasutra, because it is already propounded in the Vedas and the upanisads. To obviate this doubt, Pt. Ojha makes it clear that some characteristic discussion regarding Atman is intended in the Brahmasutra in comparison to the srutis, Smrtis and philosophies which do not explain the nature of Atman to full satisfaction. All these three Atmashastras are possessed of many a confliting view and hence they creat doubt.[8]

Therefore it deserves special attention that the commentators of the Brahmasutra have interpreted it in such a way so as to suit their pre-conceived opinions. Having considered the conflicting doctrines developed in the different Bhasyas of the Brahmasutra, the great philosopher Dr. S. Radhakrishnan has remarked about the Sutras as follows - "The Sutras are unintelligible by themselves, and leave everything to the interpreter. They refuse, Proteus-like, to be caught in any definite shape. Their teaching is interpreted sometimes in the bright hues of personal theism, sometimes in the grey abstractions of absolutism. . . ., and it is not an easy question to settle which of them can be accepted as a guide to the right understanding of the Sutra, for their commentaries were written at a time when the tenets had become matters of grave doubt and serious discussion."[9] Thus, the Brahmasutra, which was composed to obviate doubts about the characteristic nature of Atman and bring conformity in the apparently contradictory sruti texts, again becomes object of grave doubt on account of the mutually contradictory doctrines developed in its commentaries. It is yet to be examined whether Pt. Ojha also in his 'शारीकविज्ञानम्' has explained the Brahmasutra in the light of his preconceived Brahmavijnana or set forth the true and obvious sense of the Sutras.

It is interesting to note that Pt. Ojha has referred to many a seemingly contradictory view of creation found in the Vedas, the Brahmanas and the Upanisads adducing the relevant sruti texts. In this context we are reminded of Gaudapadacharya's Mandukyakarika where in he has referred to nine different theories of creation and various vikalpas (imagined attributes) fathered upon

Atman. About the worldly extension differentiated by name and form and presented to us by perception, all the people enquire as to whence it has been produced, what is its substrate and who is the Adhisthatr. There are seen many conflicting opinions in the Vedas, the Brahmanas, the Upanisads and the philosophical schools which have attempted to solve the aforesaid problems. On the basis of the citations of various Mantras, it has been pointed out that the following elements are referred to as the source of creation of the universe - Daiva (Destiny), conjunction and disjunction of Rajas, Apas, Vak, Vyoman, trio of sat, asat and sadasat, Amrta and Mrtyu.[10] Having viewed these confounding opinions, some scholars are constrained to form the opinion that everything is doubtful. In addition to this, Pt. ojha observes that some sruti texts declare Brahman as characterised by the nature distinctive from the universe and non-dual, while others hold that origination of the universe is inconceivable and indeterminable. Some sruti texts maintain that the universe has Brahman as its basis, while other sruti texts uphold that Brahman is Adhisthatr of the universe. The Sruti texts such as "ब्रह्म विश्वमिदं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्मैवेदं सर्वम्" establish non-difference of the universe from Brahman. Somewhere the nature of being substrate is indicated, while elsewhere non-difference is upheld. In view of the above, the causality of Brahman towards the universe is not absolutely intelligible and hence not beyond doubt.[11]

Further, Pt. ojha points out that the Brahmanas mention at different places creation of the universe being effected by Brahman, Prajapati, Purusa and Anna etc. He has quoted a passage from the Taittiriyopanisad which indicates that Ananda, vijnana, Manas, Prana and Vak- these five Brahmans are the cause of creation.[12] Since these products are effects, their causality towards the universe cannot stand to the reason. Hence doubt arises about their causality. Nor can it be ascertained that Brahman alone is the universe or material cause or Adhisthatr or Adhisthana (Substrate). There are such Sruti texts also which mention Brahman as produced from another. On the face of it, Brahman cannot be regarded as the primal cause of universe. Besides this, the Sruti texts propound such things which are not in conformity with the perceptual experience and empirical usage. The

great seers propounding Brahman in various forms do not put forth anything definitive. Hence, Brahman is again subject to doubt. On the contrary, people desire to know the cause which is beyond doubt. Having considered all these conflicting opinions and apparent contradictions, Pt. Madhusudan Ojha remarks – "इह पुनरेकस्य ब्रह्मणोऽन्यथा विरोधेन श्रूयमाणैरर्थैः सामञ्जस्यं नास्ति सन्देहश्चापद्यते-ब्रह्मभिन्नं विश्वमिति वा । ब्रह्मोत्पन्नं विश्वमिति वा । ब्रह्मण्याहितं विश्वमिति वा । किञ्चिदन्यद, विश्वमिति वा । किं चैतस्य ब्रह्मणो विश्वविलक्षणं स्वरूपमिति वा । नैतं कमप्यर्थं श्रुतिवाक्येभ्यो निर्धारयितुं शक्नुमः । अथान्येऽपि ब्रह्मविषये दृश्यन्ते बहवो विरोधाः - तथाहि - अनाधारत्वसर्वाधारत्वविरोधो यथा . . . . . . तस्मादित्थमनिर्णये प्रसक्ते अवश्यमियं ब्रह्ममीमांसा वेदब्राह्मणोपनिषत्प्रकरणानां विरोधाभासनिरासार्थमपेक्ष्यते ।"[13] Notwithstanding that the Vedas and the Vedantas containing mutually contradictory views are subject to doubt, yet they cannot be overlooked considering them as meaningless and incoherent because the yogic intuitional cognition of the great seers cannot be taken otherwise. Their undisputed authenticity has been established as follows –

"आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥"[14]

"अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् ।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ॥"[15]

The Sruti itself ordains to indulge in reflection and contemptation. Hence it permits for inquiry into the sentences possessed of doubtful meaning. Import of the Sruti texts expressing the intuitive cognition of the great seers must be determined through mimamsa (inquiry). The atmavijnana is not to be abandoned on account of difficulty in its comprehension. Pt. Ojha observes that twofold function is to be performed by mimamsa. Firstly, inquistion of the Scripture should be done to defend the authoritativenss of the Vedas and the Vedantas. Secondly, with a view to obliterating the doubt arisen out of the confounding opinions regarding the duality and non-duality of Atman propounded in the Scriptures, mimamsa is necessary. The Brahmamimamsashastra undoubtedly establishes the

causality of Brahman towards the universe and also explains all the doubtful statements of the Vedas, Brahmanas and Upanisads as having Brahman for their purport.

It is the characteristic feature of Pt. Ojha's discussion in शारीरकविमर्श that he has for the first time pointed out Sastrabrahma and Atmabrahma as the object of mimamsa in the Brahmasutra. It is very interesting to note that he has established the Brahmasutra and the Gitashastra as Vijnanashastra. He does not regard them as Darsanashastra. Further, he maintains that on the basis of the Brahmasutra's portion dealing with the essential nature of Atman, it can, however, be called Darsanashastra, but so far its portion discussing the scripture is concerned, it cannot be regarded as Darsanashastra.

Yet another distinguishing feature of this work, which deserves special mention, is that Pt. Ojha has discussed 42 different views regarding the पौरुषेयत्व and अपौरुषेयत्व of the Vedas upheld by Indian and western scholars.[16] Surprisingly, he has objected to the usage of the word vedanta for the Brahmamimaṁshaṣastra (Brahmasutra), because the Upanisads are designated as the Vedantas.[17] To obviate the doubts regarding the causality of Brahman, Pt. ojha has made it clear that Prajapati Brahman is the cause of the Universe. It is in the state of Isvara and Jiva. Isvara is the cause of external world, while Jiva is the cause of inner world. All the Upanisads have given the definitions per proprium and per accidens of these two. He observes that 40 words are found in the Upanisads which have been taken to denote the cause of the universe. Those 40 words have been enumerated in शारीरकविमर्श as follows – "ब्रह्म, अन्तरात्मा, आकाशः, प्राणाः, अनूचीनाः, ज्योतिः, वायुः, इन्द्रः, मनोमयः, प्राण शरीरः, भारूपः, आकाशात्मा, हृद्य उपास्यः, अत्ता, गुहाहितः, चाक्षुषः, अन्तर्यामी, भूतयोनिः, वैश्वानरः, आयतनम्, भूमा, अक्षरम्, ओङ्कारः, दहरः, भारूपः, अंगुष्ठप्रमितः, भयङ्कर, शास्ता, ज्योतिः, आकाशः, विज्ञानमयः, अव्यक्तम, अजा, पञ्चजनः, कारणम्, कर्ता, भोक्ता, प्रकृतिः ।"[18] Actually these words do not seem to have Brahman for their purport and hence the philosophers have conceived divergent causes of the universe in their philosophical systems. As a matter of fact, the one and non-dual Brahman alone transforming itself into the various forms of प्राण, देवता and भूत etc. causes the universe.

On the basis of his indepth study of the Vedic philosophy, Pt. ojha has opined that Atman is sevenfold[19] –

1. निर्विशेष:
2. परात्पर:
3. पुरुष:
4. सत्य:
5. यज्ञ:
6. विराट्
7. विश्वम्

The former three are Nirguna, while the latter three are Saguna. Furthermore, the Purusa is three fold on account of the trinity of yogamaya. Those three are – अव्यय:, अक्षर: and क्षर: The अव्यय पुरुष is the Alambana, viz. basis. The अक्षर पुरुष is the efficient cause, while the क्षर पुरुष, which is also called महद्ब्रह्म, is the material cause.[20] The concept of sevenfold Atman has been elaborately discussed in शारीरकविमर्श. Refuting the mutually contradictory views of the various philosophical schools, he sets forth the conclusive view that the Nirvishesa alone is the significance of the Vedantashastra. Thus we can say that Pt. Madhusudan ojha has reveled the mystery of the Vedic philosophy.

References

1. Encyclopedia of Indian Philosophies (Vol.), Karl H. Potter; Motilal Banarsidas, Delhi, p.5
2. शारीरकविमर्श (सारांश): म.म. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, V.S. 2001, p. 6-7
3. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य 1.1.1
4. भामती 1.1.1.
5. वेदान्तसार (विद्वन्मनोरञ्जनी टीका सहित), पृ.139
6. सर्वदर्शनसंग्रह (भूमिका), भाण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
7. शारीरकविमर्श , p.2

8. अपि च — सन्तु तावदिमानि वेदवेदान्तदर्शनानि च शास्त्राण्यात्मनिरूपणानि किन्तु नात्यन्तं तत्रात्मनिरूपणं संतोषायोपयुज्यते — त्रयाणामप्येषामात्मशास्त्राणां बहुविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेन सन्देहजनकत्वात् ।
— शारीरकविमर्श,p.2

9. Indian Philosophy (Vol. 2): Dr. S. Radhakrishnan, P.431

10. शारीरकविमर्श,p.2-3

11. इत्येतेषु वचनेषु अस्य ब्रह्मणः क्वचिदाधारत्वं क्वचिदभिन्नत्वमाख्यायते। तेनैतस्य विश्वकारणत्वं नात्यन्तमुपपन्नं भवति इति। तस्मात् सन्दिग्धोऽयमर्थः। — शारीरकविमर्श P. 5-6

12. शारीरकविमर्श,p.7

13. Ibid; p.8

14. Ibid; Pp9

15. Ibid.

16. Ibid; pp. 42-83

17. उपनिषत्सु वेदान्तशब्दस्य प्रतिपन्नतयैतस्मिन् मीमांसाशास्त्रे वेदान्तशब्दप्रयोगस्यानुचित्वात्। — शारीरकविमर्श,p.15

18. शारीरकविमर्श,pp. 91-92

19. Ibid., p.124

20. Ibid; p. 126

वेद व्याख्या और इंद्रविजय

—डॉ. फतहसिंह*

आचार्य श्री मधुसूदन ओझा ने यद्यपि कोई वेद-भाष्य नहीं किया, परन्तु उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें वेदभाष्य पद्धति के लिये अत्यंत ठोस सामग्री प्रस्तुत कर दी है। ओझाजी इस सामग्री की नवीनता का दावा नहीं करते। उनका कथन है कि वे जो कुछ लिखते हैं वह सब का सब प्राचीन परम्परा का पुनरुद्धार मात्र है। उनके इस विनम्र निवेदन का पूर्णतया सम्मान करते हुए भी, ओझा जी की मौलिकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसमें कोई संदेह नहीं कि ओझाजी ने वेदार्थ में उस समस्त भारतीय परम्परा की उपयोगिता को ही रेखांकित करने का प्रयास किया है जो संहिताओं,ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों से लेकर रामायण, महाभारत, पुराणों तथा षड्दर्शनों में प्राप्त होती है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह परंपरा भाष्यकारों द्वारा केवल खण्डशः ही काम में ली जाती रही। यही कारण है कि किसी ने अपना वेदभाष्य केवल कर्मकाण्ड के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया, तो किसी ने वेदमंत्रों की केवल मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक व्याख्या ही प्रस्तुत की। कुछ भाष्यकारों ने न केवल पुराणों को, अपितु ब्राह्मण ग्रन्थों के भी अनेक आख्यानों को गपोड़ा कहकर अमान्य ठहराया, जबकि अन्य अनेक विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय को केवल असभ्य तथा अविकसित मनुष्यों की रूढ़ियों और अंधविश्वासों का एक महान् भण्डार मात्र माना।

ओझाजी की मौलिकता

वेद-व्याख्याकारों के इस व्यापक भ्रम का कारण यह था कि वेद-विहित कर्मकाण्ड की जो वैज्ञानिक पृष्ठभूमि ब्राह्मणों या आरण्यकों में यत्र-तत्र बिखरी मिलती है वह कालांतर में उपेक्षित होते-होते सर्वथा विस्मृत हो गई और प्राचीन वैदिक यज्ञों में सुप्रचलित ब्रह्मोद्य नामक दार्शनिक मीमांसा की परिपाटी पूर्णतया विलुप्त हो गई। इतिहास तथा पुराण नामक जिन विद्याओं का उपयोग वेदार्थ के उक्त वैज्ञानिक पक्ष को प्रस्तुत करने के लिये होता था उस ओर संकेत करने के लिए वेदव्यास ने कहा था —

इतिहासपुराणाभ्याम् वेदान् समुपबृंहयेत्।
विभेति अल्पश्रुताद् वेद एष मां प्रहरिष्यति ॥

यद्यपि इतिहास और पुराण कहे जाने वाले ग्रन्थों की महिमा बताने के लिये इस उक्ति का बराबर प्रचार होता रहा, परन्तु वेद व्याख्या के लिये इसका क्या महत्व हो सकता है, इसका रहस्य जानने और वेदव्याख्या में उसका उपयोग करने की क्षमता रखने वाले विद्वानों का नितान्त अभाव हो

* 17E, 257 चौपासनी हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर।

गया । इतिहास ग्रन्थों के रूप में रामायण-महाभारत तथा पुराणों के रूप में शिवपुराण, भागवतपुराण और विष्णुपुराण आदि की कथा होती रही, परन्तु उनके द्वारा वेदों के उपबृंहण करने की न तो आवश्यकता समझी गई और न संभवत: विद्वानों में इसकी क्षमता ही रह गई ।

पं. मधुसूदन ओझा ने वेदव्याख्या में न केवल इतिहास और पुराण की उपादेयता को समझा और उसकी महत्ता को पुन: स्थापित करने का प्रयास किया, अपितु वैदिक कर्मकाण्ड की पृष्ठभूमि में स्थित प्राचीन विज्ञान को उजागर करके उसे वेदव्याख्या में उपयोगी बनाया । ओझाजी की यह सबसे बड़ी मौलिकता है । इस निमित्त उन्होंने द्वादशवादग्रन्थों के लिखने की योजना बनाई । इन योजनाओं के तहत जहाँ सदसद्वाद, रजोवाद, व्योमवाद, अहोरात्रवाद, दैववाद, अमृतमृत्युवाद आदि ग्रन्थ लिखे गये वहाँ विज्ञानेतिवृत्तवाद के अन्तर्गत पंच उपाख्यानों के लिखने की योजना भी थी । मुझे पता नहीं कि ये सभी उपाख्यान लिखे गये या नहीं परन्तु ओजाजी का "इन्द्रविजय" नामक ग्रन्थ इसी कोटि में आता है ।

इन्द्रविजय

यह एक विचित्र ग्रन्थ है । इसका अपरनाम "भारतवर्षीयायोपाख्यान" है । इसमें कुल 5 खण्ड हैं जिन्हें प्रक्रम नाम दिया गया है । भारत परिचय अथवा भौगोलिक रहस्य नामक प्रथम प्रक्रम है । यद्यपि देखने में यह प्रक्रम भारतवर्ष का भौगोलिक इतिवृत्त प्रस्तुत करता है परन्तु लेखक ने चतुराई से वैदिक मंत्रों के आधारभूत प्रतीकवाद की वह समस्त पृष्ठभूमि उपस्थित कर दी है जो आगे इतिहास पुराणों तक देखी जा सकती है । इस निमित्त जहाँ भारतवर्ष के विविध नामों, उपद्वीपों तथा सीमाओं का प्रसंग आया है, वहां उसकी भाषा, वर्णमातृका तथा लिपि के साथ-साथ सभ्यता, धर्म तथा विद्या की भी सविस्तार चर्चा की गई है । इन विद्याओं में मन:संयम इंद्रिय-संयम, हृदय-संयम तथा प्राण-संयम द्वारा प्राप्तव्य अनेक सिद्धियों के साथ नवनिधियों एवं ब्राह्मणवीर्य एवं क्षात्रवीर्य द्वारा उपार्जनीय शस्त्रास्त्रों का भी उल्लेख है । पूरे ग्रन्थ में इस प्रथम प्रक्रम को सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझा गया है । इसलिये, पूरे ग्रन्थ के लगभग अर्द्धांश में भारतपरिचय अथवा भौगोलिक रहस्य नाम से अनेक विषयों का ही वर्णन किया गया है । जिनकी परिणति पूर्वोक्त सभ्यता, धर्म तथा विद्याओं के निरूपण में होती है ।

इन उपलब्धियों के मार्ग में आर्यों को दासों, अथवा दस्युओं के विरोध का सामना करना पड़ता है । अत: दूसरे प्रक्रम को आर्यदासीय: अथवा दस्यूपद्रवाभिज्ञानम् नाम दिया गया है । 45 पृष्ठों के इस अध्याय में जिस पंचविध संग्राम का वर्णन है उसके अन्तर्गत गायों के निमित्त पणियों से, भूमि के हेतु दैत्यों से होने वाले युद्धों का समावेश होता है । इन सभी प्रकार के युद्धों का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र मिलता है । अनेक वेद-मंत्रों में, इन युद्धों के लिये संनद्ध होने वाले देवों के लिये रथ तथा शस्त्रास्त्र के निर्माण एवं उनके निर्माणकर्त्ता त्वष्ट्रा, ऋभुगणादि का भी वर्णन मिलता है । इन सभी मंत्रों का उपयोग ओझाजी ने अपने विषय-विवेचन में किया है ।

इस देव-दस्यु-संग्राम में देवों की विजय को सर्वाधिक सुनिश्चित करने वाला एक मात्र साधन दिव्य प्राणों का विज्ञान माना गया है । अतः विज्ञानभवनम् नामक तृतीय प्रक्रम में इसी विषय को लिया गया है । इस विज्ञान का मूलाधार है सूर्य, उषा, अहोरात्रादि का ज्ञान-विज्ञान । अतः इस प्रक्रम का एक नाम सूर्यसदनाभिज्ञानम् भी है, क्योंकि इसमें सूर्यमूलक विज्ञान का परिचय कराते हुए दिव्यप्राणपरीक्षा के लिये विज्ञानशाला का निर्माण, सूर्याधिष्ठान, सूर्यसंस्थानस्वरूप, सूर्यचक्रस्वरूप तथा सूर्यविज्ञान से प्राप्तव्य दैविक, भौतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धियों का वर्णन किया गया है । इस प्रसंग में सूर्य, उषा, इन्द्र आदि देवों के अनेक वैदिक मंत्रों का उपयोग हुआ है तथा इन्द्र द्वारा सूर्यचक्रद्वय में से एक का परोहण, सूर्याधिष्ठान में दस्युओं द्वारा आक्रमण, इन्द्रकुत्स द्वारा उस आक्रमण का निर्वहण, सूर्यसंस्थान के संरक्षण की व्यवस्था अग्निपुरस्कृत देवों का स्वर्ग-गमन तथा एतश द्वारा सूर्यरथवहन के साथ द्युलोक में सूर्यारोपणस्थानादि का वर्णन किया गया है ।

उपर्युक्त सूर्यविज्ञान की उपलब्धियों के फलस्वरूप होने वाली देवों की आत्यंतिक विजय के वर्णन के लिये दस्युनिग्रह नामक चतुर्थ प्रक्रम लिखा गया है । इसका अपरनाम दस्युसंहारयुद्ध भी है, क्योंकि इसमें रौहिण, अहि (वृत्र) शुष्ण, शंबर, कृष्णासुर आदि 50 सहस्र दस्युओं के संहार अथवा निग्रह का वर्णन है । इस प्रसंग में दस्युपरिपीड़ित आर्यों का इन्द्र की शरण में जाना तथा इंद्र से अपना दुखड़ा सुनाना इन्द्र द्वारा दस्युविनाश के लिये संकल्प तथा निषधगिरी पर जाना, इन्द्र का कुत्स के सात परामर्श तथा मरुतों की सहायता प्राप्ति, प्रतिष्ठानपुराधीश आयुराज पुरूरवा का परिचय तथा उसका इन्द्र के साथ सहयोग आदि ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख हुआ है जो वैदिक मंत्रों में संकेतित हैं ।

अंततोगत्वा, अंतिम (पंचम) प्रक्रम में इन्द्रविजय से होने वाले विजयोल्लास का वर्णन किया गया है । अतः इस प्रक्रम को विजयाभिनन्दन अथवा युद्धशान्तिमहोत्सव नाम दिया गया है । इस अध्याय का प्रारम्भ पूर्वोक्त विज्ञानशाला में आयोजित कृतज्ञतासूचक विजयमहोत्सव से होता है । तत्पश्चात् सूर्यसदन में होने वाले विजयाभिनन्दन महोत्सव का वर्णन आता है । इन अवसरों पर विश्वामित्र, हिरण्यस्तूप, गृत्समद, वामदेव प्रभृति कम से कम तीस ऋषियों द्वारा इन्द्रस्तुति किये जाने की चर्चा की गई है । इस चर्चा का मूलाधार वेद-मंत्र ही है । इस व्यापक प्रशस्तिवाचन तथा अभिनन्दन के पश्चात् इन्द्र का स्वर्गगमन तथा अंत में वहाँ इन्द्रविजयोत्सव होता है जहाँ फिर नृमंध पुरुमेधादि अनेक ऋषि इन्द्र का गुणगान करते हैं ।

इन्द्रविजय का रहस्य

इस प्रकार इन्द्रविजय तथा दस्युनाश की कथा कह चुकने के पश्चात् ओझाजी ने उदयनीयं परिशिष्टाख्यानम् नाम से कुछ अन्य प्रसंग जोड़कर अपने प्रतिपाद्य विषय के रहस्य की ओर संकेत

किया है । देवराज इन्द्र द्वारा स्थापित यह सर्वरूपाशान्ति भी स्थायी नहीं रह सकी, क्योंकि देवकुल द्रेषी असुरराज प्रहलाद के आने पर आर्यों का सूर्य गान्धार देश से अस्त हो गया तत्पश्चात् सिरिया देश में हेलिपौलस्त्य ने बालप नामक सौरभवन स्थापित किया । उस भवन में भी सूर्य की स्थापना हुई । सूर्य जिस दिशा में रहता है वहीं देव होते हैं और उसके पीछे की दिशा में असुर होते हैं । असुरों के आक्रमण से जब सूर्य अस्त होता है, तो वही सूर्य आसुरी दिशा में उदित होता है । यह वैज्ञानिकी संस्था अधिदैविक जगत् में इसी का अनुकरण प्रकृति के अधिभूत में होता है । जो सूर्य पूर्व में उदित होता है वह पश्चिम में अस्त होकर पुनः पूर्व में आता है । इस नियम के अनुसार जो विज्ञान सूर्य पूर्व से पश्चिम में गया वह पुनः भारत में आयेगा तथा अज्ञानान्धकार का नाश करके भारतधर्म की वृद्धि करेगा जब पूर्वकाल में, इन्द्र स्वर्ग में स्थित था, तो यह लोक त्रिविध था और इस भारत में विद्या शौर्य, श्री, सिद्धियों, निधियों आदि की संपन्नता थी । वैदिशिक दस्युओं से परिपीड़ित भारतीयों की अन्ततः विजय होगी । इस आशा के साथ ओझाजी ने ग्रन्थ की समाप्ति की है ।

यह ग्रन्थ अत्यन्त सरल, सरस तथा सुबोध भाषा में लिखा गया है, परन्तु फिर भी परम्परागत प्रतीकवाद की उपेक्षा करने पर यह भी उसी प्रकार भ्रांतियों का सूत्रपात कर सकता था जिस प्रकार रामायण, महाभारत, पुराणों तथा वैदिक आख्यानों ने किया है । परन्तु ओझाजी ने अन्यान्य ग्रन्थ लिखकर हमें जो प्राणदृष्टि दी है उसके आलोक में हम इन्द्रप्राण के इतिहास को भलीभांति समझ सकते हैं और वह जिन मरुतों आदि देवों तथा वसिष्ठ विश्वामित्रादि ऋषियों से जुड़ा है उन सबकी उस प्राणरूपता को भी हृदयंगम कर सकते हैं जिसकी व्याख्या "महर्षिकुलवैभवम्" में की गई है । इस प्राणदृष्टि के आलोक में हमारी इतिहासविषयक धारणा ही बदल जाती है । और तब हम प्रत्येक इतिवृत्तात्मक उपाख्यान को इतिहास न कहकर रामायण तथा महाभारत से प्राप्त इस परिभाषा को स्वीकार करते हैं ।

धर्मार्थकाममोक्षाणाम् उपदेश प्रतिपत्तये ।
पुरावृत्तम् कथायुक्तम् इतिहासमित्याचक्षते ॥

इस परिभाषा के अनुसार केवल प्राचीन घटनाओं के जमघट को इतिहास नहीं कह सकते । उसमें पुरावृत्त अथवा प्राचीन वृत्तान्त, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेश का माध्यम बनकर आता है । दूसरे शब्दों में इतिहास के अन्तर्गत पुरावृत्त को इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है जिससे वह पुरुषार्थचतुष्टय की शिक्षा का सफल माध्यम बन सके । इस निमित्त पुरावृत्त में कुछ काल्पनिक कथाओं अथवा इतिवृत्तात्मक आख्यानों का भी प्रयोग होता था । वेद में आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक पुरातत्व पर आश्रित आख्यानों की भरमार है । वहाँ वे वेदविज्ञान की शिक्षा देने के लिये प्रयुक्त हैं । बदली हुई परिस्थितियों में इनके द्वारा वेदविज्ञान को नये ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है । अतः "पुरानवं भवति" की यास्कीय व्युत्पति के अनुसार इस आख्यान विद्या को पुराण

नाम दिया गया है । अथर्ववेद में इसी को पुराणवेद कहा गया है क्योंकि इसके द्वारा वेद के सनातन विज्ञान को बदलते हुये युगयुगान्तरों में नये ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है । इसी विशेषता के कारण भविष्यपुराण को मध्ययुगीन तथा किञ्चित् आधुनिक कालीन परिस्थितियों का समावेश करना भी संभव हो सका है । उदाहरण के लिये वहाँ मोहम्मद नाम से इस्लामी पैगंबर का उल्लेख भी मिलता है, यवन, पारसीक, शक, आमीर, खश आदि की चर्चा तो अनेक पुराणों में हुई है परन्तु इस प्रकार परवर्ती परिस्थितियों का समावेश करते हुये भी उनका मुख्य आधार उन्हीं देवों तथा ऋषियों के नाम हैं जिनका उल्लेख वेद-मंत्रों में हुआ है क्योंकि सभी पुराणों में इन नामों का उपयोग वेद-विज्ञान की शिक्षा देने के लिये अपने-अपने ढंग से किया है ।

इस तथ्य को हम तभी समझ सकते है जब हम ब्राह्मणग्रन्थों और वृहद्देवता द्वारा समर्थित उस प्राण-दृष्टि से वैदिक देवों तथा ऋषियों पर विचार करें जो हमें आचार्य ओझा जी ने अपने ग्रन्थों द्वारा पुनः प्रदान की है । इस दिशा में हमारे वेद संस्थान के एक युवा वैज्ञानिक (विपिन कुमार) ने डेढ़ वर्ष में जो काम किया है वह अद्भुत है । उसने वैदिक आख्यानों के पौराणिक रूपांतरों को एकत्र करके वेद-विज्ञान को समझने में मेरी जो सहायता की है उससे वेद-मंत्रों की व्याख्या अत्यधिक सुसंगत तथा सुस्पष्ट हुई है । उदाहरण के लिये वेद में पुरूरवा तथा उर्वशी का जो संवाद मात्र एक प्रेमालाप समझा जाता था उसमें गूढ तत्वज्ञान के दर्शन होने लगे हैं और यह भी स्पष्ट हुआ है कि मनु पुरूरवा वसिष्ठपुरूरवा तथा एड पुरूरवा नामों से वेद में जिसका उल्लेख हुआ है वह मूलतः एक ही तत्व है जो स्तरभेद से भिन्न-भिन्न नाम ग्रहण करता है । इसी प्रकार ओझाजी की दृष्टि को पल्लवित करके वेद-व्याख्या में आशातीत सफलता मिल सकती है । आशा है इसी तरह अन्य विद्वान् भी इस दिशा में प्रयत्नशील होंगे ।

'पथ्यावस्ति' नाम की सार्थकता

डॉ. श्रीमती श्रद्धाचौहान*

पं. मधुसूदन ओझा जी के अनेक ग्रन्थों में से एक 'पथ्यास्वस्ति' है जो कि ओझा जी के शिष्य तथा मेरे गुरुवर्य स्वामी सुरजनदास जी द्वारा सम्पादित तथा अनूदित है। मातृका-परिष्कार, यम-परिष्कार, गुण परिष्कार, अक्षर निर्देश तथा सन्धिपरिष्कार नामक पञ्च प्रपाठों में विभक्त इस ग्रन्थ से, सामान्य रूप से यही प्रतीत होता है कि इसमें शिक्षा, प्रातिशाख्य, निरुक्त व्याकरण आदि के विषय का ही विवेचन किया गया है, परन्तु लेखक का उद्देश्य सीमित नहीं प्रतीत होता जैसा कि ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में कहा है —

"परब्रह्माक्षरं ज्ञातुं शब्द ब्रह्माक्षरस्थितिम्, विज्ञापयति विज्ञानप्रवणा मधुसूदनः"। इस पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि ओझा जी का मुख्य उद्देश्य परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करवाना है। ग्रन्थ का नाम 'पथ्यास्वस्ति' भी इसी ओर इंगित करता प्रतीत होता है। ब्रह्म बिन्दूपनिषद् की 'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' उक्ति शब्द ब्रह्म द्वारा परब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग दिखाती है। पथ्यास्वस्ति के प्रथम प्रपाठ में आर्षेयी वर्णमाला तथा ब्राह्मवर्णमाला का वर्णन किया गया है तथा द्वितीय में वर्णों पर विस्तृत विचार किया गया है। तृतीय प्रपाठ गुणानुवाक में वर्णों में रहने वाले गुणों की चर्चा करते हुए ऋ. 1.164.45 को उद्धृत किया गया है—

> चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुः ब्रह्मणा ये मनीषिणः।
> गुहा त्रीणि निहात नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

प्रथम पाद की व्याख्या करते हुए वाचस्पत्य, ब्राह्मस्पत्य, ऐन्द्र और भौम नामक वाक् से परिच्छिन्न चार स्थान बताये हैं। इन चार स्थानों से वाक् के भी चार भेद बन जाते हैं — वेकुरा, सुब्रह्मण्या गौरिवीता तथा आम्भृणी। ओझा जी के अनुसार वेकुरा वाक् की विद्यमानता स्वयम्भूमण्डल रूप परमाकाश में, सुब्रह्मण्या वाक् का स्थान महासमुद्र रूप पारमेष्ठ्य मण्डल में, गौरिवीता का पद महाब्रह्माण्ड रूप सौरमण्डल में तथा चन्द्रमण्डल से युक्त भौमाण्डरूप पार्थिव मण्डल में सोममयी आम्भृणी वाक् का स्थान है। यह चारों प्रकार का वाक् तत्तल्लोकों में विद्यमान सभी पदार्थों का उपादान कारण हैं। इनमें से तीन तो गुह्य हैं अतः अज्ञात हैं। चतुर्थ वाक् को मनुष्य बोलते हैं। यह आम्भृणी वाक् है जो कि भूमि में व्याप्त है।

आम्भृणी-वाक् का एक सूक्त ऋ. 10.125 में प्राप्त है जिसमें वह घोषणा करती है —

> अहं रुद्रेभिः वसुभिश्चरामि, अहम् आदित्यैः उत विश्वेदेवैः।
> अहं मित्रावरुणा उभा विभर्मि, अहम् इन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ 10.125.1.

---

* सहायक आचार्य, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

वह रुद्रों, वसुओं, आदित्यों तथा विश्वेदेवों के साथ विचरण करती है । रुद्रों तथा वसुओं के साथ वाक् का विचरण[1] एक प्रकार का है और आदित्यों तथा विश्वेदेवों के साथ अन्य प्रकार का । उसकी इस द्विविध गति को बताने के लिए ही प्रथम मन्त्र में तृतीया ब.व. के दो रूपों का प्रयोग हुआ है । वह सोम, त्वष्टा, पूषा तथा भग का भरणपोषण करती है; साथ ही 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्' का उद्घोष करती हुई विभिन्न स्थानों और रूपों में देवों द्वारा प्रकट की जाने वाली है । दर्शन, श्रवण तथा श्वसन क्रिया करने वालों के प्रति वह कहती है कि ये सब मेरे द्वारा ही अन्न खाते हैं । इस तथ्य से अनभिज्ञ जन भी इसके पास निवास करते हैं । वह मनुष्यों तथा देवों से एक साथ सेवित है । वह जिसे चाहती है उसे उग्र, ब्रह्मा, ऋषि तथा सुमेधा बनाती है । वह रुद्र के लिए धनुष का सन्धान करती है, जन को समद करती है तथा द्यावापृथिवी में प्रवेश करती है । वह पिता को इसकी मूर्धा पर उत्पन्न करती है, उसका स्थान जलों में है, वहाँ से वह विश्व भुवनों में स्थित होती है और द्यु को उसके शिर से छूती है । वह वायु के समान गति करती है, वह द्यु तथा पृथिवी से परे है ।

आम्भृणी वाक् के आठ मन्त्रों के संक्षिप्त सूक्त में 'चत्वारि पदानि परिमिता' की आध्यात्मिक व्याख्या भी निहित है । ओझा[2] जी ने इस श्रुति के व्याख्यान में वाक् के अमृता, दिव्या, वायव्या तथा ऐन्द्री नाम से चार भेद किये हैं । उन्होंने मन और प्राण से गर्भित सत्यावाक् को अमृता, ऋत को दिव्या, अनर्थक ध्वनि रूप वाक् (जिसका ब्रह्म वायु है) को वायव्या कहा है । यही विश्व का उपजीवन करने वली सरस्वती नामक तृतीया वाक् है । इस सरस्वती वाक् में प्रविष्ट होकर इन्द्र विभिन्न आकारों में उसे व्याकृत करता है; अतः यह ऐन्द्री कहलाती है । इन्द्र द्वारा व्याकृता होने वाली वाक् की ब्राह्मण-कथा को आचार्यवर्य ओझा जी ने इस प्रकार उद्धृत किया है — "वाग्वै पराची अव्याकृता अवदत् । तद् देवा इन्द्रं अब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुरु इति । सोऽब्रवीत्-वरं वृणै । मह्यं चैवेष वायवे च सह गृह्याता इति । तस्मादैन्द्र वायवःसह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽपक्रम्य व्याकरोत तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते ।' वस्तुतः प्राण[3] ही इन्द्र है । इन्द्र प्राण द्वारा अधिष्ठित होने के कारण इस व्याकृता वाक् का एकीभाव हो जाता है इसलिये जै.उ.ब्रा. 1.33.2. में कहा गया है अथयः इन्द्रः[4] सा वाक् ।

अव्याकृत वाक् ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त जिस अधिष्ठान में अपने को व्याकृत करती है वह है - यह पिण्डाण्ड । वेद की प्रतीकवादी शैली में यह पृथिवी[5] तथा औपनिषदिक भाषा में अन्नमयकोश[6] या रथ[7] के रूप में वर्णित हुआ है । यह इन्द्र प्राण या प्रजापति का वह स्थूल माध्यम है जिसमें वह अपनी महिमा (वाक्) द्वारा व्यक्त होता है । श.ब्रा. में वाक् को आत्मा की स्व या महिमा[8] कहा गया है जिसके द्वारा वह एक से बहुत होता है । इस स्थूल स्तर पर वह रुद्रों तथा वसुओं के साथ विचरण करती है । रुद्र का अर्थ है - रुलाने वाला[9] । मनुष्यके आवेग रुद्र हैं, रुलाने वाले हैं । कामक्रोधादि मनोवेगों के वशीभूत होकर व्यक्ति को अन्ततः पछताना पड़ता है । वाक् अन्नमय स्तर पर इन आवेगों (रुद्रों) के साथ विचरण करती है । प्राणमय स्तर पर वह वसुओं अर्थात् प्राणों[10] के साथ

विचरण करती है। इस स्तर पर वह वासना कही जा सकती है। वासना से आवेष्टित मन शरीर से भिन्न किसी अन्य तत्व के बारे में सोच ही नहीं सकता। मनोमयः स्तर पर वह आदित्य-प्राणों[11] के साथ तथा विज्ञानमय स्तर पर विश्वेदेव[12] प्राणों के साथ विचरण करती है। अन्नमय तथा प्राणमय के स्थूल स्तर पर वाक् अधोगति करती है, वह आवेगों (रुद्रों) तथा वासनाओं (वसुओं) के साथ विचरण करती हुई वह कभी भी अपने स्रोत शक्तिमान की ओर उन्मुख नहीं हो सकती है। स्थूल शरीर को अनुप्राणित करने के अतिरिक्त, उसका एक अन्य कर्म भी है और वह है — भरणपोषण करना (बिभर्मि)। इस कर्म को वह आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ विचरती हुई करती है। आदित्य प्राणों का काम आदान[13] करना है। ऋग्वेद[14] में अदिति के आठपुत्रों का वर्णन है और पुराणों[15] में बारह। मनोमय में निवास करने वाली ये शक्तियाँ, विषयों का आदान करके विज्ञानमयकोष में डालती हैं। यही अक्षर, परम व्योम[16] है जहाँ विश्वेदेव निवास करते हैं। इसी परम व्योम (विज्ञानमयकोश) में वाक् अव्याकृतावस्था में रहती है अतः अमृता है यहाँ इसका क्षय[17] नहीं होता। द्युलोक रूपी मनोमयकोश में उत्पन्न होने पर यह दिव्या तथा ऋतस्थ प्रथमजा कहलाती है। प्राणमयकोश (अन्तरिक्ष लोक) में वायु द्वारा अधिष्ठित होकर वायव्या हो जाती है। अन्नमयकोश में अवतरित होने पर इन्द्रप्राण द्वारा अधिष्ठित होने से उसके साथ एकीभाव स्थापित कर यह ऐन्द्री नाम धारण करती है। ओझा[18]जी के अनुसार पार्थिव वागधिष्ठाता इन्द्र प्राण, आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य भेद से दो प्रकार का है। दिव्येन्द्र प्राण प्रज्ञा प्राण कहलाता है। यही प्रज्ञाप्राण प्रस्त्रियमाण ध्वनिरूप वाक् में स्वर व्यंजन करता है। आन्तरिक्ष्य इन्द्र प्राण वायुसे युक्त रहता है। यह ऐन्द्रवायव ग्रह बनाता हुआ आग्नेयी ध्वनि रूप वाक् को अधिष्ठित करता है। इस व्याकृत ऐन्द्री वाक् के ओझाजी ने अध्यात्म में पुनः चार[19] भेद बताये हैं।

व्यक्ताव्यक्त वाक् का वर्णन आगम ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। तन्त्रालोक[20] में इसी को संवित् नाम देते हुए उसे 'इयं सा प्राणना शक्तिः', 'स्पन्द' तथा 'हत प्रतिभा' आदि रूप में प्रकट होने वाली कहा गया है। विष्णु संहिता के अनुसार परं ज्योति एक है जो अपनी माया से बहुधा हो जाती[21] है।' अहिर्बुध्न्यसंहिता[22] में यही 'माया' या पारमात्मिका अहंता है जो सम्पूर्ण जगत् का रूप धारण करती है। यह शक्ति शक्तिमान से वही अविनाभाव सम्बन्ध रखती है जो कि अग्नि और दाहकत्व में है। इसी को परा या परादेवी कहते हैं जो पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूप में विभक्त होती है। परा के इन तीनों भेदों को ही क्रमशः इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति भी कहते[23] हैं। महार्थमञ्जरीकार ने पराशक्ति को सूक्ष्मा, क्रिया शक्ति पश्यन्ती, ज्ञानशक्ति को मध्यमा और इच्छाशक्ति को वैखरी वाक् कहा है। स्फोटवाद के अनुसार आत्मा स्फोट वाच्य है और उसकी वाचक शक्ति को नाद या प्राकृत ध्वनि कहते हैं जो नाना रूप धारण करके व्याकृत ध्वनि कहलाती है। यथार्थतः बहुत्व और विकार तो व्याकृता ध्वनि में ही हैं न कि स्फोटात्मा में। आत्मा पहले नाद या प्राकृता ध्वनि के रूप में व्यक्त होता है (वा.प. 1.2.30 - 31, 1.79) फिर वही शक्ति बुद्धि तथा प्राणादि के सहारे नाना रूप धारण कर लेती है (वा.प. 1.77) वस्तुतः ये विकार नाद या ध्वनि में होते हैं परन्तु फिर भी निर्विकार आत्मा में इनकी प्रतीति होती है (वा. प. 148.49)। स्फोटात्मा को प्रणव या

ओम् भी कहा जाता है जो कि सूत संहिता के अनुसार द्विधा[24] है - पर या ब्रह्म रूप और अपर या शब्द रूप । भागवत् पुराण भी इसी परब्रह्म ओंकार का उल्लेख करता है जो शक्ति (नाद) उत्पन्न होने पर अपर प्रणव (ओंकार) के रूप में त्रिवृत ओंकार का रूप धारण करता है ।

अर्द्ध व्यक्तावस्था में यही वेद में अदिति, वाक्, सत्या, उषा, प्रमति, धी मधुला, सरस्वती कहा गया है तो अव्यक्तावस्था में स्वस्ति । स्वस्तिमान होना हमारे जीवन का लक्ष्य है जिसे ऋ.1.90.5 में कर्ता न: स्वस्तिमत कहकर प्रकट किया गया है । सु तथा अस्ति के योग से बने इस शब्द की व्याख्या करते हुए 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' नामक ग्रन्थ के विद्वान्[25] लेखक ने लिखा है कि, "सु का अर्थ है सुन्दर और अस्ति सत्ता का द्योतक है । स्वस्ति का अर्थ है सत्य सुन्दर या सुन्दर सत्य । सामान्यत: अस्ति का प्रयोग वर्त्तमान सत्ता के लिए किया जाता है । परन्तु जो वर्तमान है (अस्ति) वह अतीत में थी (आसीत्) या नहीं (नासीत्) और भविष्य में होगी (भविष्यति) या नहीं । अत: अस्ति को केवल खण्ड सत्य कह सकते हैं ।"

अस्ति नामक खण्ड सत्य के साथ भवति का अविनाभाव सम्बन्ध है । अस्ति और भवति से परे जो है वही स्वस्ति है और वही अखण्ड सत्य है जो एक सत् के नाम से जाना जाता है । खण्डश: इसी के अनेक नाम हैं (ऋ. 1.164.46) । वह भूत भविष्यत् एवं वर्तमान की खण्ड परिधियों से परे होने के कारण मन द्वारा भी अप्राप्य है (ऋ. 1.170.1) । अपने अखण्डित एवं अव्यक्त रूप में वह उत्तम ज्योति देव[26] है जिस तक हम एक अन्य उत्तर ज्योति को देखते हुए पहुँचते हैं । यही मनुष्य व्यक्तित्व का सूक्ष्मतम स्तर है जिसे सविता का श्रेष्ठ वरेण्य भाग (10.35.7) भी कहा जाता है । इसे उपनिषद् में आनन्दमय तथा वेद में हिरण्यपुरुष कहा गया है । इसे ही उत्तम अमृतत्वम् (ऋ. 1.31.7.) महत नाम गुह्यं (ऋ. 10.55.1.), देवत्वं नाम तथा महदक्षरम् (3.55.1.) आदि नपुंसकलिङ्गीय संज्ञाएँ दी गई हैं । स्वस्ति के लिए ऋ. 10.63.10. में जिस सुत्रामा पृथिवी अनेहस द्यु सुशर्मा अदिति, सुप्रणीति, सुअरित्रा, अनागस, अस्रवन्ती जिस दैवी नाव पर आरोहण करने की कामना की गई है[27] वह वाक् का पथ्या रूप है । अखण्ड सत्य की प्रथम अभिव्यक्ति विज्ञानमय में होती है किन्तु यह इतनी सूक्ष्म है कि अखण्डिता सी ही प्रतीत होती है । अखण्डिता सी कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ इसकी द्विविध[28] अभिव्यक्ति होती है जो एक रूप में अव्यक्त (गुह्य अथवा सध्रीचीना) दूसरे रूप में व्यक्त (आवि: अथवा विषूची) कही गई है । अन्यत्र इसी अवस्था को मनुष्य का द्विपद जन्म कहा गया है; साथ ही यह जब विज्ञानमय कोश से निकल कर मनोमय, प्राणमय अन्नमय में आविर्भूत होती है तो इस को चतुष्पद जन्म[29] कहा जाता है ।

इन चार पदों में व्यक्त होने वाली वाक् को मानुषी ज्ञानेन्द्रियों में निवास करने वाली पञ्चविध शक्तियों का बोध कराने वाली 'पथ्या उषा'[30] कहा गया है । यह दैवी त्रिलोकी में उत्पन्न होने के कारण दिविजा[31] है और ऋत् द्वारा आविष्कृत होती हुई हमारे अङ्गों की विभिन्न शक्तियों में श्रेष्ठ होने से 'अङ्गिरस्तमा पथ्या' कहलाती है । पथि साधु: इति पथ्या इस निर्वचन के अनुसार ब्रह्म प्राप्ति

के मार्ग में जो वाक् शक्ति साधकतम सिद्ध होती है उसे पथ्या कहा जाता है। ऋत की पथ्या हमारे अतिमानसिक विश्व की वस्तु है जिसमें अन्ततः जीवात्मा रूपी इन्द्र प्रज्ञानपूर्वक प्रवेश कर सकता है। परन्तु इससे पूर्व स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर के स्तरपर हमारे सप्तविध प्राण (जिन्हें वेद में सप्तविप्राः कहा जाता है) अपना-अपना कार्य करते हैं:—स्थूल स्तर पर वे अन्धकार में छिपी हुई शक्ति को प्राप्त करने के लिए अन्धकार के परदे का भेदन करते हैं। सूक्ष्म स्तर पर वे मन की सहायता से उसे बाहर निकालते हैं और अन्ततोगत्वा अतिमानसिक कारण जगत् में स्थित इस 'ऋतस्य-पथ्या' को प्राप्त करते हैं —

वीळौ सतीरमि धीरा अतृन्दन्प्राचारिन्वन्मनसा सप्तविप्राः।
विश्वामविन्दन्पथ्यामृतस्य प्रजाननित्ता नमसा विवेश॥ (ऋ 3.31.5.)

इससे स्पष्ट है कि वाक् के पथ्या होने में ऋत् का विशिष्ट योगदान है। ऋत् से ही हमारी धीति पथ्या बनती है और हमारे कर्म उसका अनुसरण करते हुए ओंकार को प्राप्त करते हैं।[32] इसी दृष्टि से ऋत शब्द को सायणादि भाष्यकारों ने यज्ञ का वाचक माना है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'[33] के अनुसार ऋत सम्पन्न श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ रूपता को धारण करता है। अहंकार रूपी वृत्र के प्रभाव में आकर जीव नाना प्रकार के दुरितों में उलझ जाता है जिसके कारण वह अपनी पथ्यास्वस्ति को खो बैठता है। अतः उसे पुनः प्राप्त करना ही वैदिक साधना का चरम लक्ष्य माना गया है —

पुनः नौ असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौदेवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः॥ ऋ 10.59.7.

यह मन्त्र पथ्यास्वस्ति के विवेचन में बहुत सहायक है; प्रथम तो यहाँ पूषा से प्रार्थना की गई है कि वह स्वस्ति कही जाने वाली पथ्या को प्रदान करे यही पथ्या अन्यत्र[34] पूषा की पत्नी कही गई है। दूसरे, यहाँ पथ्यास्वस्ति की प्राप्ति से पूर्व स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्ष कहकर तीनों स्तरों पर ज्ञानाग्नि की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है, साथ ही इन तीनों स्तरों पर दिव्य तनु प्रदान करने के लिए सोम से याचना की है। इसी मन्त्र का ही नहीं, अपितु इसके सम्पूर्ण सूक्त का यही विषय है। इस सूक्त के प्रथम चार मन्त्रों में 'परातरं सु निर्ऋतिः जिहीताम्' की आवृत्ति द्वारा जहाँ पाप देवता निर्ऋति से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे सु को मुक्त कर दे वहीं, अगले कुछ मन्त्रों में, असुनीति से अनुरोध किया है कि वह हमें सूर्य के संदृक् में स्थापित करे जिससे, हम उदय होते हुए सूर्य को सदा देख सकें और स्वस्ति को प्राप्त कर सकें —

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृकया नः स्वस्ति॥ (ऋ 10.59.6)

जब ब्राह्मण ग्रन्थ[35] वाग्वै पथ्यास्वस्तिः की घोषणा करते हैं तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रत्येक प्रकार की वाक् या अभिव्यक्ति पथ्यास्वस्ति कही जा सकती है अपितु, जो वाक् स्थूल, सूक्ष्म और कारण स्तरों पर उत्तरोत्तर ऋत सम्पन्न होती हुई अन्ततोगत्वा भवति और अस्ति के परे पहुँच जाती है वही पथ्यास्वस्ति कहलाती है - वाक् हि एषा पथ्यास्वस्ति निदानेन कहकर श ब्रा. इसी ओर संकेत करता है । ऋत के मार्ग पर उत्तरोतर अग्रसर होती हुई वाक् वस्तुतः उस उदीची दिशा का ज्ञान प्रदान कर सकती है जो ब्रह्मानन्द रूपी सोम की दिशा[36] कही जाती है (सा पथ्यास्वस्तिः उदीचि दिशं प्राजानात् । कौ. 7.6) । अतः हमें अपनी वाक् को ऋत सम्पन्न बनाना है, चाहे वह कर्मेन्द्रियों के स्तर पर हमारे आचरण में प्रकट हो अथवा मानसिक स्तर पर भावनाओं में ।

सन्दर्भ

1. वेदसविता (जु. 1987) पृ.404.
2. पथ्यास्वस्ति पृ30
3. प्राण एव इन्द्रः । श.12.9.1.14
4. 'तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति' श.11.1.6.18.
5. दृ. 'ढाई अक्षर वेद के' ले. डा. फतहसिंह
6. चतुर्विधाहारमयं शरीरम् ग.उ.1.1.
7. आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु । क.उ.1.3.3.
8. वाग्वास्य स्वो महिमा (श2.2.4.4.)
9. प्राणा वै रुद्रा प्राणा हीदं सर्व रोदयन्ति (जै.उ.4.2.6)
10. प्राणा वै वसवः (तै.3.2.3.3.)
11. प्राणा वा आदित्याः (जै.उ 4.2.1.9)
12. प्राणा वै विश्वेदेवाः यजु.38.15 श.14.2.37.
13. प्राणा हीदं सर्वमाददते (जै.3.4.2.1.9)
14. अष्टौ पुत्रासः अदितेः (ऋ 10.72.8)
15. 'इन्द्र, धाता, पर्जन्य, त्वष्टा, पूषा, अर्यमा, भग, विवस्वा न विष्णु, अंश, वरुण और मित्र' ब्र.पु.
16. ऋ.10.8.10; 1.164.39
17. वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः क्षीयते (ऐ.5.16.) ऋ4.58.1.
18. तथापीयमिन्द्रेण प्राणेनाधिष्ठितत्वात् तेनैकीभावादैन्द्रो भवति । स चायमिन्द्रः प्राणो द्विविधः (प.स. पृ62)
19. परा,पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी (पथ्यास्वस्ति पृ.32)
20. इयं सा प्राणनाशक्तिरान्तरोद्योग दोहता । स्पन्द स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवोहतप्रतिभायता (तं.6.13)
21. देवतेऽपरं ज्योतिरेक एव परः पुमान् । स एव बहुधा लोके माययाभिद्यते स्वया ॥
22. सर्वभावात्मिका लक्ष्मीरहंता पारमात्मिका तद्धर्मधर्मिणी देवी भूत्वा सर्वमिदं जगत् ॥
23. वाक्य प.71-73,
24. परः परतरं ब्रह्म ज्ञानानन्दादिलक्षणम् । प्रकर्षेण प्रणवः यस्मात् परं ब्रह्म स्वभावतः ।
    अपरः प्रणवः साक्षाच्छब्दस्य सुनिर्मलः । प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात् प्रणवः स्मृता ॥